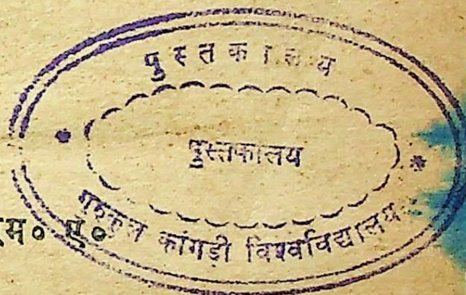
पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या .... आगत संख्या.........

पुस्तक वितरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३० वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

हिन्दी काव्य-विमर्श



लेखक
श्री गुलाबराय, एम० ए०

प्रकाशक—
प्रतिभा-प्रकाशन-मन्दिर-दिल्ली
के अर्थ
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

प्रकाशक—
श्री चिरंजीलाल, एकाकी, बी० ए०,
प्रतिभा-प्रकाशन-मन्दिर।
२०६, हैदर-कुली,
दिल्ली।

मूल्य ३।)

प्रथमावृत्ति
१०००
सं० २००५

मुद्रक—
साहित्य प्रेस,
आगरा।

आत्म-निवेदन

कवि की भाँति आलोचक भी अपने हृदय के रसको अपने तक ही सीमित नहीं रखना चाहता है। वह अपने आस्वाद-सुख में अपने पाठकों को भी साझीदार बनाने के लिए उत्सुक रहता है। इसको आलोचक की उदारता कहना तो शब्द का दुरुपयोग होगा क्योंकि पहले तो वचने किं दरिद्रता और दूसरे जब लिखित वचन अर्थ और यश दोनों का (आज-कल कुछ क्रम-विपर्यय हो गया है, यशसे से पहले अर्थकृते आता है) सम्पादन हो जाता है, फिर उदारता कैसी ? हाँ ! आत्माभिव्यक्ति की अदम्य आवश्यकता जिसको गोस्वामीजी ने स्वान्तः सुखाय कहा है अवश्य एक उच्चतर कारण हो सकता है। यह प्रवृति मुझ में भी थोड़ी-बहुत मात्रा में है किन्तु इसके वश मैंने बहुत ऊँची उड़ान नहीं ली है। उतनी शक्ति और योग्यता भी नहीं है। 'स्वान्तः सुखाय' के साथ 'वालानां बोधाय' का हर जगह ध्यान रक्खा है इस में क्वचिदन्यतोऽपि क्या अधिकांशतः अन्यतोऽपि है किन्तु थोड़ा-बहुत अपना भी है। 'पराया माल अपना' बनाने-वालों की भाँति अयं निजः परोवेति की लघुचेतसां गणना को छोड़कर सारी सामग्री को सुपाच्य बनाकर मैं अपने विद्यार्थी पाठकों की भेंट करता हूँ।

वसन्त पञ्चमी
२००५

17/8/58

गुलाबराय

अनुक्रम

हिन्दी-काव्य-विमर्श

वीर-कवि-चन्द बरदाई

वीर गाथा काल—अपभ्रंश काल के अन्त में जब हिन्दी का जन्म हो रहा था उस समय देश की राजनीतिक स्थिति में भी एक विशेष परिवर्तन आ चला था। हर्षवर्धन की मृत्यु (संवत् ७०४) के साथ गुप्त साम्राज्य का अन्त हो चुका था। उस समय भी कन्नौज, दिल्ली अजमेर, अन्हलवाड़ा (गुजरात) आदि पश्चिमी प्रदेशों में हिन्दुत्व के गढ़ प्रतिष्ठित तो थे किन्तु देश में एकसूत्रता के अभाव के कारण गहरवार चौहान, चंदेल, परिहार, सोलंकी आदि राजपूत राजाओं की प्रतिद्वन्द्विता बढ़ चली थी। वे एक दूसरे की अभिवृद्धि नहीं देख सकते थे। इसी संगठन के अभावके कारण मुसलमानों के आक्रमण और भी जोर पकड़ने लगे थे। फिर भी राजालोग अपने पारस्परिक द्वेष के शमन करने में असमर्थ रहे। युद्ध करना ही क्षात्र धर्म और मोक्ष का चरम साधन समझा जाता था। वे इस बात का ख्याल नहीं करते थे कि युद्ध किस के विरुद्ध हो रहा है और उससे देश की संगठित शक्ति और बल का कितना ह्रास होगा। वे अपनी वैयक्तिक आन-बान-शान के सामने जातीय बल की

परवाह नहीं करते थे। जरा-जरा सी बात पर लड़ाई मोल ले लेते थे। पृथ्वीराज की लड़की बेला का ब्याह कौन करे, इस पर ही लड़ाई हो पड़ी थी। युद्ध ही वैवाहिक सम्बन्धों का उपोद्घात और उपसंहार होता था। कविगण भी अपने आश्रय दाताओं का गुण-गान करना तथा उनके युद्धों को प्रोत्साहन देना कवि-कर्म की इतिकर्तव्यता समझते थे। वे जिस का खाते उनका ही गाते थे। वीर-गाथा काल में दिल्ली और कन्नौज के राजपरिवार कवियों की प्रतिभा जाग्रत करने के विशेष विषय बने।

ऐसी स्थिति में जो साहित्य रचा गया उसमें युद्ध की झंकार सुनाई पड़ना स्वाभाविक ही थी। साहित्य तत्कालीन समाज का प्रतिबिम्ब होता ही है। उस समय साहित्य में वीर रस की छाप और प्रसङ्गवश शृङ्गार का भी पुट रहता था क्यों कि कलह के कारणों में ('जर, जमीन, जन') उन दिनों जन अर्थात् स्त्री का प्रमुख स्थान था। स्त्री कविता का वर्ण्य रागात्मक सम्बन्ध को जाग्रत करने में एक विशेष उद्दीपन का काम करती है। गोरी के आक्रमण का कारण भी एक स्त्री (चित्र-रेखा) ही थी जिसके (पठान) पति ने गोरी से भाग कर पृथ्वीराज के यहाँ शरण ली थी। स्त्रियों के सम्बन्ध से प्रसङ्ग वश शृङ्गारिक वर्णन आ जाते थे। स्त्री के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने के लिए उसके सौन्दर्य और नख-शिख का वर्णन भी होता था। शृङ्गार वीर रस का अङ्ग बनकर आता था। संक्षेप में हम कह सकते हैं वीर-गाथा काल के काव्यों में वीर रस का प्राधान्य रहता था और प्रासङ्गिक रूप से शृङ्गार का भी पुट रहता था। ये ग्रन्थ प्रायः ओजगुण प्रधान राजपूताना की डिङ्गल भाषा में लिखे जाते थे। इन में मुक्तक जैसे खुमान

रासो और प्रबन्ध काव्य जैसे पृथ्वीराज रासो दोनों प्रकार के काव्य पाये जाते हैं।

चन्द का जीवन-वृत्त—जनश्रुति के अनुसार पृथ्वीराज और चन्द का जन्म और मरण एक साथ हुआ। पृथ्वीराज का जन्म संवत १२०५ में माना जाता है। यही चन्द बरदाई का जन्म-संवत् कहा जा सकता है। हिन्दी साहित्य का फ्रांसीसी इतिहासकार गार्सां द तासी भी इसी संवत् को मानता है किन्तु मिश्रबन्धुओं का कथन है कि चन्द पृथ्वीराज से कुछ बड़े थे और इसीलिए उनकी सलाह का अधिक मान था और दूसरी बात यह है कि पृथ्वीराज की बहन पृथा कुंअर के विवाह के समय तक चन्द का पुत्र इतना गुणी और प्रख्यात हो चुका था कि रावल समरसिंह ने हठपूर्वक उसे दहेज में मांगा था। उस समय चन्द के लड़के की उमर २५ के लगभग होगी पृथा बाई चन्द के लड़के का बड़ा आदर करती थीं। उसका उल्लेख रासो में इस प्रकार आया है। 'चन्द सुतन कवि जल्ह असुर सुर मन मोहै'। इस आधार पर मिश्रबन्धु चन्द और पृथ्वीराज की आयु में प्रायः २३ वर्ष का अन्तर मानते हैं। इस हिसाब चन्द की जन्म तिथि ११८३ के आस-पास बैठती है।

चन्द का जन्म लाहौर में हुआ था। पीछे से यह अजमेर और फिर दिल्ली रहने लगे थे। इनके पिता वेण जगात गोत्र के ब्रह्मभट्ट थे। साहित्य लहरी के अनुसार सूरदासजी भी इन्हीं के वंशज थे।

चन्द पृथ्वीराज के राजकवि ही नहीं थे वरन् उनके सखा और सामन्त भी थे। पृथ्वीराज ने नागौर बसाया था। वहीं चन्द को उन्होंने बहुत सी भूमि दी और वहीं उनके वंशज अब भी रहते हैं। चन्द जैसे कलम के शूर थे वैसे ही वे रण में तलवार के भी

शूर थे, किन्तु वे हमेशा युद्ध के पक्ष में नहीं रहा करते थे। रेवा तट समय में उन्हीं ने युद्ध के विरुद्ध सलाह दी थी।

देखिए:—

> रे गुज्जर गँवार! राज लै मन्त न होई।
> अप मर छिज्जै नृपति कौन कारज यह जोई॥

राज दरबार में चन्द का बड़ा मान था। एक बार वे तीर्थ यात्रा के लिए द्वारिकापुरी गये थे, और जब वे चितौड़ होकर निकले तब पृथ्वीराज की बहन पृथा कुंअर इनके डेरे पर बहन के नाते मिलने आई।

जब शहाबद्दीन गोरी पृथ्वीराज को कैद कर के ले गये थे और वहाँ उनकी आँखे निकलवालीं थीं चन्द भी साधू का भेष रख कर गजनी पहुँच गये थे। गजनी जाते समय बाण भट्ट की भाँति वे अपना अधूरा ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो जल्हन को पूरा करने के लिए सौंप गये थे। उसका उल्लेख रासो में इस प्रकार है:—

> 'पुस्तक जल्हन हत्थ दे चलि गज्जन नृप काज'

जब एक बार गजनी के दरबार में खेल-तमाशे हो रहे थे चन्द ने गोरी से पृथ्वीराज के शब्द-भेदी बाण चलाने की तारीफ की (वे अन्धे तो हो ही चुके थे) फलतः बाण चलाने का हुकुम हुआ। चन्द के इशारे पर पृथ्वीराज ने गोरी के बाण मार दिया और उसी समय चन्द ने अपने चूड़े से कटार निकाल कर पृथ्वीराज को दे दिया। पृथ्वीराज ने आत्म-हत्या कर ली। तदुपरान्त चन्द ने भी आत्म-हत्या करली। इस प्रकार संवत् १२४६ में महाकवि का स्वामि-भक्ति के निर्वाह में अन्त हुआ।

रासो शब्द का अर्थ—गार्सां द तासी ने रासो शब्द की व्युत्पत्ति राजसूय से मानी है। एकाद प्रति में पृथ्वीराज

रासो का नाम पृथ्वीराज राजसू दिया गया है। कुछ विद्वान इसकी उत्पत्ति रहस्य से मानते हैं। आचार्य शुक्लजी के मत से इसकी उत्पत्ति रसायण शब्द से है। इस कथन की सार्थकता बीसलदेव रासो के रचयिता नरपति नाल्ह की निम्नोलिखित उक्ति से मिलती है।

नाल्ह रसायण आरंभई सारदी तूठी ब्रह्म कुमारि।

रासो की महत्ता—एनल्स एण्ड एन्टीक्विटीज आफ राजस्थान के लेखक कर्नल टाड ने अपनी पुस्तक में इस ग्रन्थ को विशेष महत्व दिया है। टाड की कृपा से तो रासो की कुछ दिनों ऐसी तूती बोली कि सारे इतिहासज्ञों पर इसका आतङ्क जम गया और वह राजपूत इतिहास का मूलाधार समझा जाने लगा। टॉड साहब लिखते हैं:—

The wars of Prithi Raj, his numerous and powerful tributeries, their abode and pedigrees make the work of Chand invaluable as historic and geographical memoranda, besides being treasures in mythology, manners and the annals of the mind—Annals and Antiquities of Rajsthan.

अर्थात् पृथ्वीराज के युद्धों और अनेकों शक्तिशाली सामन्तों के निवास-स्थान और वंशावलियों के वर्णन के कारण चन्द्र का ग्रन्थ एक असूल्य ऐतिहासिक और भौगोलिक सारिणी का रूप धारण कर लेता है। इसके अतिरिक्त उसमें धार्मिक कथाओं; रीति-रिवाजों और मानसिक-विकास के इतिहास का खजाना है।

सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी इसके भाषा तथा काव्य सम्बन्धी महत्व पर बड़ा जोर दिया है। उसको वे अन्तिम प्राकृतों

और पूर्वी गौडीय लेखकों के बीच की खाई का एक मात्र सेतु कहते हैं:—

'It is the however of the greatest value to the student of philology for atpresent it is the only stepping stone available to European scholars in the chasm between the latest Prakrits and the eastern Gaudian authors'. फरांसीसी विद्वान गार्सी द तासी ने भी चन्द को प्रसिद्ध इतिहास लेखक कहा है। रावर्ट लिंज नाम के एक रूसी विद्वान ने सन् १८३६ में सेन्ट पीटर्स बर्ग में इसके एक अंश का अनुवाद किया था। कर्नल टाड ने इसके बहुत से अंश का अनुवाद किया है। ग्रियर्सन ने लिखा है कि इसके कुछ-कुछ अंशों का सम्पादन डाक्टर बीम्स और डाक्टर हार्नले ने किया। बङ्गाल की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ने इसे ऐतिहासिक समझ कर इसके सम्पादन और प्रकाशन का आयोजन किया था और इसका थोड़ा-थोड़ा अंश उसके मुख-पत्र में निकलने लगा था। यदि उसकी प्रामाणिकता में सन्देह न हो जाता तो शायद यह कार्य चलता रहता और पूरे रासो का अच्छा संस्करण हो जाता।

रासो की प्रामाणिकता

सन्देह और विरोध—रासो के जाली होने के सम्बन्ध में सबसे पहली आवाज उदयपुर के कविराजा श्यामलदान और जोधपुर के कविराजा मुरारिदान ने उठाई थी; लेकिन वह उसके विदेशी प्रशंसकों के नक्कारखाने में तूती की आवाज की तरह विलीन होगई। जब तक टाडोवाच का खण्डन बूलरोवाच से न हुआ तब तक उसकी प्रामाणिकता में सन्देह की चर्चा आगे न बढ़ सकी। डाक्टर बूलर महोदय (Dr. Buh-

lar) ने सन् १८९३ की अप्रेल में एशियाटिक सोसाइटी को लिखे हुए अपने पत्र में बतलाया था कि सन् १२७५ में उनके द्वारा काश्मीर से प्राप्त की हुई जयानक कवि की पृथ्वीराज विजय नाम की भोज पत्र पर लिखी हुई पुस्तक का पूरा अध्ययन हो गया है और वह पुस्तक निश्चय रूप से प्रामाणिक है। (ओझाजी ने अपने लेख में इस पत्र का अनुवाद दिया है) इसमें दी हुई चौहानों की वंशावली रासो में दी हुई वंशावली से भिन्न है किन्तु वह वि० सं० १०३० और १२२५ के शिलालेखों के अनुकूल है। इसलिए वे (बूलर) अपना मत उन लोगों के पक्ष में देंगे जो उसको जाली समझते है।

कविराजा श्यामलदान को अपने मत का एक प्रबल पक्षानुमोदक मिल गया। उन्होंने अपने मत को सविस्तार प्रकाश में लाने के लिये 'पृथ्वीराज रहस्य की नवीनता' नाम की एक छोटी सी पुस्तक लिखी। इसके उत्तर में पंडित विष्णुलाल पंड्या ने 'रासो की प्रथम संरक्षा' नाम की पुस्तक लिखी जिस में उन्होंने विक्रम संवत् से ९० या ९१ वर्ष पीछे चलने वाले एक अन्य संवत् की कल्पना कर रासो की तिथियों को प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया। मिश्र-बन्धुओं ने भी अपने नवरत्न में रासो का पक्ष-समर्थन किया। इस प्रकार वाद-विवाद चलता रहा और फिर प्रसिद्ध इतिहास वेत्ता महामहोपाध्याय रायबहादुर डाक्टर गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा ने अपनी युक्ति और तर्क के प्रबल प्रहारों द्वारा इसके ऊपर आक्रमण किया। ओझा जी की युक्तियों का सार देने से पूर्व पण्ड्याजी द्वारा प्रतिप्रादित अनन्द संवत के सम्बन्ध में दो शब्द कह देना आवश्यक है!

अनन्द संवत्—पृथ्वीराज रासो की तिथियाँ प्रायः इतिहास से नहीं मिलतीं। इस बात को उसके परम प्रशंसक कर्नल टॉड ने

भी स्वीकार किया है और उसमें १०० वर्ष जोड़ कर ठीक करने का प्रयत्न किया है किन्तु फिर भी उसमें अन्तर रहा। १०० वर्ष के जोड़ने से पृथ्वीराज की मृत्यु की तिथि ठीक नहीं बैठती। १११५ जन्म तिथि + ४३ जीवन काल + १०० = १२५८ निकलता है। किन्तु वास्तविक तिथि है १२४९-९० वर्ष का अन्तर पड़ता है। इसलिए १०० के स्थान में ९० या ९१ जोड़ना चाहिए। इस अन्तर को ठीक करने का सूत्र पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या को 'साक अनन्द' शब्दों से नीचे के दोहों में मिल जाती है। इसी के आधार पर उन्होंने अनन्द संवत् की कल्पना की। इस कल्पना से कम से कम कुछ तिथियों का अन्तर ठीक बैठ जाता है। नीचे का दोहा पृथ्वीराज की जन्म तिथि के सम्बन्ध में है।

एकादस सै पंच दह, विक्रम साक अनन्द।
तिहि रिपु जयपुर हरन को, भवे पृथिराज नरिंद॥

इस दोहे में अनन्द का अर्थ लगाया गया है ९०। वह इस प्रकार से होता है अ = ० नन्द = ९ नन्द नौ हुए हैं। यह भी कहा जाता है नन्दों ने ९० वर्ष राज्य किया था वे लोग शूद्र थे। उनके राज्य काल को गणना रखना क्षत्रिय गौरव के विरुद्ध था। इसलिए अनन्द संवत् में ९० वर्ष घटा दिये थे। इस दोहे में दिये हुए संवत् में ९० जोड़ देने १२०५ संवत् आ जाता है जिसको पण्ड्या जी इतिहास सम्मत मानते हैं अनन्द का अर्थ ९ रहित सौ अर्थात् ९१ भी लगाया गया है। इसी प्रकार पृथ्वीराज के गोद लिए जाने, कन्नोज जाने तथा अन्तिम युद्ध के क्रमशः ११२२, ११५१ और ११५८ दिये हैं और ये संवत् अनन्द संवत् मान लेने से अर्थात् ९० जोड़ देने से इतिहास के संवतों से मेल खाते हैं। पण्ड्या जी ने चित्तौर नरेश समरसिंह और उनकी महारानी पृथा के पट्टे परवानों का उल्लेख कियाहै।

उनमें भी अनन्द संवत के अनुकूल घटनाओं का समय दिया गया है। उन्होने यह भी बतलाया है कि बप्पा रावल के समय में भी इसी संवत् का प्रयोग होता था। किन्तु इन पट्टे-परवानों के प्रामाणिक होने में सन्देह किया गया है और ओझा जी ने ऐसी तिथियाँ भी बतलाई हैं जिनमें अनंद संवत् की कल्पना ठीक नहीं बैठती। पृथ्वीराज विजय के हिसाब से जन्म-तिथि १२०५ या १२०६ भी ठीक नही हैं। उस समय पृथ्वीराज का पिता सोमेश्वर भी बालक था। रासो के कुछ अन्य संवतों के बारे में ओझा जी ने सन्देह प्रकट किया है।

ओझाजी के तथा अन्य विद्वानों के आक्षेप—ओझाजी की उक्तियों का संक्षिप्त सार नीचे दिया जाता है।

१—पृथ्वीराज विजय में चन्दकवि का कोई उल्लेख नहीं है, उस पुस्तक के अनुसार पृथ्वीराज के राजकवि पृथ्वी भाट थे न कि चन्द। इसलिए चन्द पृथ्वीराज के समकालीन नहीं थे।

२—रासो में परिहार, चालुक्य, परमार और चौहान अग्निवंशी माने गये हैं। अन्य प्राचीन शिलालेखों, पृथ्वीराज विजय आदि ग्रन्थों में सूर्यवंशी कहा है। चालुक्य चन्द्रवंशी

"रासो में लिखा है कि पृथ्वीराज वि० सं० ११३८ में दिल्ली को गद्दी पर बैठा और उसी वर्ष उसने खाटू के जंगल से धन निकाला। समुद्र शिखर के यादव राजा विजयपाल की पुत्री पद्मावती से वि० सं० ११३९ में उसने विवाह किया, विक्रम संवत् ११४१ में दक्षिण देशीय राजाओं ने कर्नाट देश की एक सुन्दरी वेश्या पृथ्वीराज को अर्पण की। ये सारे संवत् कल्पित हैं अनंद संवत् मानने से ये संवत् क्रमशः १२२९, १२३० और १२३८ होते हैं तो भी वे निराधार ठहरते हैं, क्यों कि इस समय तक पृथ्वीराज गद्दी पर भी नहीं बैठे थे"

बतलाये गये हैं। यद्यपि आजकल यह क्षत्रिय अपने को अग्निवंशी मानते हैं तथापि सिवाय परमारों के औरों को इतिहास अग्निवंशी नहीं मानता। चौहानों की उत्पत्ति के बारे में हम्मीर महाकाव्य में लिखा गया है कि ब्रह्माजी ने अपने पक्ष की राक्षसों से रक्षा करने के लिए सूर्य का ध्यान किया। वहाँ से एक वीर पुरुष गिरा। वह चाहा हुआ था इसलिए चाहमान (चौहन) कहलाया। रासो में उनको अग्निवंशी कहा गया है।

३—पृथ्वीराज रासो में दी हुई चौहानों की वंशावली पृथ्वीराज विजय की वंशावली से नहीं मिलती है। पृथ्वीराज विजय की वंशावली बिजोलिया के तथा अन्य शिलालेखों से मेल खाती है।

४—पृथ्वीराज की माता का नाम पृथ्वीराज रासो में कमला है और पृथ्वीराज विजय में कर्पूरदेवी है। हम्मीर महाकाव्य में भी उसका नाम कर्पूरदेवी है। पृथ्वीराज विजय के हिसाब से पृथ्वीराज की माता दिल्ली के राजा अनंगपाल की पुत्री नहीं थी वरन् त्रिपुरी के हैहयवंशी राजा तेजल की पुत्री थी। ओझाजी का कहना है कि यदि पृथ्वीराज रासो उस समय लिखा गया होता तो ऐसी भूल न होती।

५—पृथ्वीराज की बहन पृथाबाई के रावल समर सिंह से विवाह होने की बात कल्पित है, क्योंकि समरसिंह बहुत पीछे हुए। उनके नाम के शिलालेखों से विदित होता है कि वे पृथ्वीराज की मृत्यु के १० वर्ष बाद तक जीवित थे। यह असम्भव है।

६—रासो के संवतों की अनैतिहासिकता जिसका दिग्दर्शन अनन्द संवत् के सम्बन्ध में कराया जा चुका है।

७—पृथ्वीराज के अन्य विवाहों की अनैतिहासिकता के साथ ओझाजी संयोगिता के स्वयंवर तथा जयचन्द

और पृथ्वीराज की शत्रुता को कपोल-कल्पित बतलाते हैं*।

८—पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन की मृत्यु का जो हाल दिया गया है वह भी ऐतिहासिक नहीं है। 'यह संपूर्ण कथन ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं है, क्योंकि शहाबुद्दीन की मृत्यु पृथ्वीराज के हाथ से विक्रम संवत् १२४६ में नहीं हुई किन्तु विक्रम सं० १२६३ में चैत्र सुदी ३ को गक्खरों के हाथ से हुई थी।'

६—भाषा की दृष्टि से भी पृथ्वीराज रासो सोलहवीं शताब्दी के पहले का नहीं। 'पृथ्वीराज रासो में प्रति सैकड़ा दस फारसी शब्द पाये जाते हैं जो उसकी प्राचीनता सिद्ध नहीं करते' इस बात पर ओझाजी के अतिरिक्त आचार्य शुक्लजी आदि भी विशेष बल देते हैं।

१०—ओझाजी के अतिरिक्त डाक्टर रामकुमार आदि ने एक यह भी आक्षेप किया है कि इसमें विनय-पत्रिका की भाँति सब देवताओं की स्तुति है। इस पर विनय-पत्रिका का प्रभाव है

---

* वे लिखते हैं—

"इसी तरह पृथ्वीराज और जयचन्द की परस्पर लड़ाई और संयोगिता स्वयंवर की कथा ऐतिहासिक नहीं है। ग्वालियर के तवर राजा वीरम के दरबार के प्रसिद्ध कवि जयचन्द ने वि० सं० १४६० के आस पास हम्मीर महाकाव्य बनाया जिसमें पृथ्वीराज का विस्तृत वर्णन दिया है और उसी की रची हुई रंभा-मंजरी नाटिका में जयचन्द को उसका नायक बनाया है—इन दोनों पुस्तकों में पृथ्वीराज और जयचन्द के पारस्परिक लड़ाई राजसूय यज्ञ और संयोगिता स्वयंवर का उल्लेख तक नहीं है। इससे स्पष्ट है कि वि० सं० १४६० तक ये कथायें प्रसिद्धि में नहीं आई थीं।"

समीक्षा

१—पृथ्वीराज विजय में चन्द का अभाव—इस सम्बन्ध में सब से पहली बात तो यह है कि पृथ्वीराज विजय अपूर्ण ग्रन्थ है। शेष ग्रन्थ में सम्भव है चन्द्र का नाम आया हो। दूसरी बात यह है कि अभावात्मक गवाही विशेष महत्व नहीं रखती। अभाव के कई कारण हो सकते हैं। (क) जयानक से चन्द की प्रतिद्वन्द्विता हो (ख) चन्द पृथ्वीराज के दरबार में पीछे से आया हो (इस सम्भावना की ओर आचार्य शुक्लजी ने भी संकेत किया है। (ग) चन्द मुख्य रूप से राजकवि न हो। वे तो सखा और सामन्त थे। वे कविता मिश्र बन्धुओं की भाँति शौकिया करते थे (इस बात की ओर मिश्र बन्धुओं ने संकेत किया है) राजकवि पृथ्वी भाट हो सकता है। जिसको राजकवि होने की सरकारी मुहर छाप मिली होती है वह हमेशा सर्वोत्तम कवि नहीं होता है। चन्द लाहोर के थे इसलिए उनको यह पद न दिया गया हो।

बिलकुल ऐसी बात भी नही है कि पृथ्वीराज विजय में चन्द के नाम का शशश्रृङ्गवत अत्यन्ताभाव हो। 'पृथ्वीराज विजय के पाँचवे सर्ग में विग्रहराज के पुत्र चन्द्रराज का वर्णन करते हुए जयानक ने उसकी अच्छे वृत्त, संग्रह करने वाले चन्द्रराज से उपमा दी है। वह श्लोक इस प्रकार से हैं।

तनयश्चन्द्रराजस्य चन्द्रराज इवाभवत्;
संग्रहं यस्सुवृत्तानां सुवृत्तानामिव व्यधात्।

इसमें वृत्त शब्द के ऊपर श्लेष है। चन्दराज राजा के पक्ष वृत्त का अर्थ चरित्र का है और चन्द्रराज कवि के सम्बन्ध में छन्द का है। ओझा जी का इस सम्बन्ध में यह कहना है कि यह वही (चन्द्रक) कवि हो सकता है; जिसका उल्लेख विक्रम

ग्यारहवी सदी के उत्तरार्द्ध में होने वाले क्षेमेन्द्र ने भी किया है। इस सम्बन्ध में मिश्र-बन्धुओं का कथन है क्षेमेन्द्र ने किसी छोटे कवि चन्द्र का उल्लेख किया है जैसा चन्द्रक शब्द से विदित होता है।

२—*अग्निवंश और सूर्यवंश*—ओझा जी का यह कथन कि अन्य शिला-लेखों में चौहानों को सूर्यवंशी कहा गया है उन शिला-लेखों के पूर्व रासो के वर्तमान न होने का यह अकाट्य प्रमाण नहीं है। यह बात आवश्यक नहीं कि रासो के मत का सब पर प्रभाव पड़े ही। कवि इतिहास से स्वतन्त्र कल्पना कर सकता है और यह कुछ दूर की भी कल्पना नहीं है। ओझा जी के संस्कृत उद्धारणों में प्रमारों के सम्बन्ध में तो अग्निकुड से उत्पत्ति स्वीकृत है ही (सम्भव है कि चन्द को चौहानों की उत्पत्ति अग्नि से अधिक गौरवपूर्ण जची हो। अग्नि शुद्धता का प्रतीक है।) चोहनों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो ओझा जी का उद्धरण है उसमें यज्ञ का अवसर तो है ही। भेद इतना ही है कि चाहमान पुरुष सूर्य से आया। इसके अतिरिक्त पंडित दशरथ शर्मा का कथन है कि उनकी लघुकाय बीकानेर की प्रति में लम्बी-चौड़ी कल्पना प्रसूत कथा का प्रभाव है। उस में चौहानों की उत्पत्ति के विषय में केवल निम्न लिखित पंक्ति है :—

ब्रह्मा न जग्ग अपन्न सूर।
मानिक राइ चौहान सूर॥

(देखिए फरवरी सन् ४६ के साहित्य संदेश में पंडित दशरथ शर्मा का पृथ्वीराज रासो शीर्षक लेख पृष्ट २७७)

वंशावलियों—नामों और संवतों की गड़बड़। यह प्रश्न इतिहास के लिए विशेष महत्व रखता है। काव्य के लिए

अपेक्षाकृत महत्व कम है फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि काव्य नामों की उपेक्षा कम करता है। सम्भव है यह वृहत्काव्य रासो के प्रक्षिप्तांशों से सम्बन्ध रखते हों। कुछ संवतों की तो अनन्द संवत की कल्पना से व्याख्या हो ही जाती है और बाकी प्रक्षिप्तांश के हो सकते हैं।

७—*संयोगिता स्वयंवर और जयचन्द से शत्रुता*—जयचन्द से शत्रुता के सम्बन्ध में उपरि निर्दिष्ट साहित्य संदेश के अंक में दशरथ शर्मा ने जो १२७० के लिखे हुए पृथ्वीराज प्रबन्ध के उद्धरण का अनुवाद दिया है वह उसकी ऐतिहासिकता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। उस में बतलाया है कि पृथ्वीराज के मरण की खुशी में जयचन्द की राजधानी में घी के दिये जले। यह बात उसके मंत्री को अच्छी न लगी। कई दिन तक वह राज दरबार में नहीं गया और जब दरबार में गया तब इस बात का विरोध किया। संयोगिता स्वयंवर की बात भी जयचन्द की शत्रुता से सम्बद्ध है। जयचन्द के राजसूय यज्ञ के दान-पत्र न मिलना या उसका कहीं उल्लेख न होना अभावात्मक तर्क हैं।

८—*शहाबुद्दीन की मृत्यु*—इस सम्बन्ध में शर्मा जी ने पृथ्वीराज प्रबन्ध से जो उद्धरण दिया है वह पृथ्वीराज के हाथ से शहाबुद्दीन की मृत्यु की बात को पुष्ट नहीं करता तो पृथ्वीराज द्वारा गोरी के सातबार पकड़े और छोड़ जाने की बात (जिसको ओझा जी इतिहास से अपुष्ट बतलाते हैं) स्पष्ट हो जाती है। मुसलमान इतिहासकारों ने जातीय गौरववश गोरी के सात बार पकड़े जाने की बात न लिखी हो। इसके अतिरिक्त उस प्रसंङ्ग में पंडित दशरथ शर्मा ने अपने साहित्य-संदेश (फरवरी १६४६) के लेख में मुनि जिन विजय द्वारा खोज किये हुए पुरातन प्रबन्ध

संग्रह से जो उद्धरण दिया है उससे स्पष्ट है कि पृथ्वीराज ने सुलतान को सातबार हराया था (१४६० में लिखे हुए हम्मीर महाकाव्य से भी इस की पुष्टि होती है) और उसमें पृथ्वीराज के बाण चलाने की भी बात है अन्तर इतना ही है कि पृथ्वीराज का बाण विफल गया। सुलतान के न लगकर उसके आकार के पुतले के लगा और सुलतान ने पृथ्वीराज को गर्त में डलवाकर डेलों से मरवा दिया। इस आधार पर चन्द और पृथ्वीराज की आत्महत्या की बात नायक के गौरवानुकूल कवि-कल्पना हो सकती है।

६—*भाषा की गवाही*—पृथ्वीराज रासो की भाषा एक सी नहीं है। उसमें सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी की भी भाषा है और प्राचीन भाषा भी है। कहीं-कहीं प्राचीनता का आभास मात्र है। यह बात ठीक है कि जैसा ओझाजी ने लिखा है इस युग में भी चन्द की सी भाषा का अनुकरण हो सकता है। वंश भास्कर इसका उदाहरण है। किन्तु अनुकरण तो सभी प्रकार की भाषाओं का हो सकता है। जैसा कि सब स्वीकार करते हैं रासो में प्रक्षिप्तांशं बहुत है। उनकी और पूर्व रासो की भाषा एक सी नहीं हो सकती है। रासो में भाषा के कई स्तर हैं। प्राचीनता और नवीनता के द्योतक दोनों ही प्रकारों के उद्धरण श्री अयोध्यासिंह उपाध्यायजी द्वारा दिये हुए उद्धरणों से दिये जाते हैं।

प्राचीनता के द्योतक उदाहरण—

उड़ि चल्यो अप्प कासी सभग्ग।
आयो सु गंग तट कज्ज जग्ग॥

× × ×

छपी सेन सुरतान, मुट्टि छुट्टिय चार्वाद्धसि ।
मनु कपाट उद्धरयो, कूह फुट्टिय दिसि विद्दसि ॥

इनमें कज्ज, जग्ग, अघ, छुट्टिय, फुट्टिय प्राचीनता के द्योतक हैं।

नवीनता के द्योतक उदाहरण—

पूरन सकल विलास रस, सरस पुत्र फल दान।
अन्त होय सह गामिनी, नेह नारि को मान ॥
समदर्शी ते निकट हैं भुगति मुकति भर पूर।
विषम दरस वा नरन ते, सदा सर्वदा दूर ॥

रासो में कहीं-कहीं अनुस्वारों का प्रयोग केवल संस्कृताभास के लिए ही किया गया है देखिए:—

विहसित वरं लगन लिन्नौ नरिंदं।
वजी द्वार द्वारं सु आनन्द द्रंद्रं ॥

× × ×

कंठ नगं नूपं अनोपं सुलालं ।
रंग पंच रंगं ठलक्केत ढालं ॥

कहीं-कहीं प्राकृत के साथ शुद्ध संस्कृत के भी शब्द आये हैं, जैसे—

मनहुँ कला ससि भान, कला सोलह सो बन्निय ।
बाल बेस ससिता समीप अम्रित रस पिन्निय ॥
विगसि कमल स्त्रिग भ्रमर बैन खंजन मृग लुट्टिय।
हीर कीर अरु विम्ब, मोति नख सिख अहि-घुट्टिय ॥

इसमें कमल, भ्रमर खञ्जन, कीर, विम्ब आदि-शब्द अपने संस्कृत तत्सम रूप में आये हैं। अपभ्रंश में ऐसा नहीं होता था। इसको हम हिन्दी के अपभ्रंश से पृथक होने का लक्षण

कह सकते हैं अथवा चंद की विशेषता कह सकते हैं। यह भी हो सकता है कि प्रति-लिपिकारों और सम्पादकों की यह करामात हो।

अरबी, फारसी के जो शब्द चंद्र की भाषा में आये हैं उनकी तो व्याख्या इससे हो सकती है कि उस समय से पूर्व मुसलमानों का आवागमन शुरू हो गया था। चंद ने स्वयं कहा है कि उसने षट भाषा का प्रयोग किया है—

'षट भाषा पुरानं च कुरानं च कथितं मया'

चन्द के रासो में गाथा छन्द का प्रयोग उसकी प्राचीनता के पक्ष में है।

भाषा के सम्बन्ध में दूसरी आपत्ति—

डाक्टर रामकुमारवर्मा ने यह भी आपत्ति उठाई है कि एक ही छन्द में शब्दों की विविध रूपावली के दर्शन होते हैं, जैसे शैल, के सैल, सयल, सइल, सेलह; पुष्कर के पहुकर पोक्खर कर्म के कम्म, क्रम्म, कम्य। यह बात रासो के प्राचीन होने में बाधा अवश्य है। कुछ शब्दों की विभिन्नता चंद के समय की भी हो सकती है और आजकल भी एक-एक शब्द कई-कई रूप से एक ही व्यक्ति द्वारा लिखा जाता है। कई व्यक्ति (जिन में मैं स्वयं भी हूँ) कभी तो अनस्वार का प्रयोग करते हैं और कभी संस्कृत कायदे से अनस्वार के स्थान में पञ्चम वर्ण से काम लेते हैं। लोग कभी तत्सम रूप लिखते हैं और कभी तद्भव रूप लिखते हैं और तद्भव के कई रूप होते हैं। कुछ प्रति-लिपिकारों की अनियमित्ता भी उत्तरदायी है।

१०—*विविध देवों की स्तुति*—इस सम्बन्ध में डाक्टर राम-कुमार वर्मा का यह कथन कि 'यदि ये स्तुतियाँ चन्द ने लिखी

होती तो इनका प्रभाव चारणकाल के अन्य कवियों पर अवश्य पड़ता......'ये स्तुतियाँ तुलसीदास की विनय-पत्रिका की शिव, सूर्य, देवी आदि स्तुतियों की शैली से बहुत मिलती हैं। सम्भव है कि सत्रहवीं शताब्दी में जब तुलसीदास की ये स्तुतियाँ बहुत लोक-प्रिय थीं, किसी कवि ने उसी प्रकार की स्तुतियाँ लिखकर सन्निविष्ट कर दी हों,' विशेष मान्य नहीं हो सकता। जब तुलसीदासजी की इस शैली का प्रभाव उनके समकालीन कवियों पर नहीं पड़ा तो चन्द के प्रभाव पड़ने की क्या विशेष सम्भावना है? यह तो वैयक्तिक रुचि की बात है। दूसरी बात अधिक सम्भव हो सकती है किन्तु इसके विपरीत बात भी असम्भव नहीं। स्वयं गोस्वामीजी ने अपने स्मार्त धर्म के निर्वाह में चन्द का अनुकरण किया हो।

इस प्रकार बहुत सी युक्तियों का उत्तर हो सकता है। यदि ये उत्तर अकाट्य नहीं हैं तो कम से कम रासो की अप्रामाणिकता में दी हुई युक्तियों में सन्देह अवश्य उत्पन्न कर देते हैं। सच्ची वैज्ञानिकता पक्ष-विपक्ष दोनों की युक्तियों के संतुलन में है। इन युक्तियों में जो विशेष महत्व रखती हैं वे ऐतिहासिक घटनाओं की हैं। उनमें से कुछ का समाधान इस बात से हो जाता है कि वे रासो के लघु-संस्करणों में (जैसे बीकानेर पुस्तकालय के) नहीं हैं, कुछ का समर्थन पुरातन प्रबन्ध संग्रह से हो जाता है। यह तो रासो के समर्थक भी मानते हैं कि उसमें बहुत से प्रक्षिप्त अंश हैं। यदि नानूराम की प्रति प्रामाणिक मानी जाय तो वह १४५५ की है, नहीं तो और प्रतियाँ १६४० से पहले की नहीं है। रासो का प्रामाणिक उल्लेख महाराणा राजसिंह द्वारा निर्मित राजसमुद्र तालाब के नौचौकी बांध के १७३२ के शिलाङ्कित काव्य में है—

'भाषा रासा पुस्तकेस्य युद्धस्योक्तोस्ति विस्तर:'।

रासो के तेरहवीं शती के होने के लिए प्रमाणों का अभाव है, किन्तु मुनि जिन विजयजी ने जिन चार छन्दों का उल्लेख किया है उनसे महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। उन्हें अपभ्रंश के प्राचीन प्रबन्धों में तीन ऐसे छन्द मिले हैं जिनका रूपान्तर नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित रासो में मिलता है। ये छन्द इस बात को प्रमाणित करते हैं कि रासो का कोई लघुरूप या तो अपभ्रंश में या उसकी निकटवर्तिनी हिन्दी में वर्तमान था। इन प्राचीन प्रबन्धों में एक पृथ्वीराज प्रबन्ध भी है जो संवत १२७० का माना जाता है। उन छन्दों में से एक का अपभ्रंश रूप और उसी का रासो में प्राप्त रूप दिया जाता है।

(३) मूल

त्रिरिगहि लक्ख तुषार सबल पाषरिअइँ जसु हय,
चऊदसय मयमत्त दंति गज्जंति महामय,
वीस लक्ख पायक्क सफर फारक्क धणुद्धर,
ल्हूसडु अरु बलु यान सँख कु जाणइ तांह पर।
छत्तीस लक्ख नराहिवइ विहि विनिडिओ हो किम भयउ,
जइचंद न जाणउ जल्हूकइ गयउ कि मूउ कि धरि गयउ॥
—पृष्ठ ८८, पद्यांक २८७।

रूपांतर

असिय लष्ष तोषार सजउ पष्षर सायद्दल।
सहस हस्ति चवसट्ठि गरुअ गज्जंत महाबल॥
पंच कोटि पाइक्क सुफर पारक्क धनुद्धर।
जुध जुधान बार बीर तोन बंधन सद्धन भर॥
छत्तीस सहस रन नाइबौ विही क्रिम्मान ऐसो कियौ।
जै चन्द राइ कवि चंद कहि उदधि बुड्डि कै धर लियौ॥
—रासो, पृष्ठ २५०२, पद्म २१६।

अब प्रश्न यह है कि कौन किसका रूपान्तर है। मुनि जिन विजयजी की खोजों ने यह अवश्य प्रमाणित कर दिया है कि रासो नहीं तो उस का मूल आधार अवश्य १२०० के करीब वर्तमान था और रासो में वर्णित कुछ घटनाओं की भी तत्कालीन साहित्य से पुष्टि होती है। श्री रामनारायणजी दूगड़ की यह खोज कि चन्द के छन्द बिखरे पड़े थे, और 'अमरसिंह' के राज्य में उनका संग्रह हुआ, इस धारणा के विरुद्ध नहीं पड़ता है। दूगड़जी ने अपने पृथ्वीराज चरित की भूमिका में बतलाया है कि उनको उदयपुर राज्य के विक्टोरिया हाल के पुस्तकालय में रासो की एक पुस्तक मिली थी उसके अन्त में एक छन्द में लिखा है कि चन्द के छन्द स्थान-स्थान पर बिखरे पड़े थे। उनको अमरसिंहजी ने एकत्रित कराया।

काव्य-सौष्ठव—यद्यपि यह कहना कठिन है कि रासो का कितना अंश चन्द कृत है और कितना प्रक्षिप्त है तथापि जहाँ तक काव्य-कौशल का प्रश्न है हम को काव्य का वर्तमान रूप लेना ही ठीक होगा। वास्तव में रासो की ऐतिहासिकता के ऊपर जितना विचार हुआ है उतना उसके काव्य सौष्ठव पर नहीं हुआ। इसमें भाषा सम्बन्धी कठिनाई भी बाधक होती है।

रासो के महाकाव्यत्व पर हम विचार कर चुके हैं। जहाँ तक प्राकृतिक दृश्यों आदि महाकाव्य के विषयों का सम्बन्ध है तथा भावों की उदात्तता और रस-परिपाक का प्रश्न है रासो महाकाव्य के लक्षणों की पूर्ति करता है। उसका कथानक इतना सम्बद्ध नही है जितना कि होना चाहिए। इसके लिए प्रक्षिप्तांश भी उत्तरदायी है। इसकी घटनाएँ चाहे एक दूसरे से न निकलती हों किन्तु वे पृथ्वीराज के व्यक्तित्व से सम्बद्ध है। इसी में

उनकी अन्विति है। इसमें यद्यपि पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विताओं का वर्णन है तथापि हिन्दू-मुसलिम संघर्ष व्यापक रूप से वर्तमान है और विभिन्न युद्ध एक ही महायुद्ध के अङ्ग है। इसका परिणाम हिन्दू राजपूत शक्ति का ह्रास और पतन है। यद्यपि इसकी प्रबन्धात्मकता में कुछ बाधाएँ अवश्य है जिनके कारण यह राम-चरित मानस या पद्मावत की कोटि में नहीं रक्खा जा सकता फिर भी इसको महाकाव्य कहना अनुचित न होगा।

रस—रासो का प्रधान रस है वीररस। शृङ्गार उसका अङ्ग होकर आया है क्योंकि वीरता के बहुत से अवसर नायिकाओं के उद्धार और उनके पृथ्वीराज से विवाह हो जाने से सन्बन्धित हैं। वीर के सहायक रूप से वीभत्स आदि का भी वर्णन आया है।

वीर रस के उद्दीपन रूप से इसमें फौजों अस्त्रों-शस्त्रों घोड़े हाथी आदि के विशद वर्णन आये हैं।

षुरसान सुलतान खंधार मीरं।
बलष सों वलं तेग अचूक तीरं॥
रुहंगी फिरंगी हलंब्बी समानी।
ठटी-ठट्ट भल्लोच ठालं निसानी॥
मँजारी चषी, मुक्ख जंबुक्क लारी।
हजारी हजारी इकैं जोध भारी॥

× × ×

एराकी अरब्बी पटी तेज ताजी।
तुरक्की महाबाँन कम्मान बाजी॥
इसे असिब असबार अग्गोल गोलं।
भिरे भूप जेते सुतत्ते अमोलं॥

नीचे के छन्द में उद्दीपनों के साथ वीर रस का स्थायी भाव भी परिलक्षित होता है। इसमें वीर रस के संचारी और अनुभाव भी है।

वज्जिय घोर निसाँन, रॉन चौहान चहौं दिस;
सकल सूर सामँत, समरि बल जंत्र मंत्र तिस।
उट्ठि राज प्रिथिराज, बाग लग मनो वीर नट।
कढ़त तेग मनों बेग लगत मनो बीज झट्ट घट
थकि रहे सूर कौतिग गिगन, रँगन मगन भइ श्रोनधर;
हृदि हरषि वीर जग्गे हुलसि, हरेउ रंग नव रत्तवर॥

इसका अर्थ इस प्रकार है—राणा पृथ्वीराज चौहान के डंके बजने का घोर शब्द हुआ। जितने सूर सामंत थे सब युद्ध के अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित थे। पृथ्वीराज ने वाग घुमाकर ऐसी कुशलता से युद्ध प्रारम्भ किया मानो कोई कुशल नट अपना खेल दिखा रहा हो (इसमें पृथ्वीराज का रण कौशल और उसकी निर्भयता व्यञ्जित है।) उसकी तलवार मानो स्वयं वेग अर्थात् तेजी है और बिजली की तरह चमक कर शरीर में लगती है (अस्त्र-शस्त्र का चलाना वीरता के अनुभाव है) सूर्य आकश में स्थगित हो गये (युद्ध की घनघोरता व्यञ्जित है, युद्ध की घनघोरता उद्दीपन का काम देती है) और पृथ्वी लाल रंग में डूब गई। हृदय में हर्षित होकर वीर (इस में हर्ष सञ्चारी आगया) युद्ध के लिए सोल्लास तैयार होगये और उनके मुख पर उत्साह की लाली आगई (यह वीर रस का, अनुभाव है।)

रेवातट समय तथा अन्य समयों में भी युद्धों तथा वीरोत्साह के बड़े विशद वर्णन हैं। वीर के सहायक रूप से वीभत्स का वर्णन देखिए:—

कहौं कमध कहौं मथ्थ कहौं कर चरन अन्तरुरि,
कहौं केध बहि तेग कहौं सिर जुट्टि फुट्टि उर।
कहौं दंत मंत हय पुर पुपरि, कुंभ भसुंडह रुण्ड सब,
हिंदवान रानं भय भाँन मुख गहिय तेग चहुँआन जब॥

इसी प्रकार शत्रुओं के भागने के भी वर्णनों में वीर का अङ्ग होकर भयानक आया है—'करी चीह चिक्कार करि कलप भग्गे।' आश्रय के भिन्न होने से यहाँ रस-विरोध नहीं है। इन छन्दों की भाषा भी वीर रस के अनुकूल ओज-प्रधान है।

शृंगार रस के अन्तर्गत नख-शिख वयसंधि आदि के उद्दीपन स्वरूप सुन्दर वर्णन आये हैं, देखिए:—

मनहुँ कला ससभान, कला सोलह सो बन्निय।
बाल वैस ससिता समीप, अम्रित रस पिन्निय॥
बिगसि कमल-स्रिग भ्रमर, बेनु षंजन मृग लुट्टिय।
हरि, कीर, अरु बिम्ब, मोति नषसिष अहि घुट्टिय॥
छत्रपति गयंद हरि हंस गति, बिह बनाय संचै सचिय।
पदमिनिय रूप पद्मावत्तिय, मनहु काम कामिनि रचिय॥

अर्थात् पद्मसेन की पुत्री क्या थी मानो चन्द्र और सूर की कला थी। वह पूर्ण सोलहों कलाओं से बनी थी। उसकी बाल वयस थी जो शिशुता के निकट थी। (मिलाइए बिहारी से गई न शिशुता की झलक) उससे अमृत रस पिया जा सकता है। कुछ टीकाकारों ने शशि और ता को अलग करके यह अर्थ लगाया है कि चन्द्रमा उस के निकट जाकर अमृत रस पीता है। (इस अर्थ में प्रतीप की ध्वनि आ जाती है।) वह विकसित कमल की माला को अपने शरीर की कोमलता, गंध, सौन्दर्य और सुकुमारता के कारण भौंरों को बालों के कालेपन के कारण, बाँसुरी को वाणी की मधुरता के कारण, खंजन को

नेत्रों की चपलता के कारण, मृग को भोलेपन और नेत्रों के सौन्दर्य के कारण लूट लेती है अर्थात् वे उसके सामने कंगाल हो जाते हैं (यहाँ पर भी प्रतीप की ध्वनि है) हीरे (दान्त) कीर (नासिका) बिंबाफल (ओष्टों) मोती (शरीर की आभा और सर्प (वेणी) से उसका नखशिख बना है।

(यहाँ पर रूपकातिशयोक्ति का चमत्कार आ जाता है) ब्रह्मा ने उसको शची (इन्द्राणी) के सांचे में ढाला है। पद्मावती का रूप पद्मिनी का सा है, वह ऐसी है मानो काम की स्त्री रति हो। (इसमें उत्प्रेक्षा के साथ यमक का भी चमत्कार है) शृङ्गार रस के वर्णन में अलङ्कारों का भी अधिक समावेश हुआ है।

नख-शिख वर्णन केवल नख-शिख वर्णन के लिए नहीं है वह कथा-प्रवाह में भी सहायक होता है। जो तोता कि पद्मावती को पृथ्वीराज के पौरुष और सौन्दर्य का हाल सुनाता है वह उसके ओष्ठों को विम्बाफल समझ कर पद्मावती की ओर आकर्षित होता है। देखिए—

मन अति भयो हुलास, विगसि जनु कोक किरन रवि।
अरुन अधर तिय सघर, विम्बफल जान कीर छवि॥
यह चाहत चष चक्रितु, उह जु तक्किय झरप्पि झर।
चंच चहुट्टिय लोभ, लियौ तब गहित अप्प कर॥

'बिंबफल जान कीर छवि' में भ्रान्ति अलङ्कार भी आ गया और कथा को आगे बढाने वाले तोते से भी भेंट हो गई। यहाँ पर नख-शिख वर्णन और अलङ्कार दोनों ही सार्थक हो जाते हैं।

कवि ने पद्मावती को पद्मिनी कहा। इतने से उसका सन्तोष नहीं हुआ। उसने अपनी बात को पूर्णतया पुष्ट कर दिया। 'कमल गंध वय संध हंस गति मंद' । कमल गंध की बात को और भी पुष्ट

कर दिया है। 'भ्रमर भवहि भुल्लहिं सुभाव मकरंद बास रस' 'पद्मावती के सौन्दर्य ने पत्नी को भी प्रभावित कर दिया। पद्मावती को श्वेत वस्त्र पहना कर कवि ने साक्षात लक्ष्मी का ही रूप दे दिया। 'सेत वस्तु सोहे सरीर, नष स्वाति बुन्द जस' लक्ष्मीजी का पद्म से विशेष सम्बन्ध है। कवि पद्मावती को और प्रकार के भी कपड़े पहना सकता था किन्तु उसे लक्ष्मी रूप देने को ही श्वेत वस्त्र पहनाये हैं। पूर्व राग के विरह में वे ही वस्त्र चिक्कट हो जाते हैं। पृथ्वीराज के आजाने पर वह उन वस्त्रों को उतार कर शृङ्गार करती है। इसमें हर्ष सञ्चारी लक्षित होता है। पृथ्वीराज के मिलने पर हर्ष व्रीड़ा (लज्जा), मोह और उत्कण्ठा आदि भावों की शवलता परलक्षित होती है, देखिए:—

फिर फिर देषि प्रथिराज राज।
हँस मुद्ध मुद्ध कर पट्ट लाज॥

फिर फिर देखने में औतसुक्य है, हँसने में हर्ष है और मुद्ध मुद्ध में मोह (मुग्धता) और कर पट्ट लाज में व्रीड़ा-भाव दिखाया गया है।

यद्यपि कुछ आलोचकों का कथन है कि चन्द ने वीर और शृङ्गार दोनों ही रसों में एक सी भाषा का प्रयोग किया है तथापि शृङ्गार रस के वर्णन अपेक्षाकृत कोमल और मधुर शब्दावली में हुए। चन्द का शब्द-चयन भी सुन्दर और चित्रोपमतामय है। यौवन के लिए बसंत बड़ा ही सार्थक शब्द है—'वैसि बिती सिसुता सकल, आगम कियौ बसंत' दीपकों के आरती में लहराने को झलहल शब्द से व्यञ्जित किया गया है। इस शब्द द्वारा लहराते हुए दीपकों की लौ का चित्र सा उपस्थित हो जाता है। पद्मावती समय में युद्ध के बहुत से गतिमय चित्र मिलते हैं, देखिए:—

वाजी सुबंब, हय गय पत्ताँन
दौरे सुसज्जि दिस्सह दिसाँन
तुम्ह लेहु लेहु मुष जंपि जोध
हन्नाह सूर सब पहरि क्रोध

चन्द की उत्प्रेक्षाएँ बड़ी सजीव और अनूठी हैं देखिए 'विगसि जनु कोक किरन रवि' (यहाँ पर कोक शब्द कोकनद (कमल) और चकवे दोनों के लिए आया है) हाथियों के लिए 'मनु श्याम पाहार वगपंति पंति' हाथियों को काला बादल माना है और उनके दाँत को बगुलों की पंक्ति माना है। 'पवै पहार मनो सार के' इत्यादि कहीं-कहीं यमक के भी अच्छे उदाहरण मिलते हैं—'वर गोरी पद्मावती गहि गोरी सुलतान। चन्द ने अलङ्कारों की भरमार तो नहीं की है किन्तु जहां वे आये हैं स्वाभाविक रूप से आये हैं।

भाषा—चन्द की भाषा पर ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। चन्द ने स्वयं स्वीकार किया है कि उसकी भाषा में कई भाषाओं का मिश्रण है। 'षटभाषा कुरानंच पुरानंच कथितं मया' कविवर भिखारी दास जी ने षट भाषा की इस प्रकार व्याख्या की है।

ब्रज मागधी मिलै अमर नाग यमन भाखानि।
सहज पारसी हू मिलै षट विधि कहत बखानि ॥

इस में अमर भाषा का अर्थ देव वाणी संस्कृत है। यमन का अर्थ अरबी है। नाग भाषा से मालूम नहीं भिखरी दास जी का क्या अभिप्राय था? अब प्रश्न यह होता है कि रासो की भाषा का मूल ढाँचा ब्रज भाषा का है या डिंगल का है। स्वर्गीय डाक्टर श्यामसुन्दर दास जी ने इसे पिंगल कहा है इस सम्बन्ध में बाबू जी का कथन इस प्रकार है "दूसरी भाषा एक सामान्य

साहित्यिक भाषा थी जिसका व्यवहार ऐसे विद्वान कवि करते थे जो अपनी रचना को अधिक व्यापक बनाना चाहते थे। इसका ढांचा पुरानी ब्रज भाषा का होता था जिसमें थोड़ा बहुत खड़ी या पंजाबी का भी मेल हो जाता था। इसे पिंगल भाषा कहने लगे थे। वास्तव में हिन्दी का सम्बन्ध इसी भाषा से है। पृथ्वीराज रासो इसी साहित्यिक सामान्य भाषा में लिखा हुआ है।" इसके उदाहरण में बाबूजी ने यह पंक्ति दी है— 'तिहि रिपु जयपुर हरन को भए प्रथिराज नरिंद' इस प्रकार के यद्यपि और भी प्रयोग मिलते हैं 'वर गोरी पद्मावती गहि गोरी सुलतान' 'निसचासुर समुझि न परत' तथापि अधिकांश विद्वान उसे डिंगल का मानते हैं और उसमें डिंगल का सा रूप है भी। बाबू श्यामसुन्दर दास जी ने भी जो डिंगल का रूप बताया है वह भी अधिकांश में इसकी भाषा में मिलता है। वे लिखते हैं:—"राजस्थानी कवियों ने अपनी भाषा की प्राचीनता को गौरव देने के लिए जानबूझकर प्राकृत अपभ्रंश के रूपों का अपनी कविता में प्रयोग किया है। इस से वह भाषा वीर-काव्योपयोगी अवश्य हो जाती है पर साथ ही उसमें दुरुहता भी आजाती है" रासो की भाषा में ऐसी बात अवश्य है। बाबू साहब डिंगल को अपेक्षा पिंगल को अधिक प्राचीन मानते हैं— 'डिंगल के ग्रन्थों में प्राचीनता की झलक उतनी नहीं है जितनी पिंगल ग्रंथों में पाई जाती है।'

श्री मोतीलाल मनोरिया ने डिंगल को पिंगल की अपेक्षा प्राचीन माना है। वे लिखते हैं:—

यह डिंगल राजस्थान की बोल-चाल की भाषा राजस्थानी का साहित्यक रूप है और पिंगल की अपेक्षा अधिक साहित्य-सम्पन्न तथा अधिक ओजगुण युक्त है। उत्पत्ति इसकी

अपभ्रंश से हुई है।' वास्तव में डिंगल के मुकाबिले में पिंगल छन्द शास्त्र का नाम है। ब्रज भाषा अधिक श्रुतिमधुर होने के कारण पिंगल कहलाई।

डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति के कई आधार माने गये हैं। डा० टेसीटैरी के अनुसार इसका अर्थ अनियमित या गँवारू है। पिंगल अधिक व्यवस्थित और शास्त्र के अनुकूल थी। पं० हर-प्रसाद शास्त्री का मत है कि डिंगल की व्युत्पत्ति डगल से हुई है। डगल मिट्टी के ठेले को कहते हैं जो अनियमितता का द्योतक है, किन्तु इस मत के अनुसार यह मानना पड़ेगा कि पिंगल पहले की भाषा है। कुछ लोग इसको डिम और गल का मिला हुआ शब्द मानते हैं। डिम का अर्थ डमरु है। इसकी बात या ध्वनि डमरु की सी है। एक मत यह भी है कि डकार बाहुल्य के कारण इस भाषा का नाम डिंगल पड़ा। इसको डींग मारने की भाषा होने के कारण भी डिंगल कहा गया है। मनोरिया जी का मत है कि डिंगल शब्द से कुछ कठिनता और दुरूहता का बोध होता है।

सारांश—पृथ्वीराज रासो का मूल भाग चन्द द्वारा अपभ्रंश के निकट की भाषा में लिखा गया था। उसमें पीछे से प्रक्षिप्त अंश बहुत मिल गया। वह सब संग्रहीत होकर वर्तमान रूप में आगया है। उसमें कई स्तर की भाषा है। यद्यपि उसमें राम-चरित मानस या पद्मावत का सा प्रबन्ध निर्वाह नहीं है तथापि वह रस परिपाक और विचारों की उदात्तता एवं वर्णनों की विशदता और सुन्दरता के कारण महाकाव्य कहा जा सकता है।

———

सन्त कवि—महात्मा कबीर

भक्ति-काल की पृष्ठ भूमि—जब भारतवर्ष में मुसलमानों के पैर जम गये और अपेक्षाकृत मार-काट और संघर्ष कम हो गया तब दोनों जातियों में एक दूसरे को समझने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई—हिन्दुओं की ओर से जो हिन्दू-मुसलिम ऐक्य का प्रयत्न हुआ, वह सन्त-साहित्य में प्रस्फुटित हुआ। ये लोग समता भाव के मानने वाले थे और निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। ये ज्ञान मार्गी निर्गुण शाखा के कवि थे। इनमें मुख्य थे कबीर, नानक, दादू, आदि। मुसलमानों की ओर से भी एकता की प्रवृत्ति हुई। उसका प्रकाश प्रेममार्गी सूफी साहित्य में हुआ। इन लोगों ने हिन्दू कथाओं को लेकर मुसलमानी काव्य-पद्धति से किन्तु अवधी के दोहा-चौपाई छन्दों में अध्यात्म तत्व की अभिव्यक्ति की। इनमें प्रमुख है, जायसी, कुतबन, मंझन आदि यह समझौते की भावना हिन्दुओं में हार की मनोवृत्ति को दूर करने में भी सहायक हुई। ज्ञान के धरातल में विजेताओं से ऐक्य स्थापित करने की भावना पुष्ट हुई। प्रेम के प्रचार से मुसलमानों ने एक प्रकार से अपने अत्याचारों का प्रायश्चित किया।

हार की मनोवृत्ति को भुलाने का तीसरा उपाय था अपना व्यक्तित्त्व स्थित रखते हुए अपने भगवान की शरण में जाना और उनकी अत्याचार के दलन करने वाली लोकोत्तर लीलाओं में आनन्द लेकर जाति में आशावाद का संचार करना। यह

प्रवृत्ति भक्त कवियों द्वारा पुष्ट हुई। भक्त कवियों की दो शाखाएँ थीं—एक कृष्ण-भक्ति शाखा और दूसरी राम-भक्ति शाखा। कृष्ण-भक्ति शाखा के प्रवर्तक थे सूर और राम-भक्ति शाखा के प्रवर्त्तक थे गोस्वामी तुलसीदास इस प्रकार भक्ति-काल में चार शाखाएँ थीं—निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा जिसके प्रमुख कवि थे संत कबीर। दूसरी शाखा थी प्रेम मार्गी सूफी शाखा जिसके प्रमुख कवि थे जायसी। सगुण कृष्ण-भक्ति शाखा जिसके प्रमुख कवि थे सूर, और सगुण राम-भक्ति शाखा जिसके प्रमुख कवि थे गोस्वामी तुलसीदास। इन चारों शाखाओं में पारस्परिक भेद होता हुआ भी कुछ बातें एक सी थीं, जैसे—गुरुभक्ति, ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण की भावना, सांसारिकता का त्याग और हृदय की कोमलता एवं दया भाव। सन्त कवियों की ये विशेषताएँ थीं—

१—निर्गुण ब्रह्म की उपासना,

२—जाति-पाँति का निराकरण और समता भाव

३—विशेष धर्मों की अपेक्षा साधारण धर्म पर बल देना

४—मिली-जुली सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग।

जन्म-संवत्—महात्मा कबीर ऐसे समय में हुए जब आलौकिकता का प्राधान्य था। इनके नाम के साथ कुछ अलौकिक कथाएँ सम्बद्ध हैं। इन अलौकिक कथाओं में कितना सार है यह तो कहना कठिन है किन्तु थोड़ी बहुत जीवन-सम्बन्धी सामग्री उनकी वाणी में भी मौजूद है और किम्बदन्तियों में भी थोड़ी बहुत तत्त्व की बातें मिल सकती हैं। इसके सम्बन्ध में उनके शिष्य धर्मदास की तथा अन्य सन्तों की भी उक्तियाँ मिलती हैं।

यद्यपि उनके जन्म-संवत् के विषय में पंडितों का मत-भेद* है तथापि उनके सम्बन्ध में जो निम्नलिखित दोहा प्रसिद्ध है वह अधिक मान्य है—

चौदह सौ पचपन साल गये, चन्द्रवार एक ठाठ ठए,
जेठ सुदी बरसायत को, पूरन मासी प्रगट भए।

किन्तु इस दोहे के सम्बन्ध में आचार्य श्यामसुन्दर दास ने यह आपत्ति उठाई है कि गणना से संवत् १४५५ में पूर्णिमा चन्द्रवार को नहीं पड़ती है, इसलिए वे 'गये' का अर्थ बीत जाना लगाकर कबीर का जन्म १४५६ में मानते हैं किन्तु इण्डियन क्रोनोलोजी के आधार पर डाक्टर रामकुमार वर्मा अपने इतिहास में लिखते हैं कि १४५६ में भी ज्येष्ठ सुदी पूर्णिमा चन्द्रवार को नहीं पड़ती वरन् मंगलवार को पड़ती है। डा० रामकुमार जी ने युगलानन्द जी के आधार पर बरसायत का अर्थ वट-सावित्री बतलाया है जो ज्येष्ठ बदी अमावस्या को पड़ती है। इसमें पूर्णमासी और सुदी शब्द बड़े संदिग्ध मालूम होते हैं। पूर्णमासी का अर्थ खींच-तान कर पूर्ण चन्द्र मान भी लिया जाय (इसमें विरोधाभास अच्छा बन जाता है—अमावस्या को पूर्णचन्द का उदय होना) किन्तु सुदी को तो अशुद्ध पाठ ही मानना पड़ेगा। संभव है कि पूर्णमासी के संयोग से

* कबीर पंथी लोग उनको अलौकिक-महत्ता प्रदान करते हुए इनकी ३०० वर्ष की आयु मानते हैं। उनके मत से इनका जन्म संवत् १२०५ में और सत्य लोक-वास १२०५ में हुआ। इस मत से उनकी सिकंदर लोदी के साथ इतिहास-प्रसिद्ध समकालीनता नहीं बैठती। 'कबीर एण्ड कबीरपंथ' के लेखक पादरी वेसकट साहब उनका जन्म संवत् १४६७ और मृत्यु १५७५ मानते हैं, किन्तु इस मत से वे रामानन्द जी के समकालीन नहीं ठहरते।

लोगों ने बदी का सुदी कर लिया हो। वट-सावित्री के बारे में डाक्टर रामकुमार जो ने भी नहीं लिखा कि वह चन्द्रवार को १४५५ में पड़ी या १४५६ में। उनका कथन है कि वट सावित्री की तिथि कबीर पंथियों में मान्य है, नहीं तो वर सायत का अर्थ शुभ महूर्त लगाया जा सकता है। इसमें सुदी और पूर्णमासी दोनों शब्द सार्थक हो जाते हैं। यह बात अभी खोज का विषय रहेगी।

कबीर की मृत्यु के सम्बन्ध में यह दोहा प्रसिद्ध—

संवत पन्द्रह सै पछतरा, कियो मगहर को गौन।
माघ सुदी एकादसी, रलो पौन में पौन॥

भक्तमाल में कुछ हेर-फेर के साथ यह दोहा दिया गया है। उसके अनुसार उनकी मृत्यु अगहन सुदी एकादशी संवत् १५४६ में हुई। भक्तमाल की तिथि इस लिए विचारणीय है कि सिकन्दर लोदी कबीर से संवत् १५५१ में मिला था। संवत् १५७५ की बात अधिक मान्य है।

जाति और जन्म स्थान—जाति के सम्बन्ध में अधिक मत-भेद नहीं है। जुलाहे के घर पालन-पोषण तो सभी लोग मानते हैं किंतु उनके जन्म के संबंध में कुछ लोगों का कथन है कि ये एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से, जिसको स्वामी रामनन्दजी ने पुत्रवती होने का आशीर्वाद दे दिया था, उत्पन्न हुए थे। इस बात में महत्ता-स्थापन की प्रवृत्ति मालूम होती है किंतु यह संभव हो सकता है कि कबीर नीरू और नीमा को पड़े मिले हों। कबीर ने अपने को पूर्व-जन्म का ब्राह्मण मानते हुए इस जन्म का जुलाहा कहा है।

कासी का में बासी बाँमन, नाम मेरा परबीना।
एक बार हरि-नाम बिसारा, पकरि जोलाहा कीना॥

भाई मेरे कौन बिनैगो ताना।

किन्तु वे अपने जुलाहेपन के लिए किसी प्रकार से लज्जित न थे। उन्होंने डंके की चोट कहा है :—

तू बाह्मन मैं कासी का जुलाहा, बूझो मोर गियाना।

सम्भव है कि जुलाहेपन के हीनता-भाव ने उनको ज्ञान की ओर अधिक प्रवृत किया हो। जाति के हीनता-भाव को वे ज्ञान से संतुलित करना चाहते थे।

पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस संबंध में यह बतलाया है कि बंगाल और बिहार के धुनियाँ, जो पीछे से मुसलमान हो जाने के कारण जुलाहे कहलाते थे, योगमत के मानने वाले होते हैं। वे 'जुगी' कहलाते हैं और योग का ज्ञान उनकी पैतृक परम्परा में है। उनका अनुमान है कि यू० पी० में भी ऐसे जुलाहे रहे होंगे और कबीर उन्हीं में से थे। इस मत की पुष्टि में इतनी बात कही जा सकती है कि आसाम में लोग गोरखनाथ को भी जुलाहा मानते हैं।

कबीर के जन्म-स्थान के विषय में अधिक मत-भेद नहीं हैं। इस सम्बन्ध में उनकी स्वयं ही गवाही है कि वे काशी में प्रगट हुए थे—

'काशी में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चेताए।'

रामानन्द के गुरू होने में कुछ लोगों को शंका है। डाक्टर मोहनसिंह जी ने भी इस सम्बन्ध में शंका उपस्थित की है। वे उनको गुरू नानक से अधिक प्रभावित मानते हैं। मुसलमान लोग उनको शेख तकी का शिष्य मानते हैं। आचार्य शुक्ल जी तथा अन्य विद्वानों का मत है कि जिस प्रकार उन्होंने शेख तकी का उल्लेख किया है उससे यह नहीं प्रकट होता कि वे शेख तकी को अपना गुरू मानते थे—'घट-घट अविनासी सुनहु की तुम

सेख।' यह कहा जा सकता है कि कबीर के अक्खड़ स्वभाव के लिए यह बात असम्भव नहीं। किंतु जहाँ कबीर गुरू को परमात्मा से भी बढ़कर मानते हैं, वहाँ ऐसी बात सम्भव नहीं हो सकती। कहीं-कहीं उन्होंने गुरु और सतगुरु परमात्मा के लिए भी कहा है। किन्तु वे बिना गुरू के नहीं थे। गुरू में विश्वास उस समय की परम्परा थी।

विवाह और पुत्र—यद्यपि कबीर ने नारी की निन्दा की है तथापि विवाह अवश्य किया है। उनकी स्त्री का नाम लोई था। उसको सम्बोधित करके उन्होंने कई पद भी लिखे हैं: 'कहत कबीर सुनहु रे लोई हरि बिन राखत हमें न कोई' किन्तु यह संदिग्ध है कि वे हमेशा उसके साथ रहे या अपने वैराग्य में उन्होंने ऐसी साधुसेविका स्त्री को भी त्याग दिया था—

नारी तो हम भी करी, जाना नाहिं बिचार।
जब जाना तब परिहरी, नारी बड़ा बिकार॥

कहा जाता है कि उनके कमाल नाम का एक पुत्र और कमाली नाम की एक पुत्री हुई थी। कमाल में शायद उतना त्याग न था और वह सांसारिकता की ओर अधिक झुका हुआ था, तभी उन्होंने उसे अपने वंस का डुबानेवाला कहा है,

बूड़ा वंश कबीर का उपजे पूत कमाल।
हरि का सुमरन छोड़ के घर ले आया माल॥

पैगम्बरत्व का अहंभाव—कबीर अपने को नबी या पैगम्बर समझते थे और वे अपने को साधारण मनुष्यों और देवताओं से भी अधिक पहुँचा हुआ मानते थे। इस सम्बन्ध में नीचे के छन्द विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

क—कासी में हम प्रगट भए हैं रामानन्द चेताए।
समरथ का परवाना लाए, हंस उबारन आए॥

ख—सुर, नर, मुनि, जन, औलिया ये सब उरली तीर।
अलहराम की गम नहीं तँह घर किया कबीर॥

ग—झीनी झीनी बीनी चदरिया

साईं को सियत मास दस लागे ठोक ठोक कै बीनी चदरिया।
सो चादर सुरनर मुनि ओढ़ो, ओढ़ि के मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़ी ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया।

घ—रमैया की दुलहिन लूटा बजार।
कनफूँका चिदकासी लूटे, लूटे जोगेसर करत विचार।
हम तो बचिगे साहब दया से शब्द डोर गहि उतरे पार।

इन उदाहरणों में अहंभाव की भावना अवश्य दिखाई देती है और संभव है कि कबीर में किसी अंश में अहंभाव रहा भी हो, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने जो कुछ कहा है वह भक्तों के प्रतिनिधि होकर कहा है और राम-नाम या गुरु-भक्ति या अद्वैतता की महत्ता दिखलाने के लिए कहा है। कहीं-कहीं उन्होंने भक्त की महिमा स्पष्ठ रूप से कही है। वहाँ उन्होंने भक्त को सर्वोपरि ठहराया है, देखिए:—

शून्य मरै अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय।
राम सनेही ना मरै, कहि कबीर समुझाय॥
चन्दौ जइहै सुरजौ जइहै, जइहै पवनो पानी।
कहि कबीर हम भक्त न जइहैं, जिनकी मति ठहरानी॥

इसके अतिरिक्त अपने मत के प्रचार के लिए भी कुछ बसीठीपन या साहब के परवाने की बात आवश्यक थी। कबीर

ने 'हरि मरि हैं तो हमहूँ मरि हैं' आदि वाक्य जीव और ब्रह्म की एकता द्योतन करने को कहे हैं।

मृत्यु—साधारणतया लोग काशी में शरीर-त्याग को महत्व देते हैं, किन्तु कबीर ऐसी स्वतन्त्र प्रकृति के थे कि वे ऐसी सस्ती मोक्ष नहीं चाहते थे। यदि भगवान की उन पर कृपा है तो काशी क्या सभी स्थानों में (मगहर में भी) उनकी मोक्ष होगी, तभी उन्होंने कहा है :—

लोगो तुम ही मति के भोरा।

मगहर मरै मरन नहिं पावै, अन्त मरै तो राम लजावै।
मगहर मरै सो गदहा होई, भल परतीत राम सों खोई।
क्या कासी क्या ऊसर मगहर, राम हृदय बस मोरा।
जो काशी तन तजै कबीरा, रामै कौन निहोरा॥

इस बात की साक्षी दादू, नानक आदि ने भी दी है, देखिए-

ग्रन्थ—कबीरदासजी का मुख्य ग्रंथ तो कबीर बीजक है। उसके भी दो संस्करण बतलाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त कबीर ने और बहुत से ग्रंथ लिखे जिनकी संख्या ५७ या ६१ तक बतलाई जाती है। बीजक के पश्चात् उनके साखी-संग्रह को महत्व दिया जाता है। अन्य दूसरे ग्रंथों में अनुरागसागर, उग्रगीता, निर्भयज्ञान, शब्दावली, रेखतों आदि के संग्रह आदि प्रमुख हैं। कबीर का सबसे प्रामाणिक संग्रह वह माना जाता है जो सिक्खों के आदिग्रन्थ में संग्रहीत है। डाक्टर रामकुमार वर्मा ने संत कबीर में उसी पाठ का आधार लिया है।

स्वभाव—कबीर बड़े सन्तोषी और स्वतन्त्र स्वभाव के थे। 'जिनकों कछू न चाहिये सोही साहंसाह।' वे इतना ही धन

चाहते थे कि खुद खा सकें और द्वार से साधू भूखा न जाय। सन्तोष ही उनके स्वाभिमान का कारण था। परमार्थ के लिए वे स्वाभिमान को भी बलिदान कर सकते थे—

मर जाऊँ मांगू नहीं अपने तन के काज
परमाथ के कारनैं मोहि न आवै लाज ॥

साधु सेवा और परमार्थ की भावना तो उनकी बहुत बढ़ी हुई थी। इस सम्बन्ध में कहा जाता है कि साधु-सेवा के लिए तो वे अपनी स्त्री के सतीत्व को बेचने में भी संकोच नहीं कर सकते थे।

कबीर घर में रह कर भी फ़कीर थे। 'घर में जोग, भोग घर ही में, घर तज बन नहीं जावै। वन के गये कल्पना उपजै तब धौं कहाँ समावै ॥' वे दूसरों की बुराइयों का उद्‌घाटन करने में पूर्णतया निर्भय थे। उनमें विशेषता यह थी कि वे किसीका पक्षपात नहीं करते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों को उन्होंने एक सा फटकारा है। 'हिन्दू तुरक हटा नहिं मानैं, स्वाद सबन को मीठा—'वै हलाल, वैं झटका मारैं आगि दुहौं घर लागी'। कबीर किसी मत के विरोधी न थे। उनकी सम दृष्टि में महादेव और मुहम्मद एक थे। 'वही महादेव, वही वही मुहम्मद ब्रह्मा आदम कहिए'।किन्तु वे मिथ्याचार को सहन नहीं कर सकते थे। योग मार्ग से वे प्रभावित थे किन्तु उसकी भी उन्होंने बुराई की है। "महादेव का पंथ चलावै। ऐसौ बड़ौ महन्त कहावै ॥ हाट वाट में लावै तारी, कच्चे सिद्धन माया प्यारी।" वे भी कोरे साखी शब्दों के जिनमें अनुभवी ज्ञान न हो, उतने ही विरोधी थे जितने कि आचार्य शुक्ल जी ने तुलसी को बतलाया है। 'साखी सबद गावत भूले आतम खबर न जाना।' यही है हृदय की ईमानदारी। इसकी कबीर में कमी न थी।

प्रभाव और सिद्धान्त—कबीर पर कई प्रकार के प्रभाव थे। जन्म या वर्ण से उनका पालन-पोषण मुसलमान घर में हुआ, दीक्षा रामानन्दी वैष्णव सम्प्रदाय की मिली और उन्हीं महात्मा के खण्डन-मण्डनात्मक उपदेशों द्वारा तत्कालीन शास्त्रीय-ज्ञान (विशेषकर शाङ्कर वेदान्त और उपनिषदों का) प्राप्त हुआ और पर्यटन में गोरखपन्थी योगियों के सम्पर्क में आये। कट्टर मुसलमानों के अतिरिक्त शेख तकी जैसे सूफी फ़कीरों के भी वे सम्पर्क में आये। इनकी वाणी में सभी प्रभाव परिलक्षित होते हैं। इन प्रभावों को सूचित करने वाले पृथक-पृथक उद्धरण दिये जाते हैं।

मुसलमानी प्रभाव—कट्टर पन्थी मुसलमानों का प्रभाव दो बातों में परिलक्षित होता है। एक खण्डनात्मक—मूर्ति-पूजा आदि के खण्डन में और दूसरा ईश्वर की परात्परता और उसके नूर या प्रकाश रूप होने में। ये बातें हिन्दू-धर्म में भी हैं किन्तु मुसलमानी धर्म में इन पर विशेष बल दिया गया है। हिन्दू-धर्म में ईश्वर को संसार में व्याप्त और उससे परे भी माना है किन्तु मुसलमान-धर्म में उससे परे अधिक माना है। खण्डनात्मक उक्तियाँ भी मुसलमान-धर्म का एकाधिकार नहीं हैं। बाह्याडम्बर का खण्डन बौद्ध-धर्म में भी किया गया है।

खण्डनात्मक उक्तियाँ—

(अ) मूर्ति—पाहन पूजे हरि मिलैं तौ मैं पूजूँ पहार।
तातें यह चाकी भली पीसि खाय संसार ॥

(आ) तीर्थ—तीरथ गयें ते बहि मुये, जूड़े पानी न्हाय।
कह कबीर सन्तो सुनो, राक्षस ह्वै पछिताय ॥

(३) अवतार—परसुराम छत्री नहि मारा
ई छल माया कीन्हा।
❀ ❀ ❀ ❀
सिरजनहार न ब्याही सीता,
जल पखान नहिं बंधा।

पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने कुछ ऐसे भी उदाहरण दिये हैं जिनमें अवतार को माना गया है।

जाति-पाँति और छुआछूत के खण्डन में उन पर मुसलमानी प्रभाव भी चाहे हो किन्तु समता-भाव में सिद्धों और गोरखपन्थियों द्वारा आया हुआ बौद्ध-मत का प्रभाव है।

समता-भाव—

गुप्त प्रकट है एकै मुद्रा। काको कहिए ब्राह्मन शुद्रा॥
झूठ गरब भूलै मत कोई। हिन्दू तुरक झूठ कुल दोई॥
जो तुम ब्राह्मन ब्राह्मनि जाए। और राह तुम काहे न आए॥
× × × ×
एक बिन्दु ते सृष्टि रच्यो को ब्राह्मण को शूद्रा।

ईश्वर सम्बन्धी मुसलमानी प्रभाव—

तासु बदन की कौन महिमा कहौं, भासती देह अति नूर छाई।
× × × ×
सून्य के बीच में विमल बैठक जहाँ सहज अस्थान है गैब करा॥
× × × ×
नूर का महल और नूर की भूमि है।
× × × ×
छोड़ि नासूत मलकूत जबरूत को, और लाहूत हाहूत बाजी।
× × × ×
जाब जाहूत में खुद खाविंद जँह, वही मक्कान साकेत साजी॥

वैष्णवी-प्रभाव, अहिंसा—

बकरी मुरगी किन फुरमाया। किसके हुकुम तुम छुरी चलाया॥
दरद न जानै पीर कहावै। वैता पढ़ि-पढ़ि जग समुझावै॥
दिन भर रोजा धरत हौ, रति हनत हौ गाय।
वह तो खून वह बन्दगी, क्यों कर खुसी खुदाय॥

इसी हिंसावाद के कारण उन्होंने शाक्तों की निन्दा की है और शक्त के साथ गह कर खीर और खाँड़ खाने की अपेक्षा उन्होंने वैष्णव के साथ भूसी खाकर रहना अच्छा बतलाया है। देखिए—

कबिरा सङ्गत साधु की जौ की भूसी खाय।
खीर खाँड़ भोजन मिलै साकट संग न जाय॥

आवागमन—आवागमन सम्बन्धी विचार हिन्दू-धर्म की विशेषता है। यह विचार हिन्दू मनोवृत्ति का अङ्ग है। हिन्दुओं के सभी सम्प्रदाय इसको मानते हैं। कबीर में इस विचार का प्रतिपादन पर्याप्त मात्रा में मिलता है, देखिए:—

दिवाने मन भजन बिना दुख पैहौ।
पहिला जनम भूत का पैहौ, सात जनम पछितैहौ
दूजा जनम सुवा को पैहौ, बाग बसेरा लइहौ।
टूटे पंख बाज मँडराने, अधफड़ प्रान गँवैहौ।
बाजीगर के बानर ह्वैहौ, लकड़िन नाच नचैहौ।
ऊँच-नीच के हाथ पसरिहौ, माँगे भीख न पैहौ।

❀ ❀ ❀ ❀

करम गति टारे नहिं टरी।
मुनि बसिष्ठ से पण्डित ज्ञानी सोधि के लगन धरी।
सीता हरन मरन दशरथ को बन में बिपति परी।

❀ ❀ ❀ ❀

विशेष—यह पद इसी रूप में सूरदासजी में भी मिलता है—

अपने करम न मेटो जाई।
कर्म के लिखा मिटेधौं कैसे जो युग कोटि सिराई॥

❀ ❀ ❀ ❀

लख चौरासी बहुत बासना सो सब सरि भो माटो।

❀ ❀ ❀ ❀

धरि धरि जनम सबै भरमे हैं ब्रह्मा विष्णु महेस।

भक्ति—कबीर ज्ञान मार्गी थे किंतु उन्होंने भक्ति का निरादर नहीं किया, यह वैष्णवी प्रभाव ही है। उन्होंने निष्काम-भक्ति को ही मुख्यता दी है।

और कर्म सब कर्म हैं, भक्ति कर्म निष्कर्म।
कहै कबीर पुकार कै, भक्ति करो तजि धर्म॥
भुक्ति मुक्ति माँगौ नहीं, भक्ति दान दें मोहि।
और कोई याचौ नहीं, निस दिन याचौं तोहिं॥
कामी क्रोधी लालची, इनसे भक्ति न होय।
भक्ति करै कोई सूरमा, जाति बरन कुल खोय॥

नाम स्मरण—कबीर ने यद्यपि अवतारवाद नहीं माना है और रामावतार का भी खण्डन किया है (दशरथ कुल अवतर नहि आया। नहिं लंक में राय सताया) तथापि राम नाम की महिमा दिल खोल कर गाई है। उनका राम-नाम भगवान का पर्यायवाची है। उसमें रंकार की धुनि है जो सर्वत्र व्याप रही है, देखिए:—

राम के नाम ते पिंड ब्रह्मण्ड सब राम का नाम सुनि भरम मानी।
निरगुन निरंकार के पार परब्रह्म है तासु को नाम रंकार जानी॥

कबीर जी राम की इतनी महिमा गाते हुए भी उसके लिए हृदय की सच्चाई और भक्ति चाहते हैं। वे तोता रटन्त के पक्ष में नहीं है।

पण्डित बाद बदौं सो झूटा।
राम के कहे जगत गति पावै खाँड कहै मुख मीठा।
पावक कहै पाँव जो दाहै जल कहै तृखा बुझाई।
भोजन कहै भूख जो भाजै तो दुनिया तरि जाई।
नर के संग सुवा हरि बोलै, हरि प्रताप नहिं जानै।
जो कबहूँ उड़ि जाय जंगल को हरि की सुरति न आनै।

❀ ❀ ❀ ❀

कहै कबीर एक राम भजे बिनु बाँधे जमपुर जासी।

शाङ्कर मत का प्रभाव—शाङ्कर मत का मूल सिद्धान्त है—ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है, जीव ब्रह्म है और कोई दूसरा नहीं। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' रामानन्द के सिद्धान्त इससे कुछ भिन्न थे। वे विशिष्टाद्वैत के मानने वाले थे अर्थात् वे संसार और जीव दोनों को भगवान के, विशेषण रूप से, अङ्ग मानते थे किन्तु उस समय पंडित समाज में शङ्कराचार्य का ही अधिक प्रभाव था। रामानन्दजी के यहाँ कबीर सभी प्रकार के साधुओं के सम्पर्क में आये। भक्ति, अहिंसा, दया, क्षमा आदि गुणों में वे रामानन्दजी से प्रभावित हुए। दार्शनिक सिद्धान्तों में उनका मन शाङ्कर वेदान्त में अधिक रमा और उनके ही सिद्धान्तों द्वारा उपनिषदों के ज्ञान से वे प्रभावित हुए, 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' की झलक उनके नीचे के पद्यांश से मिलती है।

'बाजी झूँठ बाजीगर साँचा, साधुन की मति ऐसी'

कबीरदासजी जीव और ब्रह्म की पूर्ण एकता भी मानते थे।

जीव ब्रह्म की एकता—जीव ब्रह्म की एकता के सम्बन्ध में नीचे के छन्दों का उल्लेख किया जा सकता है।

लाली मेरे लाल की जित देखों तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥
नौन गला पानी मिला बहुरि न भरि है गौन।
सुरत शब्द मेला भया काल रहा गहि मौन॥
पानो ही ते हिम भया हिम ही गया बिलाय।
कबिरा जो था सोई भया अब कछु कहा न जाय॥
मैं लागा उस एक से एक भया सब माँहिं।
सब मेरा मैं सबन का तहाँ दूसरा नाहिं॥
हेरत हेरत हे सखी हेरत गया हिराय।
बुंद समानी समुंद में सो कित हेरी जाय॥

कबीर ने समुद्र का भी बूँद में समा जाना मान कर पूर्ण अद्वैतता का परिचय दिया है। इसी जीव और ब्रह्म की एकता के आधार पर वे शूद्र और ब्राह्मण तथा हिन्दू मुसलमान की एकता मानते हैं।

माया—कबीर ने जीव ब्रह्म की एकता के साथ माया को भी माना है। अवतारादि को उन्होंने माया का ही विकार माना है। 'दस अवतार इश्वरी माया कर्ता के जिन पूजा'

कबीर ने सारे संसार को ही कृत्रिम कहा है—

करता किरतिम बाजी लाई। ओंकार ने सृष्टि उपाई॥
पाँच तत्त तीनों गुन साजा। ताते सब किरतिम उपराजा॥
× × × ×
किरतिम सरगुन सकल पसारा। किरतिम कहिए दस औतारा॥

माया का उल्लेख कबीर ने अनेक रूप से किया है। कभी उसे धोबिन कहा है और कभी जल या सागर कहा है, तभी तो

जल में आग लगाने की उलटी बात सार्थक हो जाती है। मनुष्य माया से उत्पन्न होता है और उसी में रमने लगता है तभी तो बाप पूत की एक नार होने की बात समझ में आती है।

बाप पूत की नार एक, एकै माय बिआय।
दिख्यो न पूत सपूत अस, बापै चीन्है धाय॥

ब्रह्म के स्वरूप की अनिर्वचनीयता— कबीर ने ब्रह्म को निर्गुण और गिराज्ञानगोतीत माना है। उन्होंने उपनिषदों की भाषा में उसका नेति रूप से वर्णन किया है। वह निर्गुण और सगुण से भी परे है। न वह एक है, न अनेक; उसको संख्या में बाँधना उसका अपमान है। वह पुस्तक के ज्ञान से परे और वर्णनातीत है—

बाबा अगम अगोचर कैसा, ताते कहि समुझाऊँ ऐसा।
जो दीसै सो तो है नाहीं, है सो कहा न जाई॥
सैना-बैना कहि समझाऊँ गूंगे का गुर भाई।
दृष्टि न दीसै मुष्टि न आवै, बिनसै नाहिं नियारा॥
ऐसा ज्ञान कथा गुरु मेरे, पंडित करौ बिचारा॥

❀ ❀ ❀ ❀

कोई ध्यावे निराकार को, कोई ध्यावै साकारा।
वह तो इन दोऊ ते न्यारा, जाने जानन हारा॥

❀ ❀ ❀ ❀

एक कहो तो है नहीं दोय कहौं तो गारि।
है जैसा तैसा रहै कहै कबीर बिचारि॥
नेत नेत जेहि वेद कहि, जहाँ न मन ठहराय।
मन बानी की गम नहीं, ब्रह्म कहा तिन ताय॥
जो देखे सो कहै नहिं, कहै सु देखे नाहिं।
सुनै सो समझावै नहीं, रसना, दृग श्रुति काहिं॥

ब्रह्म सब में व्यापक है और सब के भीतर है। उसको अपने में ही खोजना चाहिए—

ज्यों तिल माँही तेल है, ज्यों चकमक में आगि।
तेरा साँईं तुझ में जागि सकै तो जागि॥

बीज मध्य ज्यों वृच्छा दरसै, वृच्छा मद्धे छाया।
परमातम में आतम तैसे आतम मद्धे माया॥

आतम में परमातम दरसै, परमातम में झाँईं।
झाँईं में परछाईं दरसै, लखै कबीरा साँईं॥

ब्रह्म का स्वरूप—कबीर ने यदि ब्रह्म का कोई स्वरूप माना है तो उसे ज्योतिस्वरूप और शब्दरूप माना है। ज्योतिस्वरूप तो हिन्दुओं में भी माना गया है किन्तु मुसलमानों ने उसके नूर पर अधिक जोर दिया है। शब्द रूप के सम्बन्ध में कुछ ईसाइयों का कहना है कि शब्द उन्होंने ईसाइयों से लिया। The word was God. किन्तु कबीर ने हिन्दू मुसलमान और जैनों का तो उल्लेख किया है, ईसाइयों का तो नाम भी नहीं लिया है। हमारे यहाँ शब्द ब्रह्म का बिचार बहुत दिनों से चला आता है। वैयाकरणों ने भी स्फोट को माना है। भवभूति में शब्द ब्रह्म का उल्लेख आया है। देखिए उत्तर रामचरित अङ्क २।

योग में नाना प्रकार का प्रकाश और ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। कबीर में जो ब्रह्म का प्रकाश और शब्द का जो रूप दिया गया है वह अधिकाँश में योग का ही प्रभाव है।

कबीर ने शून्य और सहज को भी माना है। यह बौद्धधर्म और सहजयान का प्रभाव है किन्तु हम पं० हजारीप्रसाद

द्विवेदी के शब्दों में कह सकते हैं कि उनका शून्य और सहज का कुछ दूसरा ही अर्थ था। यह दूसरी बात है कि ये शब्द उन्होंने उन लोगों से ही चाहे लिये हों। कबीर का ब्रह्म निर्गुण सगुण सब से परे है।

साधना में हठयोग का प्रभाव—कबीर का रहस्यवाद साधना-प्रधान था। कबीर पुस्तक-ज्ञान को कोई महत्व नहीं देते थे। वे अनुभवी ज्ञान के मानने वाले थे—

लिखा-लिखी की है नहीं, देखा-देखी बात।
दुलहा दुलहिन मिल गये, फीकी पड़ी बरात॥

❀ ❀ ❀ ❀

मैं कहता हौं आँखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी।

× × × ×

इस अनुभव की प्राप्ति के लिए साधना की आवश्यकता होती है। यह साधना कई प्रकार की है। साधक में शील, सन्तोष, दया, दीनता, क्षमा आदि सद्गुणों के अनुशीलन के अतिरिक्त (१) मन का नियन्त्रण (२) सत्सङ्ग और गुरुभक्ति (३)नाम स्मरण (४) हठयोग की आवश्यकता है। इन साधनों से साधक आत्म शुद्धि कर आत्म-साक्षात्कार कर सकता है। कबीर ने इन सब बातों को महत्व दिया हैं।

गुरु को तो कबीर ने गोविन्द से भी बढ़कर स्थान दिया है। वह कुम्हार की तरह से एक हाथ से सम्हालता हुआ और दूसरे से ठोकता हुआ शिष्य का खोट निकाल देता है—

गुरु कुम्हार सिष कुम्भ है, गढ़ गढ़ काढ़े खोट।
अन्तर हाथ सहार दैं, बाहर बाह चोट॥

जप में कबीर ने अजपा जाप को ही महत्ता दी है। माला के मनका फेरने की अपेक्षा मन का मनका फेरने की सलाह

देते हैं। यह भी इसलिए कि साधक परमात्मा का स्मरण करता हुआ अपने को भूल जाय—

तू तू करता तू भया, मुझ में रही न हूँ।

हठयोग—इस परम्परा के प्रवर्तक स्वयं शिवजी माने जाते हैं। गोरखनाथ ने इसका प्रचार किया था। हठयोगी पिण्ड को ब्रह्माण्ड का नक्शा मानते हैं। शरीर में चन्द्र, सूर्य गङ्गा, जमुना, सरस्वती की स्थापना मानी जाती है। हठयोग का अर्थ ही सूर्य को चन्द्र में मिला देना है। 'ह' कहते हैं सूर्य को 'थ' कहते हैं चन्द्र को। सूर्य शरीर की शोषक शक्ति को कहते हैं और चन्द्र अमृत का स्राव करने वाली सञ्जीवनी शक्ति को कहते हैं। सूर्य का स्थान नीचे है और चन्द्र का स्थान ऊपर है। नीचे का स्थान ऊपर से जितनी दूर रहता है उतनी ही शरीर में जर्जरता आती है। सूर्य जब चन्द्र से मिल जाता है तब साधक को अमृत का लाभ होने लगता है। इसी को कबीर ने उलटा कुँआ कहा है। इस सम्बन्ध में कबीर की नीचे की पंक्तियाँ देखिए—

चन्द सूर एकै घर लाओ, सुषमन सेती ध्यान लगाओ।

❀ ❀ ❀ ❀

गगन मंडल बिच उर्धमुख कुइयाँ गुरुमुख साधु भर भर पीया।

शरीर में तीन मुख्य नाड़ियाँ मानी गयी हैं—सुषुम्ना नाड़ी मेरुदण्ड में स्थित बीच की नाड़ी है। इसको कबीर ने लेजु या रस्सी भी कहा है, इड़ा सुषुम्ना के बाईं ओर है और पिंगला दाईं ओर है। दोनों नाड़ियाँ ब्रह्मरन्ध्र में मिल जाती हैं। इड़ा को गंगा कहते हैं, पिंगला को जमुना कहते हैं और सुषुम्ना को सरस्वती।

इसी सुषुम्ना के सहारे नीचे की ओर मुँह किये सर्पिणी के रूप कुण्डिलनी रहती है। साधक इस को जगा कर ऊपर की

ओर ले जाता है और अमृत के स्रोत से मिला देता है। कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत होने पर साधक को प्रकाश दिखाई पड़ता है और विश्व में व्याप्त अनहद (अनाहत-बिना चोट का) नाद सुनाई पड़ता है। 'उलटि नागिनी का सिर मारो, तँह शब्द ओंकारा है।' नीचे हठयोग के चक्रों का स्थान बतलाया गया है:—

७—मस्तिष्क		७—सहस्रार—सहस्र दल, अक्षय-पुरुष का वास होता है। इसी में चन्द्रमा है जो अमृत का स्रोत है।
६—त्रिकुटी-दोनों भोहों के बीच में		६—अज्ञा चक्र—दो दल का होता है। इसे भँवर गुफा भी कहते हैं। इसमें परमहंस का वास रहता है।
५—कंठ		५—विशुद्ध चक्र—सोलह दल का होता है। यहाँ जीव या अविद्या का वास है।
४—हृदय	सुषुम्ना नाड़ी	४—अनहत चक्र—बारह दल, देवता शिव गौरी, सोहं शब्द।
३—नाभि		३—मणिपूर चक्र—आठ दल, देवता विष्णु, जाप हिरंग।
२—जननेन्द्रिय के आधार में		२—स्वाधिष्ठान चक्र—छः दल देवता ब्रह्मा और सरस्वती, यहीं कुण्डलिनी का वास है।
१—मल त्याग और जननेन्द्रिय के बीच का स्थान		१—मूलाधार चक्र—चार दल कमल, जाप ओंकार। इसी में सूर्य की स्थिति रहती है। देवता गणेश, जाप कलिंग।

सुषुम्ना नाड़ी के सहारे नीचे से ऊपर छः कमल या चक्र माने गये हैं। इन सबके ऊपर मस्तक में सहस्रार चक्र है जिसमें सहस्र पँखुरी का कमल है। बुद्ध भगवान की मूर्तियों के सिर पर जो घु घराले से बाल दिखायी पड़ते हैं, वे इसी सहस्रदल की पंखु-रियाँ हैं।

कबीर में हठयोग का उल्लेख अनेकों स्थान में हुआ है। ऊपर के विवरण से उनका समझना सरल हो जायगा।

उन्मनि सो मन लागिया गगनहिं पहुँचा जाय।
चाँद विहूना चाँदना अलख निरंजन राय॥
गगन गरजि बरसै अमी बादल गहरि गँभीर।
चहुँ दिसि दमके दामिनी भीजै दास कबीर॥

उन्मन शब्द का प्रयोग, गोरखनाथ की वाणी में भी हुआ है। उन्मन का अर्थ है 'उन' परमात्मा का मन अर्थात् विश्व-चेतना में लीन होने की अवस्था है।

धोती नेती बस्ती पाओ, आसन पद्म जुगुत से लाओ।
कुँभक कर रेचक करवाओ पहले मूल सुधार कार्य हो सारा है॥

सूफी-प्रभाव और रहस्यवाद—कबीर का सम्पर्क सूफी सन्तों से रहा है और वे उनसे प्रभावित भी थे। सूफियों के भाँति कबीर ने भी प्रेम को ही ईश्वर-प्राप्ति का साधन माना है। कबीर ने अपने निर्गुण में माधुर्य-भाव की उपासना की। सूफियों के प्रेम में और कबीर के प्रेम में यही अन्तर है कि सूफियों ने साधक को पुरुष माना है और ईश्वर को स्त्री या प्रेम पात्र। कबीर ने भारतीय परम्परा को अपनाते हुए अपने को स्त्री मानकर ईश्वर के प्रति विरह निवेदन किया है। उन्होंने अपने को 'राम की बहुरिया' कह कर ईश्वर के साथ अपना आध्यात्मिक विवाह

कराया है। कबीर सिद्धान्तरूप से पूर्णातिपूर्ण अद्वैतवादी और निर्गुणवादी हैं किन्तु इस माधुर्य-भाव की उपासना में उनको ब्रह्म में पुरुष-भाव का आरोप-सा करना पड़ा है। किन्तु उनकी प्रेम की पराकाष्ठा पूर्ण अद्वैतता में पहुँच जाती है।

रहस्यवाद—तत्व-ज्ञान जब भावनापूर्ण अनुभूति का विषय बन जाता है तभी रहस्यवाद की उत्पत्ति होती है। असीम और ससीम के सम्बन्ध में गूँगे के गुड़ की सी अनिर्वचनीयता रहती है जो रहस्यमय होजाती है। कबीर की वेदना चाहे मीरा की भाँति तीव्र न हो किन्तु वह अनुभूति शून्य नहीं है। कहीं-कहीं तो उनका विरह-निवेदन काफी सरस है किन्तु उनकी शृङ्गारिकता ज्ञान की शुष्कता पर उनकी झीनी झीनी चदरिया का सा झीना आवरण मात्र रह जाता है। भगवान के प्रति माधुर्य-भाव के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

बालम आओ हमारे गेह रे। तुम बिन दुखिया देह रे।
सब कोई कहै तुमारी नारी, मो को यह संदेह रे॥

❀ ❀ ❀

हम तो तुमरी दासी सजना, तुम हमरे भरतार।
दीन दयाल दया करि आओ, समरथ सिरजनहार॥
कै हम प्रान तजत हैं प्यारे, कै अपना कर लेव।
दास कबीर विरह अति बाढ़ेउ, हमकै दरसन देव॥

कबीर ने 'चार मुकाम' आदि सूफी शब्दावली का भी प्रयोग किया है और कुछ पंक्तियाँ जैसे 'मुरशिद नैनों बीच नबी है, स्याह सफेद तिलों बिच तारा अविगत अलख रवी है,' अवश्य सूफी शैली से प्रभावित हैं।

कबीर की देन—इन प्रभावों के वर्णन करने से मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि कबीर में कुछ अपना नहीं है। मनुष्य

दूसरों में से वही चुनता है जिसमें उसकी रुचि होती है। कबीर सच्चे सन्त की भाँति* सारग्राही थे। उन्होंने सार-ग्रहण ही नहीं किया वरन् समन्वय भी किया। उन्होंने अपने समय की आवश्यकता को पहचाना। वह थी—हिन्दू-मुसलमानों को एक-दूसरे के निकट लाना और शूद्रों को, जिनकी स्थिति उस समय धोबी के कुत्ते की सी, जो न घर का होता है, और न घाट का, होरही थी (वे लोग मुसलमानों में इसलिए दुतकारे जाते थे कि वे हिन्दू थे और हिन्दुओं में इसलिए अपमानित होते थे कि वे शूद्र थे), उन्होंने ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया। उन्होंने वेदान्त के ज्ञान को व्यवहार में भी अपनाया, शास्त्र-ज्ञान की अपेक्षा अनुभवी ज्ञान को महत्ता दी, कथनी और करनी के विच्छेद का विरोध किया और मनुष्य को, मनुष्य का, मनुष्य के नाते आदर करना सिखाया। कबीर ने राम और रहीम, आदम और ब्रह्मा को एक बता कर हिन्दू-मुसलमानों को एक दूसरे के निकट लाने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न में वे शायद बहुत सफल भी होते यदि वे निर्भीकता पूर्वक दोनों के दोषों का उद्‌घाटन न करते। किन्तु सच्चा सुधारक सत्य बोलने से नहीं डरता। वे उन दोनों जातियों के मिथ्या गर्व को जिसके कारण वे एक दूसरे के निकट नहीं आने पाते थे दूर करना चाहते थे। कबीर का प्रयत्न निष्फल नहीं गया। वह अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और दारा में फलवान हुआ। कबीर ने हिन्दुओं और मुसलमानों की धर्म-पुस्तकों का यदि खण्डन किया है तो इसलिए कि लोग उनका तत्व नहीं समझते। उन्होंने उसी को झूठा कहा जो विचार नहीं करता और भेदबुद्धि रखता है—

---

*साधू ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाय।
सार-सार को गहि रहै, थोथा देइ उड़ाय॥

वेद किताब कौन किन झूठा, झूठा जो न विचारै ।
सब घट माँहिं एक करि लेखै, मैं दूजा करि मारै ॥

कबीर की साहित्यिकता—कबीर के लिए कविता प्रचार का साधन मात्र थी। उन्होंने कविता के लिए कविता नहीं की वरन् उसे अपने भावों को जनता तक पहुँचाने का माध्यम बनाया। उनके हृदय में सचाई थी और आत्मा में बल था। इसी कारण उनकी वाणी में भी शक्ति आ गई। सच्चे हृदय से निकली हुई बात स्वयं सरस होती है। वह बाहरी उपकरणों की परवाह नहीं करती किन्तु उसमें अलङ्कारादि स्वयं ही आ जाते हैं। यद्यपि कबीर ने कहा है—'मसि कागद तो छुयो नहिं, कलम गही नहिं हाथ।' यथापि वे बहुश्रुत थे। वे भारत की शास्त्रीय और साहित्यिक परम्परा में [प]गे हुए थे। वे परा-पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी वाणी के चार भेदों को और जहद अजहद और जहदाजहद लक्षणा के तत्वमसि पद में प्रयोग को जानते थे। संस्कृत वे चाहे न जानते हों लेकिन उनके छन्दों में बहुत से प्रचलित श्लोकों के भाव ज्यों के त्यों उतर आये हैं। उनके उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

कबीर—

सब बन तौ चन्दन नहीं, सूरों का दल नाहिं ।
सब समुद्र मोती नहीं, यों साधू जग माहिं ॥

संस्कृत की उक्ति—

शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे ।
साधवो नहि सर्वत्र चन्दनं न वने वने ॥

कबीर—

वृच्छ कबहुँ नहिं फल भखै, नदी न संचै नीर ।
परमारथ के कारने, साधुन धरा सरीर ॥

संस्कृत—

यह भी एक श्लोक की छाया है। वह श्लोक इस प्रकार है—

पिबन्तिनद्यः स्वमेवनाम्भः
स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षः
नादन्ति शस्यं खलुवारिवाहः
परोपकाराय सतां विभूतयः ॥

कबीर—

सब धरती कागद करूँ, लेखनि सब बनराय।
सात समुंद की मसि करूँ; गुरु गुन लिखा न जाय ॥

संस्कृत—

असितगिरि समस्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे।
सुरतरुवर शाखा लेखिनी पत्रमुर्वी ॥

महिम्न स्तोत्र की इस उक्ति को सूर और तुलसी के अपनाने से पूर्व कबीर ने अपनाया था।

कबीर—

पंगुल मेरु सुमेरु उलंघै त्रिभुवन मुक्ता डोलै।
गूँगा ज्ञान विज्ञान प्रकासै अनहद वाणी बोलै ॥

संस्कृत—

मूकं करोति वाचालं पगुं लंघयते गिरिम्।
यत्कृपया तमहमं बन्दे परमानन्द माधवम् ॥

सूर ने भी इसकी छाया ली है।

कबीर—

बालपना सब खेलि गँवाया, तरुन भया नारी बस का रे।
बिरध भया कफ बाय ने घेरा, खाट पड़ा न जाय खसका रे ॥

इसमें शङ्कराचार्य के बाल स्तावत क्रीड़ासक्तः की प्रतिध्वनि है।

भारतीय काव्य के कवि-समयों, प्रतीकों आदि से भी कबीर भली भाँति परिचित थे। हंस का नीर-क्षीर-विवेक मलयागिरि पर सब वृक्षों का चन्दन हो जाना, चन्द्र और कुमुदनी का प्रेम, जल और कमलपत्र की निर्लिप्तता, चातक की अनन्यता जिसको तुलसीदासजी ने अपनी चातक चौंतीसी में अपनाया है, सेमर के फूल की निस्सरता जिसका सूर ने अपनी चेतावनियों में उपयोग किया है आदि कवि प्रशस्तियों से वे परिचित थे।

भाव-सुकुमारता में भी कबीर अपने परवर्ती कवियों से कम न थे। नीचे की सी भाव-सुकुमारता बिहारी में भी मुश्किल से ही मिलेगी। अलौकिक प्रेम में इतनी सरसता लाना कठिन है।

सुपने में साँईं मिले, सोवत लिया जगाय।
आँखि न खोलूँ डरपता,मत सुपना ह्वै जाय॥

स्वप्न को अभिधार्थ और लक्ष्यार्थ के मिल जाने से विशेष चमत्कार उत्पन्न हो जाता है।

साँईं केरे बहुत गुन लिखे जो हिरदे माहिं।
पिउँ न पानी, डरपता, मत वै धोए जाँहिं॥
नैनों अन्तर आव तू नैन झाँपि तोहि लेंव।
ना मैं देखों और को ना तोहिं देखन देंव॥

यह है प्रेम का एकाधिकार।

कहीं-कहीं कबीर ने शब्द-चित्र भी सुन्दर खींचे है, एक गङ्गा स्नान को जाने वाली का चित्र देखिए:—

चली है कुलबोरनी गङ्गा नहाय।
सतुआ बराइन बहुरी भुजाइन घूँघट ओट भसकत जाय।
गठरी बाँधिनि मोठरी बाँधिन, खसम के मूँडे दिहिन धराय॥

कबीर का अभिव्यक्ति पक्ष चाहे सूर तुलसी और केशव का सा न हो किन्तु जो कुछ है वह इतना पर्याप्त है कि वे किसी रियायत से नहीं वरन् ईमानदारी से कवि कहे जा सकते हैं।

यद्यपि कबीर में अलङ्कार प्रयत्न से नहीं लाये गये हैं तथापि उनकी रचनाओं में उनका अभाव नहीं है। स्वाभाविक होने से उनमें और भी चमत्कार है। रहस्यवाद तो गूँगे के गुड़ की भाँति वैसे भी सैना-बैना की वस्तु है। उसमें रूपक और अन्योक्तियों से ही काम लिया जाता है। उनकी अन्योक्तियाँ बड़ी सरस हैं।

अन्योक्ति —

हंसा प्यारे ! सरवर तजि कह जाय ?

जेहि सरवर बिच मोती चुनते, बहु विधि केलि कराय ॥
सूख ताल पुरइन जल छोड़े, कमल गयो कुम्हिलाय।
कह कबीर जो अबकी बिछुरे, बहुरि मिलै कब आय ॥

काहे री नलिनीं, तू कुम्हिलानी, तेरे ही नालि सरोवर पानी।
जल में उत्पत्ति जल में बास, जल में नलिनी तोर निवास ॥

इस अन्योक्ति द्वारा कबीर ने यह बतलाया है कि जीव आनन्दमय ब्रह्म का अङ्ग होता हुआ भी माया और अविद्या के कारण ही दुखी रहता है—

'धन मैली पिय ऊजला लागि न सकौं पाय।'

यह धन स्त्री (जीव) के लिए आया है, कहने का तात्पर्य यह है कि जीव पापी है और परमात्मा निष्पाप है, फिर किस तरह मिलन हो ?

अनुप्रास—

'गगन घटा गहरानी साधो गगन घटा गहरानो।'

❀ ❀ ❀

'ऐंचत तार मरोरत खूँटी निकसत राग हजूरे का'

यमक—

कबिरा सोई पीर है, जो जानै पर पीर।
जो पर पीर न जानई, सो काफिर बेपीर॥

अतद्गुण—

सन्त न छोड़े सन्तई, कोटिक मिलैं असन्त।
मलया भुजँगहि बेधिया, सीतलता न तजन्त॥

विरोधाभास—

'सिर राखे सिर जात है'

कबीर की उलटवासियों में इसकी ध्वनि रहती है।

मालोपमा—

जल ज्यों प्यारा माछरी, लौभी प्यारा दाम।
माता प्यारा बालका, भक्त पियारा नाम॥

गोस्वामीजी ने भी इसी भाव को कुछ हेर-फेर से अपनाया है। रस की दृष्टि से उनके हठयोग के वर्णन केवल परिचय हैं किन्तु उनके विरह निवेदन सम्बन्धी पद काफी सरस हैं। छन्द की दृष्टि से चाहे कबीर में दोष दीखते हों किन्तु कबीर में कवि-हृदय अवश्य था।

भाषा—कबीर ने अपनी बोली को पूर्वी (बोली मेरी पुरब की) कहा है। उसमें पूर्वी प्रयोग जैसे सम्बन्धकारक में कर, केरा, क आदि क्रियाओं में दिहिन, खाइन, गैले, रंगैले, दीन्हा, आदि, अब, जब, तहँ आदि अव्ययों, मोर, तोर सर्वनाम की

बहुतायत है किन्तु वास्तव में उनकी भाषा सधुक्कड़ी या खिचड़ी भाषा है। उनकी भाषा में पंजाबी, गुजराती, राजस्थानी के भी प्रयोग हैं। 'चन्दन होसी बावना नीम न कहसी कोय' यह राजस्थानी का ही प्रभाव है। कुछ पद तो शुद्ध व्रजभाषा के हैं जो सूर की भाषा से टक्कर ले सकते हैं। टक्कर लेने की दूसरी बात रही, दो एक पद जैसे 'करमगति टारे नाहिं टरी। मुनि बसिष्ठ से पंडित ज्ञानी साध के लगन धरी॥' कबीर और सूर में समान रूप से मिलते हैं। या तो इनको सूर ने कबीर से लिए या कबीरपन्थियों ने इनको कबीर के ग्रन्थों में मिला दिया। 'अपनपो आप ही बिसरों। जैसे सोनहा काँच मन्दिर में भरमत भूँकि मरो।' यह पद भी ऐसा ही है। कबीर में खड़ी बोली के प्रयोग पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। 'अजब जमाना आया रे' इक प्रेम रस चाखा नहीं, अमली हुआ तो क्या हुआ' खड़ी बोली के अच्छे उदाहरण हैं। कबीर में कहीं-कहीं फारसी-अरबी के शब्द जैसे अजब, फहम, (समझ), वाकिफ, गुल, चमन, दीदार, प्रचुरता से मिलते हैं। एक दो स्थान पर 'कहत कबीर भी नहीं है' 'कहते कबीरा है' 'कहते कबीरा हैं सही, घट, घट में साहब रम रहा' यह तो शुद्ध हिन्दुस्तानी का नमूना है। इसलिए कबीर की भाषा को खिचड़ी कहना ही ठीक है।

उलटवासियों (जैसे पानी बिच मीन प्यासी अर्थात् ब्रह्म का अंश होते हुए भी जीव का अज्ञानी रहना अथवा बाप-पूत की नारि एक एकै माय बिआय, यहाँ नारी से अर्थ है माया) या सांकेतिक पदावली के सिवाय (जैसे लेजु सुषम्ना नाड़ी के लिए, चरखा शरीर के लिए, पनिहारी इन्द्रियों के लिए, जल माया के लिए) कबीर की भाषा प्रसाद गुण पूर्ण है। उसमें ओज और माधुर्य की कमी नहीं है।

सूफी कवि—मलिक मुहम्मद जायसी

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—बाबर के समय में मुगल साम्राज्य की नींव पड़ी। एक दूसरे के समझने का तथा हिन्दू-मुसलिम ऐक्य का प्रयत्न तो पहले से आरम्भ हो गया था जिसका फल हम कबीर की वाणी में देखते हैं किन्तु बाबर के समय से यह भावना शासक वर्ग में भी आगई थी। इसने मुसलमानों को और भी मुलायम बना दिया। इस मुलाइमियत का परिचय हम को सूफियों के प्रेम-गाथा काव्य में मिलता है।

सगुण और साकारवाद में तो हिन्दू-मुसलिम ऐक्य की सम्भावना नहीं हो सकती थी किन्तु हिन्दुओं का निर्गुणवाद मुसलमानों के एकेश्वरवाद के निकट था। कबीर ने उसी को राम-रहीम की एकता का आधार बनाया और उन्होंने दोनों को फटकार कर 'इन दोउन राह न पाई' दोनों का गर्व दूर करना चाहा किन्तु यह बात दोनों को न रुची। इसके अतिरिक्त ज्ञान मार्ग में शुष्कता अधिक थी। कबीर ने निर्गुण पर प्रेम और माधुर्य का आवरण चढ़ाया किन्तु वह उनकी झीनी-बीनी चररिया की भाँति इतना झीना था कि निर्गुण की शुष्कता छिप न सकी। कबीर की शून्य महल की सेज सूनी ही पड़ी रही। प्रेममार्गी कवि प्रेम की भावना लेकर आये जो ज्ञान की अपेक्षा हृदय के अधिक निकट था। उन्होंने कथाओं का आधार लिया जो केवल सिद्धान्तवाद से अधिक रोचक और हृदय-ग्राह्य होती हैं। जायसी इस प्रेममार्गी कविता के मूल प्रव-

त्तक तो नहीं थे किन्तु उनमें प्रमुख थे। उन्होंने भी हिन्दू-मुसलिम ऐक्य की समस्या ली किन्तु अधिक कोमलता और काव्यमयता के साथ, देखिए:—

विरिछ एक लागी दुइ डारा, एकहिं ते नाना परकारा।
मातु के रकत पिता के बिन्दू, उपने दुवौ तुरक औ हिन्दू॥

जीवन वृत्त—

जायसी के ग्रन्थों में उसके जन्म और जीवन के सम्बन्ध में थोड़ा-बहुत उल्लेख आता है। उन्होंने आखिरी कलाम में लिखा है:—

भा औतार मोर नौ सदी।
तीस बरस ऊपर कवि बदी॥

यदि यह पाठ ठीक मान लिया जाय तो इसके आधार पर हम यह कह सकते हैं उनका सन् ६०० हिजरी में हुआ था और तीस वर्ष की उम्र में उनकी गिनती कवियों में होने लगी थी। उनकी पद्मावत लिखे जाने की तिथि के सम्बन्ध में दो मत हैं—फारसी लिपि में लिखे हुए होने के कारण उसको नौ सौ सत्ताइस भी पढ़ सकते हैं और नौ सौ सेंतालीस भी। उसमें शेरशाह सुलतान की 'बादशाहे वक्त' के रूप में बन्दना आई है—'सेरसाह देहली सुलतानू, चारिउ खंड तपै जस भानू' शेरशाह का शासन काल ६४७ में ही प्रारम्भ होता है। यदि जन्म सन् ६०० हिजरी में माना जाता है तो सत्ताइस वर्ष की अवस्था में ऐसी प्रौढ़ पुस्तक का लिखा जाना कम सम्भव प्रतीत होता है। सन् ६०० हिजरी करीब सन् १४६२ ईसवी के बैठता है, यही जायसी की जन्म तिथि मानना चाहिए। उनका 'आखिरी कलाम' सन् ६३६ हिजरी में लिखा गया था।

उनका निवास स्थान जायस में था उसका उल्लेख इस प्रकार आता है:—

जायस नगर धरम अस्थानू।
तहाँ आय कवि कीन्ह वखानू॥

ऐसा मालूम होता है कि जायस उनका जन्म स्थान नहीं था, वे वहाँ पर कहीं से आकर रहे थे। इनको यहाँ सत्संग मिला। यहाँ वे आये चार दिन के महमान होकर (इस का लाक्षणिक अर्थ भी हो सकता है) 'तहाँ दिवस दस पहुने आएऊँ भा वैराग बहुत सुख पाएऊँ'। वे निजामउद्दीन औलिया की शिष्य परम्परा में दीक्षित थे और उनके ग्रन्थों से मालूम पड़ता है उनके दीक्षा-गुरु का नाम सैयद अशरफ जहाँगीर था। उनका उन्होंने बड़े आदर के साथ उल्लेख किया है।

सैयद अशरफ पीर पियारा।
जेहि मोह पंथ दीन्ह उजियारा॥

जायसी वृद्ध होकर मरे होंगे। उन्होंने अपनी वृद्धवस्था का उल्लेख इस प्रकार किया है:—

मुहमद विरिध वैस जो भई।
जोवन हुत, सो अवस्था गई॥
बल जो गएउ कै खीन सरीरू।
दृष्टि गई नैनहि देइ नीरू॥
दसन गए कै पचा कपोला।
वैन गए अनुरुच देइ बोला॥

काजी नसरुद्दीन हुसैन जायसी ने जायसी की मृत्यु तिथि चार रजब ९४९ हिजरी बतलाई है। यदि उनका जन्म सन् ९०० माना जाय तो वे मृत्यु के समय ४९ वर्ष के होंगे किन्तु ऊपर के

वर्णन से मालूम होता है कि 'उन्होंने बड़ी उम्र पाई थी। ४६ वर्ष की अवस्था में ऐसी दशा का होना कम सम्भव है।

ग्रन्थ—जायसी ने तीन ग्रन्थ लिखे हैं।

१) आखिरी कलाम (२) पद्मावत (३) अखरावट। आखिरी कलाम उन्होंने ३६ वर्ष की अवस्था में लिखा था।

नौ सै बरस छत्तीस जो भए।
तब एह कथा आखर कहे॥

आखिरी कलाम में क़ियामत के समय हजरत मुहम्मद साहब की महत्ता का वर्णन है। उन्होंने अपनी उम्मत के (सम्प्रदाय के लोगों के) गुनाहों को अपने ऊपर लेकर अपने अनुयायियों को 'गुसाईं' परमात्मा के दर्शन कराये और बहिश्त के सुखों का उपभोग कराया।

पद्मावत--यह एक प्रेम आख्यान है। इस का पूर्व भाग जो तोता के द्वारा पद्मावती के रूप की प्रशंसा सुन कर रत्नसेन के सिंहलद्वीप जाने, और शिवजी की कृपा से पद्मिनी को प्राप्त करने से सम्बन्ध रखता है, लोक वार्त्ता पर अवलम्बित है और उत्तर भाग का ऐतिहासिक आधार है किन्तु उस भाग में कवि ने अपनी कल्पना से काम लिया है। राघव चेतन का अलाउद्दीन को लाना तथा रत्नसेन का देवपाल के हाथों मारा जाना इतिहास सम्मत नहीं है। इस ग्रन्थ पर नाथ पंथ का भी प्रभाव है। सिंहलद्वीप नाथ पंथियों की सिद्ध पीठ है। शिवजी की कृपा से पद्मिनी का प्राप्त होना भी उसी प्रभाव का द्योतक है। उसमें हठयोग सम्बन्धी वर्णन भी है 'नव पौरी पर दसकें दुवारा' आदि। इस पुस्तक में लौकिक प्रेम कथा के सहारे आध्यात्मिक तत्वों की अभिव्यक्ति की गई है।

अखरावट—अखरावट का सम्बन्ध आखरों (अक्षरों) से है। इसमें कबीर की बाराखड़ी की पद्धति पर एक-एक अक्षर से शुरू होने वाली उक्तियाँ वर्णमाला के क्रम से दी गई हैं।

प्रेम गाथाओं की परम्परा—प्रेम मार्ग की परम्परा वैसे तो ऊषा अनरुद्ध की कथा से चली आती है किन्तु उसका प्रौढ़रूप मुसलमान कवियों में ही दिखाई पड़ता है। पद्मावत में चार कथाओं का उल्लेख है। वह इस प्रकार हैं—

विक्रम धँसा प्रेम बारा। सपनावति कों गएउ पतारा॥
मधूपाछ मृगु धावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी॥
राजकुँवर कंचनपुर गएऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ॥
साधु कुँवर खंडावत जोगू। मधु मालति कँह कीन्ह वियोगू॥
प्रेमावति कहँ सुरसरि साधा। ऊषा लगि अनिरुध बर बाँधा॥

इस प्रकार कुतबन (संवत् १५५० के लगभग) की मृगावती मंझन की मधुमालती, मुग्धावती और प्रेमावती पिछली दो का अभी पता नहीं लगा है, इन चार प्रेम कथाओं का जायसी में उल्लेख आता है।

प्रेम गाथाओं की विशेषताएँ

इन प्रेम-गाथाओं की पाँच विशेषताएँ हैं (१) ये चरित्र काव्य मसनावियों के ढङ्ग पर रचे गये हैं इनके आरम्भ में खुदा रसूल, गुरु और बादशाहहे वक्त की बन्दना है और इनमें सर्गों का विभाजन नहीं है वरन् स्थान-स्थान पर घटनाओं के अनुकूल शीर्षक दे दिये गये हैं। (२) ये पूर्वी हिन्दी अर्थात् अवधी में दोहा चौपाइयों में लिखी गई हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपने रामचरित मानस में दोहा-चौपाई के ही क्रम का अनुसरण किया है। (३) ये प्रेम कहानियाँ मुसलमानों की ही

लिखी हुई हैं और इनमें मुसलमानी संस्कृति की झलक मिलती है। (४) ये सब कथाएँ हिन्दू जीवन से सम्बन्ध रखती हैं। (५) इनमें लौकिक प्रेम द्वारा आध्यात्मिक प्रेम की व्यञ्जना की गई है।

पद्मावत का महाकाव्यत्व—यद्यपि पद्मावत मसनवी ढङ्ग पर लिखी गई है और वह सर्गबद्ध नहीं है तथापि उसके प्रबन्ध कौशल, कथानक के बहुशाखायुत संघर्षमय विस्तार, प्रकृति-, चित्रण आदि वर्ण्य विषयों के समावेश, विचारों की उदात्तता रस-परिपाक और उसके सांस्कृतिक पक्ष के कारण उसको महाकाव्य की संज्ञा देना अनुचित न होगा। उसका परिणाम दुखमय अवश्य है किन्तु वह गौरव पूर्ण है। रत्नसेन ने क्षत्रिय आदर्शों के अनुकूल वीरगति पाई और उसकी रानियों ने सती होकर पतिव्रत धर्म का पालन किया। इसमें आधिकारिक और प्रासङ्गिक दोनों ही प्रकार की कथाएँ बड़े सुन्दर ढङ्ग से गुम्फित हैं। प्रासङ्गिक कथाएँ जैसे गोराबादल की कथा, राघव चेतन की कथा देवपाल दूती प्रसङ्ग आदि आधिकारिक कथा के अग्रसर करने में सहायक हुई हैं। यद्यपि लम्बे वर्णन कहीं-कहीं कथाप्रवाह में बाधक हुए तथापि प्रबन्ध-निर्वाह सुन्दर ढंग से हुआ है कोई प्रसङ्ग अनावश्यक होकर नहीं आया है। समुद्र से जो रत्न मिले थे वे भी अलाउद्दीन की भेंट में काम आये।

रत्नसेन का बन्दी बना कर दिल्ली भेजा जाना यद्यपि इतिहास विरुद्ध है तथापि वह कथा वस्तु के निर्वाह में अधिक सहायक होता है। उसके बिना दूती और जोगिन का वृत्तान्त, रानियों का विरह और विलाप, तथा गोरा बादल के प्रयत्नों के वर्णन में वह व्यापकता नहीं आती जो इस प्रकार से लाई जासकी है। आधिकारिक कथा के दो भाग है—पद्मावती की

प्राप्ति में नायक को फल सिद्धि हो जाती है किन्तु विवाह के पश्चात् से सती होने तक की कथा कम महत्व की नहीं है। विपत्ति की कसौटी पर प्रेम की परीक्षा होती है—पद्मावती के प्रेमकी परीक्षा और उसके बुद्धि कौशल का उद्घाटन दूसरे भाग में ही होता है। इस प्रकार ये दो कथाएँ न होकर एक ही कथा के आवश्यक अङ्ग है। मृत्यु का चिर आध्यात्मिक मिलन के पूर्व भौतिक-मिलन आवश्यक था। यही दोनों कथाओं की अन्विति है। सती होना आत्म बलिदान की चरम सीमा है—यही फल सिद्धि है।

वियोग वर्णन—पद्मावती में प्रेम के संयोग और वियोग पक्ष दोनों का अच्छा परिपाक हुआ है किन्तु उसमें प्रधानता वियोग पक्ष की ही है। नागमती का एकाङ्गी विरह और रत्नसेन और पद्मावती का उभय पक्षी विरह यद्यपि अत्युक्तियों से पूर्ण है तथापि बड़ा मार्मिक है। अत्युक्तियों का शाब्दिक अर्थ न लेकर लाक्षणिक अर्थ लगाया जाय तो उनकी हास्यास्पदता बहुत अंश में दूर हो जाती है। यद्यपि हेतूत्प्रेक्षा (जैसे कौआ काला तो है ही किन्तु उसके कालेपन का कारण विरह बतला दिया गया) के कारण हास्यास्पदता किसी अंश में कम हो गई है तथापि बिहारी के से वस्तुस्थिति में अन्तर डालने वाले स्थलों का भी जायसी में अभाव नहीं है, देखिए:—

जेहि पंखी के नियर होइ, कहै विरह को बात।
सोइ पंखी जाइ जरि, तरिवर होंहि निपात॥

संवेदना के कारण प्रतीति में अन्तर आना तो स्वाभाविक है ही—'जानहुँ अगिनि के लगे पहार।' किन्तु जहाँ वस्तु स्थिति में अन्तर डाला गया है वहाँ, जैसा ऊपर कहा गया है लाक्षणिक अर्थ लगाना अधिक युक्तियुक्त होगा। जायसी ने विरह की

व्यापकता सारे संसार में दिखाई है। सारा संसार विरही के साथ विरहमय हो जाता है—

नैनन चली रकत कै धारा, कंथा भीज भएउ रतनारा
सूरज बूढ़ि उठा हुइ ताता, औ मजीठ टेसू बन राता॥
औ बसन्त राता वनसपती, और राते सब जोगी जती॥

इस प्रकार प्रकृति द्वारा सहानुभूति का प्रदर्शन कराने को रस्किन ने संवेदना का हेत्वाभास (Pathetic falacy) कहा है तथापि इसके द्वारा व्यक्ति और उसके वातावरण में साम्य आ जाता है और प्रकृति के चेतनाधार की व्यञ्जना होने लगती है। सूर ने इस विषय में कुछ अधिक मर्यादा से काम लिया है। सूर ने प्रकृति के वे ही अङ्ग लिए हैं जो कृष्ण से सम्बन्धित थे। जमुना ही 'विरह जुर' से काली होती है। उन की गोपियाँ मधुवन स ही पूछती हैं—'तुम कत रहत हरे'

आचार्य शुक्लजी ने रत्नसेन के मिलन से पूर्व के प्रारम्भिक विरह-वर्णन को अस्वाभाविक बतलाया है और उस तरह के प्रेम को प्रेम न कह कर लोभ कहा है। वे इस विषय में अलाउद्दीन और रत्नसेन में कोई अन्तर नहीं पाते। दोनों ही रूप के लोभी हैं किन्तु पीछे का वृत्तान्त रत्नसेन को प्रेमी सिद्ध कर देता है। यद्यपि यह बात ठीक है कि शाब्दिक गुण-वर्णन या चित्र-दर्शन प्रत्यक्ष-दर्शन की बरावरी नहीं कर सकता है तथापि ऐसी परम्परा पहले से भी रही है दमयन्ती ने भी हंस के द्वारा नल का वर्णन सुना था फिर जायसी के रत्नसेन को ही रूप का लोभी ठहराना उसके साथ अन्याय होगा। इसके अतिरिक्त यह खराबी जो हुई है वह रूपक निर्वाह के कारण है। गुरू के शाब्दिक उपदेश से साधक के मन में प्रेम जाग्रत हो उठता है।

रूपक के निर्वाह के कारण ही यह मनोवैज्ञानिक अस्वाभाविकता आ जाती है।

यद्यपि पद्मावती के प्रेम में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है तथापि नागमती के विरह में एक विशेष तीव्रता और मार्मिकता है। नागमती को पति वियोग तो था ही किन्तु सपत्नी के प्रति ईर्ष्याभाव ने उसको और भी तीव्र बना दिया था फिर भी नागमती में एक विशेष आत्म-त्याग है जो उसको बहुत ऊँचा उठा देता है:—

मोह भोग सों काम न वारी, सौंह दिस्टि की चाहन हारी।

नागमती के विरह-वर्णन में ऐन्द्रिकता की अपेक्षा मानसिक पक्ष का प्राधान्य है—उसका दैन्य बड़ा मर्म-भेदी है 'पुष्य नखत सिर ऊपर आवा, हौं विन नाह मन्दिर को छावा।' में लोक पक्ष तो नाम को ही है (आचार्य शुक्लजी तो लोक पक्ष के विशेष भक्त थे इसलिए वे उसे यहाँ भी घसीट लाये हैं) किन्तु इसमें जो दैन्य और पति पर निर्भरता की व्यञ्जना है वह अधिक महत्व-पूर्ण है।

नागमती के विरह-वर्णन में बारहमासा एक विशेष स्थान रखता है। बारहमासा की परम्परा रस-सिद्धान्त में उद्दीपन के अन्तर्गत आती है। संयोग में जो प्रकृति सुखानुभूति को तीव्रता प्रदान करती है वियोग में वही प्रकृति बदली हुई मनोदशा के कारण पूर्वानुभूत सुखों की स्मृति दिलाकर वेदना को उद्दीप्त करती है। 'बिनु गुपाल वैरिन भई कुञ्जैं' नागमती कहती है:—

खड़ग बीजु चमकै चहुँ ओरा, बुंद बान वरिसहिं चहुँ ओरा।

× × ×

कातिक सरद चंद उजियारी, जग सीतल हौं विरहै जारी॥

विरहिणी जब अपनी दशा की दूसरों की सुखमय अवस्था से तुलना करती है तब उसका दुख और भी तीव्र हो उठता है।

'अबहुँ निठुर आउ एहि बारा, परब दिवारी होइ संसारा।
सखि झूमुक गावैं अंग मोरी, हौं झुराउँ बिछुरी मोरि जोरी॥'

विरह की दशा में व्यक्ति और उसके वातावरण में पूरा सामञ्जस्य हो जाता है। उसमें व्यञ्जना यह रहती है कि जब शरीर में आकर खद ऋतु ने डेरा डाल दिया तब उससे भाग कर कहाँ जाय? सूर ने भी 'निसि दिन बरसत नैन हमारे' कह कर इस प्रकार की व्यञ्जना की थी। जायसी के वर्णन देखिए:—

बरसें मघा झकोर झकोरी, मोर दुइ नैन चुवैं जस ओरी।

× × ×

तन जस पियर पात भा मोरा, तिहि पर विरह देइ झकझोरा॥

विरह-वर्णन में कल्पना के सहारे दूर की उड़ान भी अच्छी ली गई है। नागमती के हृदय की अभिलाषा देखिए। उसमें अपने शरीर को भस्म करके प्रियतम से मिलन की आशा प्रकट की गई है—

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाय।
मुक तिहि मारग उड़ि परै, कंत धरैं जहँ पाय॥

इसमें दैन्य और उत्कंठा का सम्मिश्रण दर्शनीय है। नागमती को चाहे रूपक के निर्वाह के लिए दुनिया का धन्धा कहा गया हो तथापि उसमें हिन्दू रमणी की पति-भक्ति पूर्णरूपेण प्रस्फुटित हुई है।

संयोग शृङ्गार—जायसी को अपनी पद्मावत में जितनी सफलता वियोग-वर्णन में मिली है उतनी संयोग में नहीं। पद्मावती और रत्नसेन के प्रथम समागम के समय हास्य-विनोद का

विधान तो अवश्य किया गया है पर विनोद का भाव विकसित भी नहीं हो पाता कि रसाइनों की परिभाषाएँ और व्याख्याएँ आ दबाती हैं। बहुज्ञता-प्रदर्शन की लालसा ने रसज्ञता को आच्छादित कर दिया है, फिर भी उस वर्णन में आत्म-समर्पण की भावना के कारण सजीवता आगई है :—

साजन लेइ पठावा, आयुस जाइ न मेंट।
तन-मन जोवन साजि कै, देइ चली लेइ भेंट॥

तीनो की भेट में पूर्ण आत्म-समर्पण आजाता है। मन की ही भेट प्रधान है। सौन्दर्य का भी वर्णन देखिए :—

पदमिनि गवन हंस गए दूरी।
कुंजर लाज मेल सिर धूरी॥
बदन देखि घट चन्द सकाना।
दसन देखि कैं बीजु लजाना॥

आदि पंक्तियों में संसार भर का सौन्दर्य एकत्र दिया है पर यह सब मिलकर भी पद्मावती के सौन्दर्य के सन्मुख लज्जित है। पर यह वर्णन कवि परम्परानुसार ही है, इसमें नवीनता कुछ नहीं।

दोनों के मिलने पर आपस में जो हास्य-विनोद हुआ है उसने इस वर्णन को मुहर्रमी होने से बचा लिया है। हावों की सम्यक योजना की भी कुछ कमी है; इस कारण संयोग वर्णन में सजीवता नहीं आने पाई। छेड़छाड़ कहीं तो बढ़कर फटकार तक पहुँच गई है।

पहले पद्मावती में प्रिय समागम का भय दिखाकर उसे नवोढ़ा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। पश्चात् उसके मुख से ऐसी बातें कहलाई गई हैं जो उसे प्रोढ़ा प्रमाणित करती हैं।

पद्मावती के समागम की कुछ पंक्तियाँ अश्लील तक हो गई हैं। पर अन्यत्र भावात्मक रूप ही प्रधान रहा है।

प्रेमी और प्रेमिका के वार्त्तालाप में श्लेष और अन्योक्ति द्वारा वाक्चातुर्य दिखलाया गया है, जो कि मनोरञ्जक कदापि नहीं कहा जा सकता। इससे तो रसास्वादन में बाधा ही पड़ती है।

इस प्रकार जायसी-द्वारा वर्णित संयोग-शृङ्गार यद्यपि संजीव है, उसमें कई कमियाँ रह गई हैं। उसमें उतनी व्यापकता तीव्रता और गम्भीरता भी नहीं जितनी कि विप्रलम्भ शृङ्गार के वर्णन में है। अतः यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि 'विप्रलम्भ शृङ्गार ही पद्मावत में प्रधान है'।

अन्योक्ति वा समासोक्ति

जायसी का झुकाव सूफी मत की ओर था, जिसमें यद्यपि जीवात्मा और परमात्मा में भेद नहीं माना जाता, फिर भी व्यावहारिक रूप में ईश्वर की भावना प्रियतम के रूप में की गई है। जायसी ने अन्त में पद्मावत को अन्योक्ति कह दिया है और बीच-बीच में उनका प्रेम-वर्णन लौकिक पक्ष से अलौकिक की ओर संकेत करता जान पड़ता है। उन्होंने अपने ग्रन्थ के अन्त में कहा है:—

"तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल बुधि पदमिन चीन्हा॥
गुरु सूआ जेइ पंथ दिखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बन्धा॥
राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलादीन सुलतानू॥"

इस प्रकार प्रेम-पथिक रत्नसेन में सच्चे साधक भक्त का स्वरूप दिखाया गया है। पद्मिनी ईश्वर से मिलाने वाला ज्ञान या बुद्धि है अथवा चैतन्य स्वरूप परमात्मा है, जिसकी प्राप्ति

का मार्ग बतलाने वाला सुआ सद्गुरु है। उस मार्ग में अग्रसर होने से रोकने वाली नागमती संसार का जंजाल है। तनरूपी चित्तौड़गढ़ का राजा मन है। राघव चेतन शैतान है, जो प्रेम का ठीक मार्ग नहीं बतलाता, अपितु इधर-उधर भटकाता है। माया-ग्रस्त सुलतान माया है। पद्मावती की छाया अलाउद्दीन को दर्पण में दिखाने का भी आध्यात्मिक अर्थ लगाया जा सकता है। परमात्मा के हमको प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होते हैं। उसका दर्शन हमको संसार के दर्पण द्वारा ही होता है। इस प्रकार यह समस्त प्रबन्ध व्यंग्य-गर्भित कह दिया गया है। यह रूपक यद्यपि बहुत अंश में ठीक बैठ जाता है, तथापि इस रूपक के कारण कहीं-कहीं औचित्य का निर्वाह नहीं हो पाता। नागमती को 'दुनिया धंधा' कहना उसके साथ अन्याय है। वह सती साध्वी भारतीय पत्नी के रूप में आती है जो विलास की अपेक्षा पति के दर्शन को ही अधिक महत्व देती है 'मोहि भोग सों काम न वारी। सौंह दिस्ट की चाहन हारी।' जब पद्मावती को परमात्मा से मिलाने वाली बुद्धि या स्वयं परमात्मा मान लिया जाय तो नागमती को उससे विमुख करने वाला दुनिया का धन्धा कहा जायगा। यहाँ पर रूपक वास्तविकता का साथ नहीं देता। सब जगह रूपक ठीक नहीं बैठता। तोता यदि गुरु है तो उसे मृत्यु मार्जारी का भय क्यों? अलाउद्दीन को माया कहा गया है और नागमती को दुनिया का धंधा, माया और दुनिया का धन्धा प्रायः एक ही चीज है। रूपक के निर्वाह के लिए पद्मिनी को सिंहल द्वीप का माना है जो गोरख पंथ की सिद्धपीठ है, नहीं तो शुक्लजी के मत से वहाँ का सौन्दर्य तो आकर्षक नहीं है। वहाँ के लोग काले होते हैं।

फिर भी मोटे तौर से रूपक का अच्छा निर्वाह हुआ है किन्तु यदि व्यंग्य अर्थ को ही प्रधानता दी जाय, उसे ही प्रस्तुत

मानें तो जहाँ-जहाँ कथा प्रसंग के अतिरिक्त व्यंग्य अर्थ निकले वहाँ-वहाँ अन्योक्ति ही माननी पड़ेगी। पर ऐसे स्थल अधिकतर कथा के अंग हैं और पढ़ते समय कथा के गौण होने की धारणा किसी पाठक को हो नहीं सकती। इस प्रकार देखने से उसमें समासोक्ति माननी पड़ेगी कुल मिला कर सम्पूर्ण ग्रन्थ में अन्योक्ति भले ही हो पर विशेष स्थलों पर तो समासोक्ति ही माननी चाहिए। राजा रत्नसेन बन्दी करके देहली भेज दिया गया है। वहाँ कवि ने इस प्रसङ्ग को रखते हुए भी देहली को परलोक के रूप में प्रस्तुत किया है। यथा:—

"सो दिल्ली अस निबहुर देसू। केहु पूँछहुँ को कहै सँदेसू॥
जो कोइ जाइ तहाँ कर होई। जो आवै कछु जान न सोई॥
अगम पंथ पिय तहाँ सिधावा। जोरे गयउ सो बहुरि न आवा॥"

पर यहाँ अन्य अर्थ लेने पर भी हम प्रसंगगत घटनात्मक अर्थ को छोड़ नहीं सकते। अत: इसमें समासोक्ति ही माननी पड़ेगी। यदि दिल्ली को गौण बना कर परलोक वाले अर्थ को प्रधानता दी जाती तो अन्योक्ति हो जाती, पर यहाँ दिल्ली को गौण बनाया नहीं जा सकता। पद्मावत की कथा को हमें प्रस्तुत मानकर व्यंग्य द्वारा आध्यात्मिक अर्थ लगाते हैं।

अन्योक्ति और समासोक्ति में यही अन्तर है कि अन्योक्ति में व्यङ्ग्यार्थ को ही मुख्यता मिलती है। 'बाज पराये पानि पर तू पच्छीनु न मार।' इसमें बाज और पक्षियों को मुख्यता नहीं है। इसमें मिरजा राजा जयशाह द्वारा शाहजहाँ के आश्रय में हिन्दू राजाओं के सताये जाने की बात को मुख्यता दी है। समासोक्ति में दोनों को मुख्यता दी जाती है। अभिधार्थ को भी और उससे व्यञ्जित दूसरे अर्थ को भी। पद्मावत में दोनों की ही मुख्यता है। इसलिए उसे समासोक्ति कहना अधिक तर्क-सम्मत है

रहस्यवाद—जीव का दृश्य जगत से ऊँची किसी श्रेष्ठतम सत्ता से भावमय सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा तथा उस इच्छा की पूर्ति के साधनों तथा पूर्ति व अपूर्ति के सुख-दुख-मय अनुभवों के वर्णनों को रहस्यवाद कहते हैं। ये वर्णन 'गूँगे के गुड़' की भाँति भाषा की शक्ति से परे होते हैं और सैना-वैना द्वारा ही समझाए जा सकते हैं। नश्वर स्वर से अनश्वर के गीत गाना कोई सहज बात नहीं। यह आध्यात्मिक अनुभव लौकिक अनुभव से ऊँचा होता है। इससे रहस्य की भावना रहती है। जिज्ञासा से आरम्भ करके मिलन तक कई श्रेणियाँ हैं। कभी-कभी क्षणिक मिलन के सुख के पश्चात भी घोर विरह का सामना करना पड़ता है।

यद्यपि मुसलमानी धर्म में ईश्वर और जीव का सम्बन्ध मालिक और बन्दे का सा भयप्रधान है (कहीं-कहीं यह भी कहा गया है कि वह इतना निकट है जितनी कि गर्दन की नस) तथापि मुसलमान सूफियों के यहाँ वह सम्बन्ध प्रेम का होगया है। सूफीमत का चलन मुहम्मद साहब के प्रायः दो सौ वर्ष बाद हुआ। सूफी शब्द सूफ़ से जिसका अर्थ सफेद ऊन है बना है। सूफी लोग सादा जीवन व्यतीत करने के लिए मोटे ऊन के कपड़े पहनते थे। भारत में सूफी सम्प्रदाय का आरम्भ सिंध से हुआ। जायसी इन्ही रहस्यवादी सूफियों में से थे।

जायसी के रहस्यवाद में रहस्यवाद के प्राय: सभी अङ्ग आगये हैं। जायसी अद्वैतवादियों की भाँति एक ही सत्ता को सारे विश्व में व्याप्त पाते हैं। सारा दृश्य जगत उसी एक परमात्मा का प्रसार है 'वहुतै जोति जोति ओहि भई रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती'। जायसी में प्रेम और भावना द्वारा ही अद्वैत की सिद्धि की है। सूफी सम्प्रदाय का रहस्यवाद प्रेम द्वारा द्वैत से अद्वैत को पहुँच जाता है। उसमें कवीर का सा

बूँद और समुद्र का पूर्ण तादात्म्य नहीं है, किंतु वह प्रेम के कारण सारे संसार को आराध्यमय अथवा तुलसीदास जी के शब्दों में सियाराममय देखने लगता है।

परगट गुपुत सकल महँ पूरि रहा सो नावँ।
जहँ देखौं तहँ ओ ?, दूसर नहिं जहँ जावँ॥

जायसी एक हो ज्योति से सर्व ज्योतियों का होना मानते हैं।

जेहि दिन दसन ज्योति निरमई।
बहुतै ज्योति ज्योति ओहि भई॥

जायसी में उपनिषदों के प्रतिबिम्बवाद की झलक मिलती है—'नयन जो देखा कमल भा, हीर नख जोति'। सारा नाम-रूपात्मक जगत ब्रह्म का प्रतिविम्ब है। जायसो ने गुरु की भी महिमा बहुत जगह गाई है और इस आख्यान में कहीं तो हीरा-मन को गुरू माना है कहीं पद्मावती को। जहां पर पद्मावती को गुरू माना है वहां पर गुरू और परमात्मा को एक कर दिया है। देखिए गुरू से एकाकार होने की बात का क्या सुन्दर वर्णन है :—

जब लगि गुरु हौं अहा न चीन्हा।
कोटि अँतरपट बीचहिं दीन्हा॥
जब चीन्हा तब और न कोई।
तन मन जिउ जीबन सब सोई॥

असली साधक में अहंकार नहीं रहता उसका भी जायसी ने दिग्दर्शन कराया है।

"हौं हौं करत धोख इतराहीं। जब भा सिद्ध कहां परिछाहीं॥

जायसी में प्रेमकी पीर और मिलन की आकाँक्षा बड़ी सुन्दर रीति में दिखाई गई है। जायसी ने मिलन के सुख और वियोग के

दुख में प्रकृति का उल्लास और विषाद दिखलाया है। उन के रहस्यवाद में इतनी विशेषता है कि उसमें प्रेम की पीर दोनों तरफ एकसी दिखाई है। कबीर में प्रेम की पीर स्त्री की ओर से है और एकाङ्गी है।

जायसी में पद्मावती भी मिलन के लिए उतनी ही उत्सुक है जितना कि रतनसेन। पद्मावती रतनसेन से मिलने आती है वह रतनसेन के वक्षस्थल पर चन्दन के अक्षरों में प्रेम संदेश लिख देती है। उसी ने अपने विवाह की इच्छा प्रकट कर तोते को भेजा था। परमात्मा भी साधक से मिलना चाहता है। रतनसेन की तरह साधक ही सोता रहता है और अवसर चूक जाता है।

कबीर और जायसी के रहस्यवाद में एक और यह अन्तर है कि जायसी ने अपने आराध्य को सारे संसार में व्याप्त देखा है, और कबीर ने उसको अपने भीतर ही देखने का प्रयत्न किया है—'मो को क्या ढूढ़े बंदे मैं तो तेरे पास में' जायसी ने ईश्वर और जीव के मिलन की इच्छा को स्वाभाविक बतलाया है। जीव और परमात्मा दोनों मिले हुए थे वे अलग होगए। इसीलिए जीव में पुनर्मिलन की इच्छा रहती है।

धरती सरग मिले हुत दोय।
के दिनि मार केहि दीन्ह बिछोह ॥

पिलग्रिम्स प्रोग्रेस (Pilgrim's Progress) में जैसी साधक के मार्ग की कठिनाइयां दिखलाई गई हैं वैसी पद्मावत में भी दिखाई गई हैं, भेद इतना ही है कि पिलग्रिम्स प्रोग्रेस अन्योक्ति (Allegory) है पद्मावती में ऐतिहासिक कथानक के साथ साथ मौका आने पर अन्योक्तियों द्वारा रहस्यवाद के

सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ में थोड़ा बहुत जोग और रसायन का भी पुट आगया है। जायसी ने ब्रह्मरन्ध्र से अमृतस्राव और इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाडियो के ज्ञान का भी परिचय दिया है। सूफियों के यहाँ नाद की अधिक महिमा गाई गई है। जायसो ने भी सूफी परम्परा के अनुकूल नाद की प्रशंसा की है किन्तु उनको नाद का प्रसङ्ग घसीट कर लाना पड़ा है। जायसी ने अन्य मुसलमानों की भांति चार ही तत्व माने हैं। आकाश तत्त्व नहीं माना।

भाषा और छन्द—जायसी ने पद्मावत अवधी भाषा में लिखी है। रामचरित मानस की और इसकी अवधी में यह अन्तर है कि रामचरित मानस की पश्चिमी अवधी है और यह पूर्वी अवधी है। इसके अतिरिक्त रामचरित मानस की भाषा परिमार्जित और साहित्यिक है। जायसी की भाषा बोल-चाल की है। पद्मावत और रामचरित मानस दोनों में ही चौपाई और दोहों का क्रम रक्खा गया है किन्तु तुलसी ने चौपाइयों की सम संख्या के पश्चात् अर्थात आठ पंक्तियों के बाद दोहा रक्खा है किन्तु जायसी ने विषम अर्थात् सात के बाद दोहा रक्खा है। यद्यपि जायसी दोहा चौपाई शैली की पद्धति को प्रबन्ध काव्य में प्रतिष्ठित करने में मार्ग-प्रदर्शक कहे जा सकते हैं तथापि गोस्वामीजी का क्रम छन्द शास्त्र के अधिक अनुकूल बैठता है क्योंकि दो पंक्तियां को मिलाकर ही चौपाई बनती है। चौपाई में चार चरण होते हैं। आठ चार से विभाज्य है किन्तु सात नहीं है। तुलसीदासजी ने प्रसङ्गानुकूल और छंदों को भी अपनाया है। जायसी ने अपने को दोहे चौपाइयों में ही सीमित रक्खा है।

अलङ्कार योजना—जायसी के काव्य में विशेषकर पद्मावत में व्यञ्जना का प्राधान्य होने के कारण रूपकों और अन्योक्तियों

का तो समावेश हुआ ही है किन्तु और अलङ्कारों की भी कमी नहीं है। जायसी ने शब्दालङ्कारों की अपेक्षा अर्थालङ्कारों को अधिक महत्व दिया है। यद्यपि जायसी ने अपनी उपमाओं उत्प्रेक्षाओं को अनेकों बार दुहराया है तथापि उनमें मौलिकता और नवीनता है। जायसी को हेतूत्प्रेक्षाएँ अधिक प्रिय हैं। उनके समता मूलक अलङ्कारों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत की परस्परानुकूलता रखी गई है और इस कारण उनके अलङ्कारों में विशेष चमत्कार आ गया है जहाँ वे पद्मावती की कमलिनी से उपमा देते हैं वहाँ रूप और गुण में ही नहीं नाम में भी साम्य हो जाता है। जायसी के उपमानों द्वारा सूक्ष्म-तत्वों को भी व्याख्या हो जाती है। प्रेम को बेली तो सभी कहते हैं किन्तु जायसी बेली की पूरी व्यञ्जनाओं को प्रकाश में ले आये हैं।

प्रीति बेलि ऐसे तन डाढ़ा, पलुहत सुख बाढ़त दुख बाढ़ा।

× × × ×

प्रीति अकेलि बेलि चढ़ि धावा। दूसरि बेलि न सँचरै पावा॥

उनकी उपमाओं में कहीं-कहीं विराट की भावना की झलक आ जाती है क्योंकि उनके काव्य में आध्यात्मिक तत्व व्यङ्ग्य रहता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि उनके प्रस्तुत (उपमेय) अप्रस्तुत उपमान से कहीं ऊँचे उड़ना चाहते हैं।

दसन चौक बैठे जनु हीरा, औ बिच-बिच रँग स्याम गँभीरा।
जस भादों निसि दामिनि दीसी, चमकि उठै तस बनी बतीसी॥
वह सुजोति हीरा उपराहीं। हीरा जोति सो तेहि परछाहीं।

उत्प्रेक्षा में एक साथ प्रतीप की व्यञ्जना आ जाती है। जायसी के अलङ्कार रस के परिपाक में सहायक हुए हैं। पद्मावत में विषाद में अलङ्कार का प्रयोग कर विरह की विषमता को द्विगुणित कर दिया है। विरहिणी के प्रति करुणा जाग्रत हो

जाती है। विरहिणी को रात काटे नहीं कटती। मन बहलाव के लिए वह वीणा हाथ में लेती है किन्तु फल उलटा होता है। चन्द्र की सवारी का मृग उसके नादास्वादन के लोभ से वहीं ठहर जाता है और रात और भी बढ़ जाती है और उसके साथ विरहिणी का विरह भी बढ़ जाता है।

'गहें बीन मकु रैन बिहाई, ससि बाहन तहँ रहै ओनाई'

इस बढ़ते हुए राग के लिए सिंह का चित्र खींच कर हिरन को भगाया जाता है। इसमें भी रात्रि में बढ़ते हुए विरह की व्यञ्जना है और साथ ही द्वितीय पर्यायोक्ति का चमत्कार भी है।

पुनि धनि सिंघ उरेहै लागै। ऐसिहि बिथा-रैनि सब जागै॥

मुद्रा अलंकार में भी विरह वर्णन के साथ शाब्दिक चमत्कार आगया है इसमें पक्षियों के नाम बन जाते हैं—

धौरी पंडुक कह पिउ नाऊँ। जौं चित रोखन दूसर ठाऊँ॥
जाहि बया होइ पिउ कंठ लवा। करे मेराव सोइ गौरवा॥

जायसी में उपमानों की पुनरावृत्ति बहुत है। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं उर्दू-फारसी के प्रभाव से वीभत्सता भी आ गई है। हथेली की लाली का वर्णन देखिए:—

हिया काढ़ि जनु लीन्हेसि हाथा।
रुधिर भरी अँगुरी तेहि साथा॥

जायसी की बहुज्ञता—यद्यपि जायसी ने पाण्डित्य-प्रदर्शन में कई जगह भद्दी भूलें की हैं और उनके बहुत से वर्णन अनावश्यक भी हैं, (जैसे इन्द्र को कैलाश पर बैठाना) तथापि जायसी में लोक-व्यवहार का वैसा ही व्यापक ज्ञान दिखाई पड़ता है जैसा कि एक सिद्धहस्त कवि में अपेक्षित है। उन्होंने

नाद, रसायन, शकुन, चौसर, भोजन के पकवान आदि विशद वर्णन किये हैं। बहुत से स्थानों में उनके सूक्ष्म प्रकृ निरीक्षण का भी परिचय मिलता है, जैसे पानी सूख जाने तालाब की मिट्टी का फट जाना। एक-दो स्थलों में वैज्ञानि सिद्धान्तों का भी समावेश किया गया है, देखिए:—

चाँद कहाँ ज्योति औ करा।
सूरज के ज्योति चाँद निरमरा।

गुण सम्बन्धी विशेषताएँ—

१—जायसी में हिन्दू और मुसलिम संस्कृतियों का अपू समन्वय है। हिन्दू कथा और आदर्शों को मसनवी पद्धति ढाला गया है।

२—प्रबन्ध काव्य का अच्छा निर्वाह हुआ है। यद्य वर्णनों में विस्तार है तथापि सिलसिला कहीं नहीं टूटा है।

३—प्रेम तत्व की सुन्दर अभिव्यञ्जना हुई है। प्रेम लिए जो त्याग और आत्म-बलिदान चाहिए वह अच्छी त दिखाया गया है।

४—पद्मावत यद्यपि प्रबन्ध काव्य है तथापि उसमें व वर्णन की अपेक्षा भावों को अधिक प्रधानता दी गयी है।

५—कथोपकथन में पात्र अपनी वाक्पटुता के कार सजीव हो उठे हैं। जब रतनसेन घर लौट आया तब नागम कैसा सुन्दर उपालम्भ देती है।

तुम्ह मुख चमकै बीजुरी, मोहि मुख बरसत मेह।

दोष—

१—पुनरुक्तियाँ बहुत अधिक हैं। हर बात में रतन पदारथ चाँद, सूरज और राता आ जाते हैं।

२—अनावश्यक पाण्डित्य प्रदर्शन—लम्बे वर्णनों के कारण प्रबन्ध निर्वाह में बाधा पड़ती है।

३—अत्युक्तियों की भरमार—'रोवत बूढ़ि उठा संसारू।'

४—हिन्दू कथाओं का अपूर्ण ज्ञान।

५—च्युत संस्कृति—अर्थात् व्याकरण विरुद्ध प्रयोग 'दसन देखि बिज्जु लजाना' बिज्जु स्त्रीलिंग है।

६—फारसी के मुहावरों का हिन्दी में अनुवाद जो हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नहीं बैठता। लाल मुँह होना फारसी में प्रसन्नता का द्योतक है किन्तु हिन्दी में गुस्से का द्योतक 'होय मुख रात सत्य के बाता'।

विद्यापति का हिन्दी-साहित्य में स्थान

विद्यापति मैथिल-कोकिल के नाम से पुकारे जाते हैं मिथिल-बासियों को अपने उपवन की कोकिल पर गर्व करना उचित ही है। उसने उनके प्रांत में जिस अभिनव वसन्त की स्थापना की, उसका सुख-सौरभ सारे भारत में अपनी मादकता उत्पन्न कर रहा है। बङ्गाल तथा हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों में विद्यापति की कविता का विशेष मान हुआ है। कुछ समय तक तो वे बङ्गाली कवि ही माने गये, क्योंकि उनकी विचार-धारा उस प्रान्त की वैष्णव-परम्परा से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। बङ्गीय-वैष्णव-चेतना के प्राण-स्वरूप चैतन्य महाप्रभु इनके पदों से अधिक प्रभावित हुए थे। वे उनको सुन कर भक्ति-रसामृत-सिंधु में अवगाहन करने लग जाते थे, किंतु शास्त्रीय जाँच-पड़ताल ने उनको बंगाल का कवि नहीं ठहराया है। सकार का दन्ती उच्चारणादि कारणों से मैथिल भाषा बंगला से भिन्न मानी गयी है। उसको लोग बंगला और हिन्दी के बीच की भाषा कहते हैं बीच की भाषा की दोनों ओर खींच-तान होती है, किन्तु वह हिन्दी से अधिक मिलती-जुलती है। यदि पूर्वी क्रियाओं के रूपों को क्रमशः देखते जायँ तो हमको हिन्दी के साथ के सम्बन्ध-तन्तु सहज में ही दिखायी पड़ने लगेंगे। इसके अतिरिक्त पदावली का शब्द-भंडार भी हिन्दी से अधिक मिलता-जुलता है। हिन्दी का एक व्यापक रूप है, जिसमें खड़ी बोली, ब्रजभाषा और राजस्थानी सम्मिलित हैं। उसी प्रकार इसमें मथिल भाषा भी आ जाती है

पदावली की भाषा हिन्दी के उस प्राचीन रूप से अधिक मिलती है जो कि प्राकृत के प्रभाव से मुक्त नहीं हुई थी। यह प्रश्न भाषा-विज्ञान का है। हम विद्यापति को हिन्दी का कवि मान कर यह देखेंगे कि वे हिन्दी के कवियों में कौन-सा स्थान पाते हैं।

हिन्दी काव्य की चार धाराएँ हैं—वीर-काव्य-धारा, संत काव्य, भक्ति-काव्य, और रीति-काव्य जिसका मुख्यतया शृङ्गार से सम्बन्ध रहा है। अब प्रश्न यह उठता है कि विद्यापति को किस श्रेणी के कवियों में रखा जाय? वीर काव्यधारा से तो वह पदावली बाहर की ही चीज है।

हमारे साहित्य में तथा और साहित्यों में भी भक्ति और शृङ्गार का बहुत-कुछ सम्बन्ध रहा है। उसका कारण यह है कि हम मनुष्य और ईश्वर के सम्बन्ध को रूपकों में ही व्यक्त कर सकते हैं। वह गूँगे के गुड़ की भाँति भाषा का विषय नहीं। उसको सैना-बैना से ही समझाना पड़ता है। मानव-जीवन में जो घनिष्ठतम सम्बन्ध हैं उन्हीं के आधार पर पिता-पुत्र या प्रियतम और प्रिया का रूपक बांधा जाता है। हिन्दू कवियों की शृङ्गारिक-भावना का आधार हमको उपनिषदों में भी मिलता है—

जायया सम्परिष्वक्तो न वाह्यं वेद नान्तरम्
निदर्शनं श्रुतिः प्राह मूर्खस्तम् मन्यते विधिम्

ब्रह्मानन्द की जाया अर्थात् स्त्री के आलिंगन-सुख से तुलना की है। जयदेव ने भी शृङ्गार के सहारे ही हरि-भक्ति को ग्राह्य बनाया है। जयदेव ने स्वयं ही कहा है:—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो,
यदि विलासकलासु कतूहलम्।

मधुरकोमलकान्तपदावलीं;
शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम् ॥

बाबा तुलसीदासजी ने भी कामी के प्रेम को हरि-भक्ति का उपमान बनाया है—'कामिहि नारि पियारि जिमि' कबीर ने भी अपने को 'राम की बहुरिया' कहा है और कबीर दादू आदि संत कवियों ने खूब जी खोल कर विरह का वर्णन किया है।

प्रश्न यह है कि क्या हम विद्यापति के पदों को रूपक मान कर उन्हें सन्त कवियों के साथ रख सकते हैं? डाक्टर ग्रियर्सन ने इस मत पर अपनी छाप लगायी है:—

"God is love" is alike the Motto of the Eastern and of the Western worlds ... .The warmer climes of the tropics have led the seekers after truth to compare the love of the worshipper for the worshipped to that of the Supreme Mistress Radha for the Supreme Lord Krishna."

डाक्टर आनन्दकुमार स्वामी ने भी अपनी भक्ति-भावनावश विद्यापति के पदों को रूपकों के ही रूप में लिया है। प्रोफेसर जनार्दन मिश्र ने इसी आधार को लेकर विद्यापति की कबीर और दादू से तुलना की है। विद्यापति के 'तन आभरन बसन भेल भार' को दादू के 'बिरहनि सिंगार न भावई' से मिलया है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी इस भाव को अपनाया है। भगवान कृष्ण परमात्मा के रूप हैं और राधा जीव का प्रतीक। यह हम मानते हैं कि बहुत से पदों में यह रूपक ठीक बैठ जाता है, जैसे नीचे के पद में तथा बहुत से विरह और अभिसार के पदों में—

"हठ न करिअ कान्ह कर मोहि पार।
सब तहँ बड़ थिक पर उपकार॥
आइल सखि सब साथ हमार।
से सब मेलि निकहि बिधि पार॥"

किन्तु बहुत से ऐसे पद हैं—विशेषकर वयः—संधि और नख-शिख के जिनमें कल्पना की खींच-तान करने पर भी कठिनता से रूपक बाँधा जा सकता है। संत कवियों ने विरह का वर्णन किया है किन्तु नायिकाओं के अंग-प्रत्यङ्गों का वर्णन नहीं किया और न वस्त्रों के हटने पर अङ्गोद्‌घाटन की बात ही कही है। संत कवियों का शृङ्गार, शृङ्गार नहीं रहता, उसमें शृङ्गार बिल्कुल गौण हो जाता है। सेज-बिहार और गौना सब प्रतीक-मात्र रह जाते हैं।

डा० विनयकुमार सरकार ने अपनी Love in Hindoo Literature नामकी पुस्तक में इन पदों का आध्यात्मिक अर्थ लगाने की प्रवृत्ति का विरोध किया है :—

'But the earthly element, the Physical beauty,—the pleasures of sense are too many to be ignored'. शृङ्गारिक वर्णनों का रूपक का स्वरूप देना शृङ्गार की हीनता को स्वीकार करना है। शृङ्गारिक वर्णन भी जीवन के वर्णन होने के कारण हेय नहीं हैं।

अब शृङ्गारिक और भक्त कवि रह गये। विद्यापति किस श्रेणी में रक्खे जायँ? हमारे शृङ्गारिक कवियों ने भी राधा-गोविन्द को ही आलम्बन माना है। शृङ्गारिक और भक्त कवियों में इसी बात का अन्तर है कि भक्त कवियों में भक्ति का प्राधान्य है और शृङ्गार-वर्णन गौण तथा प्रासंगिक है। उसको

एक भव्य और ग्राह्य रूप देने के लिए राधाकृष्ण के पवित्र नामों का आश्रय दे दिया गया है।

विद्यापति की शृङ्गार-भावना में भक्ति का कितना पुट है, इसके सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ लोग तो उनमें केवल शिव की ही भक्ति देखते हैं और कुछ, जैसे बङ्गाली लोग उनकी पदावली को भक्ति रस से ओत-प्रोत देखते हैं। यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि उनकी कविता में शृङ्गार के सभी अङ्गों का वर्णन हुआ है। राधाकृष्ण को आलम्बन और आश्रय बना कर वय:संधि, दूती, वसन्त आदि शृङ्गार के उद्दीपन, संचारी तथा अनुभावों का अच्छा वर्णन आया है। विरह के सम्बन्ध में मान और प्रवास का उत्तम से उत्तम वर्णन हुआ है। इस वर्णन में कृष्ण के लिए माधव और हरि का भी प्रयोग हुआ है। क्या इससे शृङ्गारिकता के दोष का (यदि वह दोष है) परिमार्जन हो जाता है? विद्यापति की शृङ्गारिकता के पक्ष में यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने जो नख-सिख वर्णन किया है वह भक्त का सा नहीं है। देवताओं का नख-शिख वर्णन चरणों से चल कर सिर तक पहुँचता है और नख-शिख शब्द को सार्थक करता है। (देखिए विनय-पत्रिका में विन्दु-माधव का नखशिख-वर्णन) भक्त की निगाह पहले चरणों पर ही पड़ती है, शृङ्गारिक की निगाह मुख पर। किन्तु विद्यापति की निगाह मुख से कुछ नीचे पहुंची है। शायद एक पद में जिसमें रूपकातिशयोक्ति है (पल्लवराज चरण युग शोभित गति गजराजक भाने) चरणों की ओर नगाह गयी है। अब प्रश्न यह होता है कि क्या विद्यापति को राधाकृष्ण के प्रति जरा-सी भी भक्ति नहीं है। ऐसी बात नहीं है। उनको महादेव का भक्त बतलाया जाता है। बतलाया क्या जता है, कुल-परम्परा से हैं भी वे शिवभक्त। किन्तु उनकी

शृङ्गार-भावना इतनी बढ़ी हुई है कि वे शिवजी को राधा के अंगों का उपमान बनाते हैं।

"गिम गज-मोतिक हारा
काम कम्बु भरि कनक सम्भु परि
ढारत सुरसरि-धारा"

विद्यापति के लिए यह तो नहीं कहा जा सकता कि वे शिव के अधिक भक्त थे और राधाकृष्ण के कम। उन्होंने तुलसीदासजी की भाँति दोनों को एक रूप में देखा है। जिस प्रकार तुलसीदासजी ने राम को प्राधान्य देकर उनका शिव से तादात्म्य किया है, उसी प्रकार विद्यापति ने शिव को प्राधान्य देकर उनकी कृष्ण से एकता स्थापित की है।

"भल हर, भल हरि भल तुअं कला।
खनहि पितवसन खनहि बघछला॥
खन पंचानन खन भुजचारि।
खन संकर खन देव मुरारि॥

एक शरीर दुइ बांस, खने बैकुण्ठ खनहि कैलास"

इसके अतिरिक्त उन्होंने स्थान-स्थान पर कृष्ण को हरि करके लिखा है। उनको भगवान भी कहा है।

"भनहि विद्यापति सुनु बरजौवति,
हरिक चरण करु सेवा।"

इसके अतिरिक्त उन्होंने पश्चाताप भी किया है और उनके ऊपर तारने का भार भी रखा है।

"माधव, हम परिनाम निरासा।
तुहुँ जगतारन दीन दयामय
अतए तोहर बिसवासा॥"

यह कहा जा सकता है कि ऐसे पद वृद्धावस्था में लिखे गये होंगे और जिस समय नख-शिख लिखा उस समय ऐसी भावना न रही हो। सूर की भक्ति में तो कोई शङ्का नहीं करता। जयदेव भी वैष्णव कवियों में अग्रगण्य माने गये हैं। फिर अभिनव जयदेव ही भक्तों की पंक्ति में से क्यों बाहर किये जाँय? जो ऐसा पश्चाताप करता है उसके हृदय में बीज रूप से भक्ति अवश्य थी। असली बात यह है कि हमारे यहाँ भक्ति और शृङ्गारिकता में (जब तक वह प्राकृत नर के लिए न हो) कोई विरोध नहीं। मङ्गलाचरणों में कृष्ण भगवान के केलि-विनोद का उल्लेख आता है। फिर सूर और बिहारी आदि रीति-कालीन शृङ्गारिक कवियों में क्या अन्तर है? अन्तर है हृदय के उत्साह का। भक्त अपने इष्टदेव की लीलाओं के गान को अपना परम कर्त्तव्य समझता है। लीला-वर्णन कीर्तन का ही एक प्रकार माना गया है। इसी भावना से जयदेव ने और सूर ने कृष्ण भगवान का शृङ्गारिक वर्णन किया है। नख-शिख के सूर में भी वैसे ही पद हैं जैसे कि विद्यापति में। रीतिकालीन कवि कृष्ण और राधा के नाम को साधन मात्र रखते थे। उनके लिए उदाहरण उपस्थित करना मुख्य था। विद्यापति सूर और नन्ददास की पंक्ति में बैठाये जायँगे न कि देव, बिहारी और मतिराम की। इनके वर्णनों में हम अलंकार और भावों के भेद पाते अवश्य हैं किन्तु उनमें एक विशेष उत्साह और सजीवता है जो रीतिकालीन कवियों में नहीं है।

विद्यापति में अपन्हुति, (नहि मोरा जटा भार चिकुरक बेनी) व्यतिरेक (जौ श्रीखंडक सौरभ अति दुर्लभ तो पुनि काठ कठोर) रूपकातिशयोक्ति (कनक कदलि पर सिंह समारल) आदि अलङ्कार मिलते हैं किन्तु ये शब्दाडम्बर मात्र नहीं होने पाये। हमें इनमें जीवन की मधुरता और हासोल्लासपूर्ण उछल-

कूद के दर्शन होते हैं। इनमें गूढ़ व्यञ्जना की झङ्कार भी सुनाई देती है। विद्यापति के पदों में हम वह उत्साह देखते हैं जो इष्ट-देव की लीला-गान करने वाले भक्त के हृदय में होता है। उन्होंने शृङ्गारिक वर्णन को भक्ति के उल्लास-प्रदर्शन का साधन माना है।

गीत-काव्य की परम्परा में उनका बहुत ऊँचा स्थान है। तुलसी इस क्षेत्र से बिलकुल बाहर तो नहीं, किन्तु प्रतिद्वन्द्वी नहीं कहे जा सकते। उनके मुक्तक बिहारी के मुक्तकों से कुछ अधिक सम्बद्धता लिये हुए हैं। उनमें रस-परिपाक भी अच्छा हो सका है। यद्यपि सूर विद्यापति की गीत-परम्परा से प्रभावित हुए हैं, तथापि वे शक्कर हो गये हैं। हम विद्यापति को रीति-काल के कवियों से ऊँचा उठा हुआ सूर और अष्टछाप के कवियों के बीच की श्रेणी में कहीं बैठा देखते हैं। सूर और अष्ट-छाप के कवियों और विद्यापति में इतना ही अन्तर है कि सूर आदि कवियों ने राज्याश्रय का तिरस्कार किया था विद्यापति ने अपने आश्रयदाता रूप नारायण और उनकी पत्नी का बार-बार उल्लेख दिया है। विद्यापति में भक्ति के संस्कार थे। उन पर कभी-कभी उनकी शृङ्गारिकता विजय पा जाती थी। उन्होंने रीतिकालीन कवियों की भाँति केवल कला प्रदर्शन के लिए नहीं लिखा। वे रसिक भक्तों में से थे। कभी भक्ति-भावना प्रबल हो जाती थी और कभी रसिकता का पल्ला भारी होजाती थीं। तभी लोग बङ्गाल में उनको भक्त-कवि के रूप में देखते हैं और बिहार में उनको सांसारिक कवि के रूप में देखते हैं। चैतन्य महाप्रभु उनके पदों को सुनकरआनन्द-विभोर हो जाते थे—उन्हीं के द्वारा जयदेव और विद्यापति की नीति परम्परा का ब्रज में प्रवेश हुआ। 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभू मूरति देखी तिन तैसी।'

———

रसिक भक्त—महात्मा सूरदास

सूर सूर तुलसी ससि, उडगन केशव दास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकाश॥
किधौं सूर कौ सर लग्यौ, कियौं सूर की पीर।
किधौं सूर कौ पद लग्यौ, रहि रहि धुनत शरीर॥
उत्तम पद कवि गङ्ग के, उपमा को बरबीर।
केसव अरथ गँभीरता, सूर तीन गुन धीर॥

जीवन-लीला—हमारे साहित्य के सूर का भी जीवन-वृत्त अन्धकार में ही है। उनके जन्म-संवत के सम्बन्ध में अनुमान का आधार इस प्रकार से है। सूरदास जी की साहित्य-लहरी का निर्माण-काल नीचे के दोहे में दिया गया है—

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरी नन्द को लिखि सुबल सम्बत पेख॥

इसका अर्थ इस प्रकार लगाया जाता है-मुनि = ७ (सप्तर्षि) रसन (रस न) = ०, रस = (षटरस) ६, दसन गौरीनन्द को = (गणेशजी का एक ही दान्त माना जाता है) १ 'अंकानां वामतो गतिः' अंकों की गिनती उलटी तरफ से होती है। इस प्रकार साहित्य-लहरी का निर्माण-काल १६०७ बैठता है। श्री मुंशीराम शर्मा सोम ने अपने सूर-सौरभ नाम के आलोचना ग्रन्थ में रसना के अर्थ दो लगाया है क्यों कि जीभ के दो काम हैं एक बोलना और दूसरा आस्वाद करना। किंतु रसन का

अर्थ शून्य मान कर अर्थ ठीक बैठ जाता है। वह अर्थ परम्परा सम्मत भी है।

सूरसारावली और साहित्य-लहरी दोनों ही सूरसागर के बाद के ग्रन्थ हैं और दोनों ही एक प्रकार से सूरसागर पर आश्रित संग्रह ग्रन्थ हैं, अतः उनके रचनाकाल में अधिक अन्तर नहीं हो सकता।

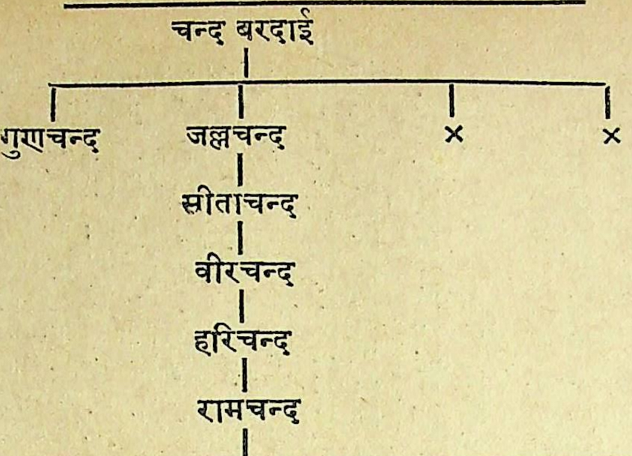
सूरसारावली के निर्माण के समय सूरदास जी ने अपनी अवस्था ६७ साल बतलायी है।

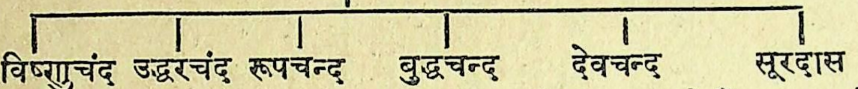
गुरु प्रसाद होत यह दरसन, सरसठि बरस प्रवीन।
सिव विधान तप करेउ बहुत दिन, तऊ पार नहिं लीन॥

यदि हम सूरसारावली और साहित्यलहरी का निर्माणकाल एक ही समय का मानें तो उनका जन्म-संवत् १६०७—६७= १५४० बैठता है। कांकरौली विद्या-विभाग द्वारा प्रकाशित की हुई हरिराय की 'भावप्रकाश' नाम की टीका की, जो चौरासी वैष्णवों की वार्ता पर है, भूमिका में सूरदासजी का जन्म संवत् १५३५ माना गया है। वल्लभ-सम्प्रदाय में लोगों का ऐसा विश्वास है कि सूरदासजी महाप्रभू बल्लभाचार्य से से १० दिन छोटे थे। बल्लभाचार्य का जन्म-संवत् १५३५ माना जाता है! यह सम्भव हो सकता है कि सूरसारावली साहित्य-लहरी के पाँच वर्ष पहले लिखी गई हो। जो कुछ भी हो सूरदास जी का जन्म-संवत् १५४० या उसके आगे-पीछे पांच वर्ष इधर या उधर हो सकता है।

सूरदासजी का निधन १६३५ के आस-पास हुआ होगा। बहत्तर वर्ष की अवस्था तक तो वे ग्रन्थ-रचना ही करते रहे। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी का गोलोक-वास १६४२ में हुआ था।

नानूरामजी के वंशवृक्ष से सूर का वंशवृक्ष





साहित्य लहरी के एक पद के आधार पर भी सूरदासजी चन्द के वंशज ठहरते हैं। उस पद में सूर ने ब्रह्मराव को अपना मूल पुरुष माना है। उसी कुल में कवि चन्द हुए थे—'तासु वंश प्रशंस शुभ में चन्द चारु नवीन, भूप पृथ्वीराज दीन्हो तिन्हें ज्वाला देश' साहित्य-लहरी के पद के अनुसार गुणचन्द चन्द के दूसरे पुत्र थे। साहित्य-लहरी के अनुसार भी हरिचन्द (हरचन्द) सूर के पितामह थे। नानूराम के वंशवृक्ष में सूर के केवल छः भाई हैं। साहित्य-लहरी में सात भाइयों का उल्लेख है। उनमें देवचन्द और बुद्धचन्द दोनों में समान हैं। यद्यपि नानूराम का वंशवृक्ष और साहित्य-लहरी का पद दोनों संदिग्ध हैं तथापि दोनों किसी अंश में एक दूसरे की पुष्टि करते हैं।

इस से पूर्व ही सूरदासजी का स्वर्ग-वास हुआ होगा क्योंकि सूरदास जी की जीवन-लीला समाप्त होते समय गोस्वामी विट्ठलनाथ जी वर्तमान थे इधर सूरदास जी का समय-समय पर गोकुल में नवनीत प्रिया के दर्शनों के लिए जाने का उल्लेख है। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी संवत् १६२८ के पश्चात गोकुल निवास करने लगे थे। इस आधार पर प्राचीन-वर्ता-रहस्य की भूमिका लेखक श्री दीनदयालजी गुप्त का अनुमान है कि सूरदास जी संवत् १६३० तक जीवित थे। इस प्रकार सूरदास जी के गोलोक-वास की तिथि संवत् १६३० और १६४० के बीच में माननी होगी।

निवास स्थान—चौरासी वैष्णवों की वार्ता के अनुसार सूरदास जी को आगरा और मथुरा के बीच में जमुना जी के किनारे गऊघाट पर महाप्रभू वल्लभाचार्य के दर्शन हुए थे (सो गऊ घाट ऊपर सूरदास रहते, तब कितने दिन पाछें श्री आचार्य जी महाप्रभू आपु अड़ेल ते ब्रज कूं पधारत हते। सो कछूक दिन में श्री अचार्य प्रभू गऊघाट पधारे) इसी आधार पर कुछ लोग गऊघाट के निकट रूनुकता को (रेणुका क्षेत्र को) जहाँ परशुराम जी ने अपनी माता को मार डाला था। उनका जन्म-स्थान मानते हैं। कुछ लोग दिल्ली के पास सीही स्थान को उनके जन्मस्थान होने का श्रेय देते हैं।

वंश परिचय—सूर के एक दृष्टिकूट के आधार पर उनको चन्द का वंशज बतलाया जाता है और इस हिसाब से वे जगात कुल के ब्रह्म भट्ट ठहरते हैं। इनके मूल पुरुष पार्थज गोत्र के जगात वंशी भाट ब्रह्मराव नाम के व्यक्ति थे। चौरासी वैष्णवों की वार्ता में उनको ब्राह्मण कहा है और हरिरायजी की भाव-प्रकाश नाम की टीका में उन्हें सारस्वत ब्राह्मण बतलाया गया

है। चन्द के चार पुत्र थे। उनमें द्वितीय पुत्र का नाम गुणचन्द्र था। उसके वंश में हरिश्चन्द्र नाम का एक सुकवि हुआ। उसका पुत्र आगरे में रहा जिसके सात पुत्र हुए। उनमें सातवें पुत्र सूरजचंद हमारे प्रसिद्ध कवि सूरदासजी हुए। 'भयो सप्तो नाम सूरजचंद मंद निकास' बाकी छः पुत्र लड़ाई में मारे गये। सूरजचंद नेत्रहीन थे वे एक रोज कुएँ में गिर गये—

सो समर करि साहि सेवक गये विधि के लोक
रहौ सूरचंद द्दग ते हीन भर वर सोक
परो कूप पुकार काहू सुनी ना संसार
सातये दिन आइ जदुपति कियो आप उद्धार

वे सात रोज तक पुकारते रहे, किसी ने नहीं सुनीं; तब सातवें दिन स्वयं भगवान ने उनको निकाला और दोनों नेत्र देकर कहा कि पुत्र वर माँग। सूरदासजी ने यही वर माँगा कि भगवान तुम्हारी भक्ति मिले, शत्रुओं का नाश हो और जिन नेत्रों से श्याम सुन्दर के दर्शन किये उन नेत्रों से और कुछ न देखूं। भगवान 'एवमस्तु' कह कर अन्तर्ध्यान होगये और कह गये कि ब्राह्मण वंश द्वारा (पेशवाओं की ओर संकेत) शत्रु का नाश होगा 'प्रबल दच्छिन विप्रकुल ते शत्रु ह्वै है नाश'। भगवान ने ही उनका नाम सूरजचन्द से सूरदास कर दिया। फिर गोस्वामी जी ने (विट्ठल नाथ जी ने) उनकी अष्टछाप में स्थापना करदी। 'थापि गोसाईं करी मेरी आठ मद्धे छाप'। अष्टछाप के कवियों के नाम इस प्रकार हैं:— सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, छीत स्वामी, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास, और नन्ददास। इनमें चार महाप्रभू बल्लभाचार्य के शिष्य थे और चार गोस्वमी विट्ठलनाथजी के शिष्य थे।

इस छन्द को प्रामाणिकता में दो बातों से संदेह किया जाता है, एक तो इसमें जो चन्द की वंशावली दी गई है वह

अन्यत्र दी हुई वंशावली से भिन्न है दूसरी बात यह है कि सूरदासजी पेशवाओं की बात आगे से किस प्रकार कह सकते थे ? ऐसा अनुमान होता है कि सूरदास नाम के और किसी कवि ने जो पेशवाओं के समय थे इस पद को बनाया था और पीछे से यह सूर के दृष्टिकूट के संग्रह में शामिल होगया। (वैसे-सूरदास नाम के तीन व्यक्ति हुए हैं, सूरदास विल्वमंगल, सूरदास मदनमोहन और सूरदास अष्टछाप वाले) इस छंद से नीचे के तथ्य निकलते हैं:—

(१) सूरदास जी ब्रह्मभट्ट और चंद के वंशज थे। इस सम्बन्ध में चौरासी वैष्णवों की वार्ता जो कि उनके ही सम्प्रदाय का ग्रन्थ है अधिक प्रामाणिक माना जाना चाहिए।

(२) सूरदास जी जन्मान्ध थे और कुएँ मे गिर पड़े थे और सात दिन बाद भगवान ने निकाला था। कुएँ में गिर पड़ने की बात के सम्बन्ध में नीचे का दोहा प्रसिद्ध है:—

बाँह छुड़ाए जात हो निबल जानि के मोहि।
हिरदै सों जब जाइहौ, मरद बदौंगो तोहि॥

इस दोहे में कवित्व तो बहुत है किन्तु इसमें एक अपभ्रंश गाथा की छाया है। इससे यह नहीं मालूम होता है कि सूरदास जी ने उसे किसी विशेष परिस्थिति में बनाया था ! यह गाथा मेरुतुंङ्ग के संग्रह-ग्रन्थ के प्रसङ्ग में आचार्य शुक्ल जी के इतिहास में इस प्रकार उद्धृत है। इसका सम्बन्ध मुञ्ज और मृणालवती के आख्यान से हैं :—

बाँहि बिछोड़वि जाहि तुहँ, देऊँ ते वइ का दोषु।
हिअयट्ठिय जय बीसरहि, जाणाऊँ मुँज सरोषु॥

अर्थात् तुम बाँह छुड़ा कर जारहे हो तुमको क्या दोष दूं ? हृदय से जब बिसर जाओगे तब मैं समझूंगी कि मुंज नारज।

होगये हैं। इस आशय का एक संस्कृत श्लोक भी सान्याल जी ने उद्धृत किया है किन्तु यह निश्चय नहीं है कि श्लोक सूर के पूर्व का है या बाद का। यह गाथा निश्चयात्मक रूप से सूर के बहुत पहले की है। उनके जन्मान्ध होने की बात भी संदिग्ध है क्योंकि यदि जन्मान्ध होते तो वे कृष्ण-लीला की ऐसी बातें नहीं लिख सकते थे जो निजी निरीक्षण पर ही निर्भर हो सकती है (जैसे बाल-कृष्ण का सोते-सोते अधर पुटों को फड़काना।) जब वे जन्मान्ध नहीं थे तो क्या आँखें उन्होंने स्वयं फुड़वालीं? (जैसी कि किंवदंती है कि उनका मन एक सुन्दर स्त्री पर विचलित हो गया था और अपने नेत्रों को ही इस विकार का कारण समझ कर उनको उसी युवती द्वारा फुड़वा लिया था। यह कथा विल्वमंगल जी के लिए भी प्रसिद्ध है)। ऐसी भी कल्पना नहीं की जा सकती। यदि आँखें उन्होंने स्वयं फुड़वाईं होतीं तो अपनी नेत्र-हीनता के लिए अपने भगवान को निम्नलिखित शब्दों से उलाहना न देते:—

मित्र सुदामा कीन्ह अयाचक, प्रीति पुरानी जानि।
सूरदास सौं कहा निठुराई, नैनन हू की हानि॥

३—गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने उनकी अष्टछाप में स्थापना की। यह बात तो प्रसिद्ध है ही।

दीक्षा—सूरदासजी महाप्रभु बल्लभाचार्य के शिष्य थे। इस बात का पहले उल्लेख हो चुका है।

कर्मयोग पुनि ज्ञान उपासन सब ही भ्रम भरमायौ।
श्री बल्लभ गुरु-तत्व सुनायो, लीला भेद बतायौ॥

चौरासी वैष्णवों की वार्ता में लिखा है कि वल्लभाचार्य से भेंट होने पर सूरदासजी ने विनय के पद 'हौं हरि सब पतितन कौ नायक' तथा 'प्रभू हौं सब पतितन कौ टीकौ' गाये। इसी

सम्बन्ध में वार्ता में आगे लिखा है 'सो सुनि कें श्रीआचार्यजी आप सूरदास सों कहे, जो सूर है कें ऐसो घिघियात काहे को हैं ? कछु भगवल्लीला वर्णन कर।'

अन्त समय—सूरदासजी अपना शरीर त्याग करने के लिए गोवर्द्धन के पास पारसौली ग्राम को चले गये थे (वही चन्द्र-सरोवर है) भगवान् के रास के लिए वहाँ उड़राज (चन्द्रमा) का उदय हुआ था, इसलिए उस स्थान का नाम चन्द्रसरोवर पड़ा।

जब गोस्वामी श्री विट्ठलनाथजी को खबर लगी तब कुम्भन दास, चतुर्भुज आदि वैष्णवों के साथ पारसौली पधारे। उस समय चतुर्भुजदास जी ने कहा कि सूरदास जी ने भगवान के एक लाख पद लिखे किन्तु आचार्य महाप्रभू के वर्णन में कुछ नहीं लिखा। तब सूरदासजी ने उत्तर दिया "मैं तो सगरौ जस श्री आचार्यजी कौ ही वर्णन कियो है जो मैं कछू न्यारौ देखतौ तौ न्यारौ करतो" गुरु का वे भगवान से ही तादात्म्य करते थे। (गुरु की महत्ता को तथा नाम महिमा को भक्ति काल के चारों सम्प्रदायों ने—ज्ञानमार्गी, प्रेममार्गी, राम भक्त और कृष्ण-भक्त कवियों ने समान रूप से स्वीकार किया था) इस के बाद उन्होंने नीचे का पद गाया।

भरोसौ दृढ़ इन चरनन केरौ ।
श्री वल्लभ नख-चन्द-छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरौ ॥
साधन और नाही या कलि में, जासो होत निबेरौ ।
'सूर' कहा कहि दुविध आँधरो, बिना मोल को चेरौ ॥

गोस्वामी जी के पूछने पर कि तुम्हारे नेत्रों की वृत्ति कहाँ पर है सूरदास जी ने निम्नोद्धृत अंतिम पद गाकर अपनी जीवन लीला समाप्त की—

खँजन नैन रूप रस माते।
अतिसय चारु, चपल, अनियारे पल-पिंजरा न समाते॥
चलि चल जात निकट स्रवनन के, उलटि-पुलटि ताटंक फँदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके, नातरु अब उड़ि जाते॥

इस पद को गाकर उनके नेत्र अंजन गुण को भी तोड़कर अपने चरम लक्ष्य को सदा के लिए पहुँच गये।

सूरदास के ग्रन्थ—सूरदासजी के पाँच ग्रन्थ माने जाते हैं। (१) सूरसागर (महाप्रभू बल्लभाचार्य सूर को सूरसागर कहा करते थे, इसी आधार पर ग्रन्थ का नाम भी सूरसागर पड़ा हो) (२) साहित्यलहरी (३) सूरसारावली (४) नल-दमयन्ती (५) ब्याहलो। सूरसागर ही उनका मुख्य ग्रन्थ है। साहित्यलहरी में दृष्टिकूट हैं। वे पद प्रायः सूरसागर में भी मिलते हैं। सूर-सारावली एक प्रकार सूरसागर का सार है। 'तादिन ते हरि लीला गाई एक लक्ष पद बन्द। ताको सार सूरसारावली गावत अति आनन्द॥' ये दोनों ही ग्रन्थ छोटे हैं। नम्बर चार और पांच अप्राप्य हैं।

सूरसागर में श्रीमद्भागवत की भाँति बारह स्कन्ध अवश्य हैं। किन्तु वह उसका अनुबाद नहीं है। डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने श्रीमद्भागवत् के अध्यायों और सूरसागर के पदों की तालिका देकर यह निष्कर्ष निकाला है कि जहाँ भागवत में ३३५ अध्यायों मे केवल ९० अध्याय कृष्ण अवतार से सम्बन्ध रखते हैं वहाँ सूरसागर के ४०३२ पदों मेंसे ३६३२ पदों में कृष्णलीला का गान हैं। शेष ४०० पदों में और अवतारों की कथा और विनय पद हैं। विनय के पद पहले स्कन्द में हैं और वे ही सबसे अधिक हैं। उनकी संख्या २१९ है। कृष्ण लीला के दो अंश हैं, एक ब्रज लीला और दूसरी द्वारिका लीला। श्रीमद्भागवत में इन

दोनों लीलाओं को समान महत्व दिया गया है। ९० अध्यायों में ४९ अध्यायों में ब्रज की लीला है और ४१ अध्यायों में द्वारिका की लीला है। किन्तु सूरसागर में ब्रज की लीला को ही महत्व दिया गया है और उस में कृष्ण लीला के ६६३२ पदों में ३४९४ ब्रज और मथुराजी की लीला के हैं और १३८ उत्तर कालीन लीला से सम्बन्धित हैं। कथा का आधार भागवत का जरूर है किन्तु सूर ने उसे अपने ही ढंग से कहा है।

कृष्णोपासना और गीति काव्य की परम्परा—विष्णु को मानने वाले वैष्णव कहलाते हैं। हिन्दू जीवन में विष्णु के अवतारों में राम और कृष्ण की बहुत मान्यता है। भारतवर्ष के इस छोर से उस छोर तक इन दोनों अवतारों की उपासना भारत की अखण्डता प्रमाणित करती है। विष्णु की महत्ता वैदिक काल ही में स्थापित हो चुकी थी। विष्णु शब्द 'विश' धातु से बना है जिसका अर्थ प्रवेश करना है। वैदिक काल में विष्णु का सूर्य से तादात्म्य रहा। श्रीमद्भगवद्गीता में भी हमको उस बात की प्रतिध्वनि मिलती है। 'आदित्यानामहं विष्णुः' वामनावतार की कथा का जो संकेत हमको ऋकृवेद में मिलता है 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा च निदधे पदं समूढ़मस्य पांसुरे' (=ऋक् १-२-७२) वह उनकी व्यापकता का द्योतक है। कृष्ण को वासुदेव भी कहते हैं और वासुदेव और विष्णु का तादात्म्य माना गया है क्योंकि दोनों का अर्थ प्रायः एकसा ही है। वासुदेव का अर्थ है—सब में बसने वाला और विष्णु का अर्थ है— बड़ा और व्यापक।

वसनात् सर्वभूतानां वसत्वाद देवयोनितः।
वासदेवस्ततो वेद्यो बृहत्वाद् विष्णुरुच्यते॥

ऋग्वेद में भी विष्णु का गौओं से सम्बन्ध रहा है। इस सम्बन्ध में डाक्टर नलिनी मोहन सान्याल ने लिखा है—ऋग्वेद

में (१, २२, १८) विष्णु गोपा नाम से अभिहित हैं। वेद ऋग्वेद (१, १५४, ६) में बहुशृङ्ग गौओं का भी उल्लेख है। इन बातों का आध्यात्मिक अर्थ चाहे और कुछ भी हो किन्तु गोपाल कृष्ण की मनमोहक कथाओं की आधार-भूमि उपस्थित करने के लिए इतना उल्लेख पर्याप्त है। छांदोग्य उपनिषद् में देवकी पुत्र कृष्ण घोर अंगिरस के रूप में प्रतिष्ठित हैं। पाणिनि के समय में वासुदेवक शब्द वासुदेव सम्प्रदाय की व्यापकता का साक्षी है। छान्दोग्य उपनिषद् में प्राप्त हुई शिक्षाओं का गीता के मन्तव्यों से साम्य के कारण छान्दोग्य और गीता के कृष्ण का तादात्म्य किया जाता है। वे चाहे एक न हों, इससे यह अवश्य प्रमाणित होता है कि कृष्ण नाम की प्रसिद्धि वैदिक काल से थी।

श्रीमद्भागवत में राधा नाम का उल्लेख नहीं है। हरिवंश पुराण में एक बार उल्लेख हैं और फिर ब्रह्मवैवर्त पुराण में (जो कि बहुत पीछे का कहा जाता है) आया है। इस बात को वैष्णव आचार्यों ने भी स्वीकार किया है। फिर भी राधा नाम का नितान्त अभाव न था। अमर कोष में विशाखा नक्षत्र का दूसरा नाम राधा है। राधा का नाम न होते हुए भी श्री कृष्ण जी की बाल और यौवन लीलाओं का माधुर्य पक्ष श्रीमद्भागवत् तथा पद्मपुराण में विकसित हो चुका था। पुराण ग्रन्थ ही नहीं कवि कुल-गुरू कालीदास भी जो अपने धर्म, कर्म और विश्वासों से शैव थे कृष्णलीला तथा मोरमुकुटधारी नटवर नागर की विहारस्थली वृन्दावन और गोकुल की भूमि के माधुर्य से प्रभावित थे। इन्द्र धनुष से सुशोभित मेघ की उपमा वे मोर मुकुट मंडित गोपवेशधर विष्णु अर्थात श्रीकृष्ण से देते हैं, देखिए:—

येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः—मेघदूत

इतना ही नहीं इन्दुमती के स्वयम्बर के मेघदूत प्रसङ्ग में रघुवंश में भी भगवान कृष्ण को सुन्दरता का उपमान बनाया गया है और वृन्दावन और गोकुल के प्राकृतिक माधुर्य का प्रशंसात्मक शब्दों में उल्लेख हुआ है:—'कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु'

कालीदास से भी पूर्व भास ने भी बालचरित में कृष्ण-लीलाओं का वर्णन किया है। गाथा सप्तशती में जो कि पाँचवीं शताब्दी का ग्रन्थ है राधा का उल्लेख है। प्राकृत गाथा का संस्कृत अनुवाद नीचे दिया जाता है।

मुखमारुतेन त्वं कृष्ण गोरजो राधिकाया अपनयन्।
एतानां वल्लवीनामन्यासामपि गौरवं हरसि ॥

यह तो अवैष्णव साहित्य की बात रही। वैष्णव साहित्य तो राधा-कृष्ण की लीलाओं से ओतप्रोत है वैष्णवों में सबसे पहले निम्बार्काचार्य ने (जन्म संवत् १२१६) राधा का उल्लेख अपने भाष्य में किया था। जयदेव ने अपने गीत-गोविन्द में राधा कृष्ण की लीलाओं का जी खोल कर वर्णन किया है (जयदेव निम्बार्काचार्य के समकालीन थे) उन्होंने अपनी कोमल-कान्त-पदावली द्वारा हरिस्मरण में सरसता रखने वालों के लिए विलास-कला-कौतूहल की ऐसी चाशनी तैयार की थी कि जिसके माधुर्य से आध्यात्मिकता की रसायन ग्राह्य बन गयी थी, देखिए वे क्या कहते हैं:—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम् ॥

यद्यपि गीत परम्परा वैदिक काल से चली आती है तथापि जयदेव ही आजकल गीत-काव्य के जन्मदाता गिने जाते हैं। विद्यापति और चण्डीदास ने उनका लोक-भाषा में अनुकरण

किया और कृष्ण-लीला के गेय पदों की सरिता प्रवाहित होने लगी। उसको चैतन्य महाप्रभु की (सं० १५४२ के लगभग) कृष्ण-भक्ति का बल मिला। महाप्रभु बल्लभाचार्य ने (जन्म सं० १५३५) श्री कृष्ण-भक्ति के लिए अपने पुष्टि मार्ग में दृढ़ आधार-भूमि तैयार कर दी थी।

इस प्रकार सूर पर दो प्रभाव थे—एक ओर तो बङ्गाल और मिथिला की अमराइयों से आई हुई गीत-काव्य की धारा और दूसरी ओर महप्रभु बल्लभाचार्य की पुष्टि मार्गी भक्ति की शाखा। इसके अतिरिक्त ब्रज की भी गीत-काव्य की धारा थी अवश्य जिसको कि यहाँ के गायक बैजू बावरे (तानसेन के गुरु) प्रभृति अपनाये हुए थे। आचार्य शुक्लजी ने उस परम्परा का एक पद अपने सूरदास नामक ग्रन्थ में दिया है।

मुरली बजाय रिझाय लई मुख मोहन तें।

गोपी रीझि रही रसतानन सौं सुध-बुध सब बिसराई।
धुनि सुनि मन मोहे, मगन भई देखत हरि-आनन॥
जीव जन्तु पसु पंछी सुर नर मुनि मोहे, हरे सबके प्रानन।
बैजू बनबारी बंसी अधर धरि वृन्दावन-चन्द
बस किये सुनत ही कानन॥

सूर तथा अन्य कृष्ण-भक्त कवियों ने भगवान् कृष्ण के माधुर्य पक्ष को (शुक्लजी की भाषा में उनके लोक-रंजक पक्ष को) अपनाया था। उसमें जीवन की वह अनेकरूपता न थी कि प्रबन्ध काव्य का विषय बन सके, माधुर्य पक्ष के प्रस्फुटन के लिए संगीत-लहरी में बहने वाली ब्रज-भाषा की कोमल-कान्त-पदावली विशेष रूप से उपयुक्त थी। भगवत्कीर्तन उन लोगों की नित्य की उपासना का रूप था। उसके लिए

स्वतःपूर्ण और एक दूसरे से स्वतन्त्र मुक्तक गेय पद ही उपयुक्त थे। इसलिए कृष्ण काव्य में उन्हीं का चलन होगया था।

सूर काव्य का सैद्धान्तिक पक्ष—जैसा कि ऊपर कहा गया है सूरदास जी वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित थे। इनके ही सिद्धान्तों से वे अधिकाँश में प्रभावित थे। उस समय और भी प्रभाव थे। शङ्कराचार्य के मायावाद का पंडित समाज पर व्यापक प्रभाव था। कृष्ण-भक्त-सम्प्रदायों में मध्वाचार्य, एवं निम्बार्काचार्य का तथा चैतन्य महाप्रभू द्वारा आये हुए जयदेव और विद्यापति का प्रभाव था। गुरु गोरखनाथ के हठयोग और कबीर के निर्गुणवाद का भी पर्याप्त चलन था। इन दोनों प्रभावों के प्रति सूरदासजी की प्रतिक्रिया तुलसी की भाँति प्रतिकूल ही रही। मर्यादावादी तुलसीदासजी अपनी प्रतिक्रिया को कुछ अक्खड़पन के साथ (अलखहि का लखहि राम नाम जप नीच) और सूर ने उसका मधुर गीत में गोपियों के मधुर व्यङ्गयों द्वारा काव्यमय ढंग से उद्घाटन किया। हिन्दी में सूरदासजी सबसे पहले सगुणोपासक कवि थे। उन्होंने अपनी सगुण उपासना का सीधा सादा कारण इस प्रकार दिया है :—

रूप रेख, गुन, जाति जुगुति बिनु निरालम्ब मन चक्रत धावै;
सब बिधि अगम बिचारहि ताते सूर सगुन पद गावै।

सूरदासजी ज्ञान के नितान्त विरोधी नहीं थे। वे भक्ति विरोधी ज्ञान के ही विरोधी थे। ऊधो से गोपियाँ भी यही कहती हैं—'भक्ति विरोधी ज्ञान तिहारो।'

वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैत के नाम से प्रख्यात हैं। ब्रह्म में सत, चित और आनन्द तीनों गुण पूर्णतया रहते हैं। सगुण ब्रह्म में ही भगवान के गुणों की पूर्णता होती है। जीव में आनन्द का थोड़ा-बहुत तिरोभाव सा रहता है, सत और

चित का आविर्भाव या प्रकाश रहता है। जड़ में आनन्द और चित् दोनों का तिरोभाव हो जाता है। केवल सत् गुण का ही प्रकाश रहता है। इस प्रकार जड़ जगत भी सत है। इन तीनों गुणों के अनुकूल ब्रह्म की तीन शक्तियाँ मानी गई हैं। आनन्द का गुण ह्लादिनी शक्ति से आता है, चित का सम्बन्ध संवित शक्ति से है और सत् का सम्बन्ध सन्धिनी शक्ति से है।

बल्लभाचार्य की सम्प्रदाय उपासना के हिसाब से पुष्टि-मार्गी कहलाती है। पुष्टि मार्ग का अर्थ अच्छे भोजनों द्वारा शारीरिक पुष्टि नहीं है वरन भगवत् अनुग्रह है। 'पोषणं तदनुग्रहः'। जिन पर भगवान का अनुग्रह होता है वे ही भक्ति के अधिकारी होते हैं और उन्हीं का निरोध होता है, अर्थात् वे ही संसार के प्रवाह से बच जाते हैं। भगवान जिनको छोड़ देते हैं वे भवसागर में पड़ जाते हैं। जिनको वे रोक लेते हैं वे ही उनके सान्निद्धय का आनन्द लेते हैं।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्नाः भवसागरे।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायांत्यहर्निशं॥

बल्लभ सम्प्रदाय की उपासना बालकृष्ण की है। वे कृष्ण को ही पूर्ण ब्रह्म मानते हैं। कृष्ण लीला में आनन्द लेना ही उनके जीवन का चरम लक्ष्य है। इसलिए तो बल्लभ कुल के कविगण कृष्ण लीला को पूरी तन्मयता के साथ वर्णन कर सके हैं। महाप्रभू बल्लभाचार्य जी ने कहा है कि जो सुख यशोदाजी तथा नन्दादिकों को गोकुल में था और जो दुःख गोपियों का था वह मुझे कभी हो भगवान ऐसा करें। जो सुख गोकुल में ब्रजवासियों तथा गोपियों को है उसको भगवान क्या मुझे भी देंगे?

यच्च सुखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां च यद्दुखं तद्दुखं स्यान्मम क्वचित ॥
गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां ब्रजवासिनाम्।
तत्सुखं समभूतन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥
(डाक्टर वर्मा के इतिहास के उद्धरण से उद्धृत)

सूरदासजी ने भी अनेकों स्थानों पर ऐसी ही भावना प्रकट की है।

दुतियां के ससि लौं बाढ़ै सिसु, देखै जननी सोइ।
यह सुख 'सूरदास' के नैननि, दिन दिन दूनों होइ ॥

सूरदासजी ने कृष्ण-भक्ति को ही मुख्यता दी है, उसके अतिरिक्त उन्होंने मुक्ति का भी तिरस्कार किया है, 'मुकुति आनि मंदे में मेली–याहि लागि को मरै हमारे, वृन्दावन पायन तर पेली' भक्ति ही सूर के लिए सर्वस्व थी। भक्ति के आगे जाति-पाँति के बंधन कुछ नहीं थे। यद्यपि सूरदासजी इस मामले में कबीर की भाँति उग्र नहीं थे तथापि वे ब्राह्मणों में, अन्धश्रद्धा भी नहीं रखते थे। उन्होने तुलसी की भाँति यह नहीं कहा—पूजिअ विप्र शीलगुनहीना, सूद्र न गुनज्ञानप्रवीना'। वे तो भक्ति के नाते श्वपच को भी गरिष्ट बतलाते हैं और भक्ति बिना ब्राह्मण का भी जन्म नष्ट हो जाना कहते हैं 'भलो जो हरि जस गावै स्वपच गरिष्ट होत पद सेवत, बिनु गुपाल द्विज जन्म नसावे'। तुलसीदासजी ने भी भक्ति के नाते निषाद और शवरी को ऊँचा उठाया है, ब्राह्मणों की थोड़ी-बहुत बुराई भी की है किन्तु उनको विप्र-पद-पूजा का जैसा आग्रह था वैसा सूर को न था। सूर ने महराने के पाँडेजी को खूब छकाया है।

बल्लभ कुल में जीब और ब्रह्म का भेद अंशांशी भाव का माना गया है। शङ्कराचार्यजी अंशांशी भाव को वास्तविक नहीं मानते हैं। बल्लभाचार्य जीव को वास्तविक अंश ही मानते हैं।

जैसे अग्नि से स्फुलिङ्ग निकलते हैं वैसे ही ब्रह्मसे जीव। ब्रह्म अंशो है और जीव उनके अंश हैं—

विस्फुलिंगा इवाग्नेर्हि जड़ जीवा विनिर्गताः।
सर्वतः पाणिपादान्तात् सर्वतोऽक्षिशिरो मुखात्॥

बल्लभाचार्य ने प्रकृति को असत् नहीं माना है। उसको ब्रह्म का ही आत्म-परिणाम माना है। माया को बल्लभाचर्य ने ब्रह्म के अधीन उसकी शक्ति माना है। माया के तीनों रूपों को अर्थात् (१) दार्शनिक रूप जिसके द्वारा संसार की सृष्टि होती है और जो ब्रह्म पर एक आवरण सा डाल देती है। इसको बल्लभाचार्य ने पीताम्बर कहा है और सूर ने कमलो। यह कृष्ण के पूर्ण दर्शन में बाधक होती है, (२) सांसारिक रूप जिसके कारण जोव सांसारिक प्रलोभनों में पड़ जाता है, और (३) माया का अनुग्रहकारी रूप जो श्रीराधाजी में केन्द्रित है। मुरली को भी सूर ने योगमाया का रूप दिया है (इस सम्बन्ध में श्री रामरतन भटनागरजो कृत सूर साहित्य की भूमिका में दार्शनिक विचार सम्बन्धो अध्याय देखिए)

सूरदासजी की भक्ति सख्य भाव की अवश्य है किंतु उसमें दैन्य की कमी नहीं है। इसकी व्याख्या कुछ लाग तो इस प्रकार करते हैं कि दैन्य के पद महाप्रभू बल्लभाचार्य से दीक्षा लेने के पूर्व के हैं और कुछ लोग सख्य के साथ दैन्य की समन्विति में कोई बाधा नहीं देखते हैं। सख्य में भी दैन्य धारण किया जा सकता है। भगवान् की कृपा के अत्यधिक आग्रह होने के कारण सूर की भक्ति में वह नीति परायणता नहीं है जो कि तुलसीदास जी की भक्ति में है।

तुलसीदासजी अपने मर्यादावाद में हिन्दू धर्म में प्रतिष्ठित अन्य दे ताओं को यथोचित मान देकर भी अपनी अनन्यता

अक्षुण्ण रक्खी है। इसके विपरीत सूरदासजी ने राम और कृष्ण का तो अभेद माना है क्योंकि वे दोनों ही विष्णु के अवतार हैं, किन्तु इन्होंने किसी अन्य देवता की स्तुति नहीं की है। जहाँ गोस्वामीजी रामचरितमानस और विनय-पत्रिका का प्रारम्भ 'जेहि सुमिरति सिधि होय' और 'गाइये गणपति जग वन्दन' से करते हैं वहाँ सूरदासजी, अपने ग्रन्थ का आरम्भ 'वन्दो चरण-कमल हरिराई' से करते हैं। सूर ने और देवताओं को रङ्क भिखारी भी कहा है, 'और देव सब रङ्क भिखारी त्यागे बहुत अनेरे' गोस्वामीजी भी इस दोष से बिल्कुल अछूते नहीं है। उन्होंने भी और देवताओं के लेन-देन के व्यवहार की बुराई की है।

सूर काव्य का भाव-पक्ष—सूर में यद्यपि कबीर की भांति कला-पक्ष की अवहेलना नहीं है, कहीं-कहीं तो सूर ने शुद्ध कला पक्ष पर भी बल दिया है, तथापि उनका भाव पक्ष-पर्याप्त रूपेण पुष्ट और मांसल है। उस पर तुलसी की भांति मर्यादा का भी बन्धन नहीं है। सूर उन कवियों में से थे जिनका हृदय रस से आप्लावित था। उनका हृदय अपनी विशालता में एक ओर अपने पात्रों से तादात्म्य रखता है और दूसरी ओर अपने पाठकों को रस-सिक्त करता है। सूर ने विशेष रूप से तीन रसों को अपनाया है—शान्त रस, वात्सल्य और शृङ्गार। वास्तव में उनके शृङ्गार और वात्सल्य भी उनकी भक्ति-भावना के अङ्ग होने के कारण भक्ति रस के ही (यदि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व माना जाय*) अन्तर्गत समझना चाहिए। उनके लिए वे भक्ति का ही अङ्ग हैं किन्तु हमारे लिए उनका लौकिक महत्व भी है।

* 'भक्तेर्देवादिविषयकरतित्वेन भावान्तरगततया रसत्वानुपपतिरिति' पंडितराज जगन्नाथ ने भक्ति को रस नहीं भाव ही माना है। देवादि विषयक रति को भाव कहते हैं।

वास्तव में उन्होंने लौकिक को ऐसा ऊँचा उठा दिया है कि उसमें एक दैवी आभा आगई है। उनके वात्सल्य वर्णन में पृथ्वी भी स्वर्ग बन जाती है। हम चाहें बाल कृष्ण को अवतारी पुरुष मानें या न मानें किन्तु उनकी बाल-लीला को पढ़ कर बरबस सूर के सुर से सुर मिला कर कहना पड़ता है—'जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ, सो नित जसुमति पावै।'

शान्त रस—सूरदासजी ने अपने सूरसागर के पहले स्कन्द में विनय के पद कहे हैं। वह एक प्रकार से सूर की विनय-पत्रिका है। उनका विनय के पदों में दैन्य और अक्खड़पन दोनों ही दिखाई देती है। वह अक्खड़पन मुँह लगे दास का सा है जो अपने स्वामी से भी दो-चार खरी-खोटी कह सकता है।

सूर के विनय के पदों में से संसार की अनित्यता, वैराग्य, पश्चाताप, उद्बोधन, सत्संगति-महिमा, ब्रज-महिमा, भगवान् पर निर्भरता आदि सब ही कुछ है। भगवान् पर निर्भरता का एक पद लीजिए—

करें गोपाल के सब होय
जे अपने पुरुसारथ मानें, अति ही झूठो सोय॥

दैन्य ग्लानि और पश्चाताप के भाव शान्त रस के सञ्चारी कहे जायँगे। नीचे के पद में तीनों भावनाएँ हैं।

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो, ऐसो नौनहरामी॥
भरि-भरि उदर विषय को धावौ जैसे सूकर ग्रामी।
हरिजन छाँड़ हरि विमुखन की निस दिन करत गुलामी॥

उद्दीपन रूप से ब्रजवास की महिमा और उसके साथ सन्तोषमयी भावनाओं के कारण नीचे के पद में शान्त रस का अच्छा परिपाक हो जाता है।

ऐसे ही बसिए ब्रज की बीथिनि।
साधुन के पनवारे चुनि चुनि उदर जु भरिए सीतनि ॥
पैंडे के बसन बीनि तन छाया परम पुनीतनि।
कुञ्ज-कुञ्ज तर लोटि लोटि रचि रज लगैं रंगीतनि ॥
निस दिन निरखि जसोदा नन्दन, अरु जमुना जल पीतनि।
दरसन सूर होत तन पावन, दरसन मिलत अतीतनि ॥

वात्सल्य रस - जो आपत्ति भक्ति के स्वतन्त्र रस मानने में है वही वात्सल्य में है। भक्ति में देवविषयक रति है तो वात्सल्य में पुत्रादि विषयक रति है इस दृष्टि से दोनों ही रस न होकर भाव के अन्तर्गत आते हैं। किन्तु वात्सल्य का चमत्कार इतना स्पष्ट है कि उसको आचार्यों ने रसों में स्वतन्त्र स्थान दिया है। इसी प्रकार वैष्णव आचार्यों ने भक्ति को भी स्वतन्त्र रस माना है। यदि मनोविज्ञान की दृष्टि से देखें तो वात्सल्य के स्थायी भाव स्नेह की जड़ हमारी सहजवृत्तियों (Insticnts) तक पहुँचती है और इसका विस्तार हमको पशु-पक्षियों में भी मिलता है। इसी कारण इसके लिए साहित्य-दर्पण के कर्ता विश्वनाथ ने 'स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः' कह वात्सल्य रस की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है। शृङ्गार के व्यापक अर्थ में वात्सल्य को उसके अन्तर्गत कर सकते हैं क्योंकि दोनों ही रीतियों में एक विशेष प्रकार की कोमलता रहती है जो एक सी होती हुई एक नहीं होती। फिर इनके आलम्बनों में भी भेद रहता है और सञ्चारी, अनुभाव आदि भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

सूर के आलम्बन बालकृष्ण हैं। उद्दीपन रूप से उनके सौन्दर्य का सूर ने दिल खोल कर वर्णन किया है। एक गोपी कृष्ण की सुन्दरता के बारे में दूसरी से कहती है—

लाल गुपाल बाल छबि बरनत कवि कुल करि हैं हाँसी री।
सोभा सिंधु अगाध बोध बुध, उपमा नाहिन और री ॥

जित देखों मन भयौ तितहिं कौं, भई भरे को चोर री।
जो मेरी अँखियाँ रसना होतीं कहतीं रूप बनाय री॥

अंतिम पंक्ति में 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' का पूर्व रूप दिखाई पड़ता है। सूर ने इस भाव को अपने भ्रमर-गीत से भी कई प्रकार से अपनाया है। 'भरे घर का चोर' एक बड़ी सजीव उपमा है। इसके द्वारा सूर ने सौन्दर्य की अनन्तता और क्षण-क्षण में नवीनता का द्योतन किया है।

आलम्बन की चेष्टाएँ उद्दीपन के अन्तर्गत मानी गई हैं। सूर ने उद्दीपन के साथ आश्रयगत अनुभावों की भी छटा दिखाई है, देखिए:—

बोलत श्याम तोतरी बतियाँ, हँसि हँसि दतियाँ दूमें।
'सूरदास' बारी छबि ऊपर, जननि कमल मुख चूमें॥

नीचे की पंक्ति में वात्सल्य के अनुभाव हैं।

बाल चेष्टाओं के एक दूसरे चित्र के साथ यशोदा में गर्व साञ्चरी की भी झाँकी देखिए। इसमें आपको बालस्वभाव का भी सुन्दर वर्णन मिलेगा।

हरि अपने आगे कछु गावत।
तनक-तनक चरननि सों नाचत, मनहीं मनहिं रिझावत॥
बाँह उँचाइ कजरी-धौरी गैयनि टेर बुलावत।
कबहुँक बाबा नन्द पुकारत, कबहुँक घर में आवत॥
माखन तनक आपने कर लै, तनक बदन में नावत।
कबहुँ चितै प्रतिबिंब खंभ में, लौनी लिये खवावत॥
दुरि देखति जसुमत यह लीला, हरखि अनंद बढ़ावत।
"सूर" स्याम के बाल-चरित ये नित ही देखत मन भावत॥

बालक दाम्पत्य प्रेम का मधुर फल है। वात्सल्य दाम्पत्य प्रेम की अंतिम परिणति है। नन्द यशोदा बालकृष्ण को अपने

पास बुलाने की प्रतिस्पर्धा करते हुए अपना हर्षमोद बढ़ाते हैं। इस में भी हर्ष संचारी व्यंजित है। नीचे के पद में बालकृष्ण की बालोचित चेष्टाएँ भी देखिए:—

कबहुँक दौरि घुटरुवनि लपकत, गिरत, उठत पुनि धावै री।
इततैं नन्द बुलाइ लेत हैं, उततैं जननि बुलावै री॥
दंपति होंड़ करत आपस मैं स्याम खिलौना कीन्हों री।

माता की अभिलाषा जिसमें भविष्य की स्थिति पर हर्ष मिला हुआ है पढ़ने योग्य है। यशोदा मैया अपनी उत्कट अभिलाषा द्वारा सुख की पेशगी किश्त सी ले लेती है। प्रसन्नता और स्नेह के अनुभव भी साथ ही साथ दिखाई देते हैं, ऐसा मालूम होता है कि उनके स्नेह की अभिव्यक्ति पूरी ही नहीं होती।

नंद घरनि आनँद भरी, सुत स्याम खिलावै।
कबहुँ घुटरुवनि चलहिंगे, कहि बिधिहि मनावै॥
कबहिं दँतुली द्वै दूध की, देखौं इन नैननि।
कबहिं कमल-मुख बोलिहैं, सुनि हौं उन बैननि॥
चूमति कर-पद-अधर-भ्रू, लटकति लट चूमति।

यद्यपि वेदांतियों ने चिंताहीन जीवन की बड़ी प्रशंसा की है तथापि कुछ ऐसी कोमल और पावन चिन्ताएँ हैं जो जीवन को सरसता प्रदान करती हैं। किसी की चिन्ता का विषय न होना और किसी को चिन्ता न करना जीवन को नीरस बना देता है।

यशोदा का चिन्ता का सबसे सुन्दर वर्णन हमको वहाँ पर मिलता है जब कि कृष्ण बसुदेव और देवकी के पास पहुँच गये हैं। उस समय विशेष चिंता करने की आवश्यकता न थी क्योंकि कृष्ण बड़े भी हो चुके थे और अपने माता-पिता के पास थे। फिर भी यशोदा का हृदय चिन्ता से उमड़ा पड़ता है और वे देवकी का अधिकार स्वीकार करती हुई भी अपनी चिन्ता प्रकट

करती हैं। यही सच्चा वात्सल्य भाव है। वे अपने प्रेमास्पद को, बड़े हो जाने पर भी अपनी चिंता का विषय होने से मुक्त नहीं समझतीं, जैसे—

सँदेसौ देवकी सौं कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की मया करत ही रहियो॥
उबटन तेल और तातो जल देखति हीं भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती क्रम क्रम कै जु अन्हाते॥
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतेहिं माखन-रोटी भावै।
जदपि टेव तुम जानति उनकी, तऊ मोहिं कहि आवै॥

अनिष्ट-शंका भी इसी चिंता का एक रूप है। ऊपर की चिंता अनावश्यक सी होती हुई भी प्रेम-प्रेरित होने के कारण अपना महत्व रखती है। उपर्युक्त पद में देवकी का पूर्ण रूप से अधिकार स्वीकार किया गया है। अधिकार स्वीकार कर लेने से चिंता की गुञ्जाइश नहीं रहती है। इसीलिए इस पद में यशोदा का संकोच बड़ा उपयुक्त और मार्मिक है।

माता को अपना बालक काला भी प्यारा लगता है। वह उस पर गर्व करती है। माता बालकृष्ण पर गर्व दिखा कर उस हीनता-भाव को दूर करना चाहती है जो उसमें बालकों के खिझाने से हुआ होगा। पहले बालक की खीझ देखिए—

मैया, मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसों कहत मोल को लीनो, तोहि जसुमति कब जायौ॥
कहा कहौं यहि रिस के मारै, खेलन हौं नहिं जातु
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तेरो तातु॥
गोरे नंद जसोदा गोरी, तू कत स्याम सरीर।
चुटकी दै-दै हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलबीर॥
तू मोहीं कौं मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै।

मोहन को मुख रिसि-समेत लखि जसुमति मन अति रीझै ॥
सुनहुँ कान्ह बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत ।
'सूर' स्याम मोहि गोधन की सौं, हौं माता तू पूत ॥

गोधन की सौगंध खाना कितना स्वाभाविक है ? बालक का मन समझाने के लिए वह बलभद्र को धूत भी कहती है। यशोदा कृष्ण की इसी खीझ को दूर करने के लिए उन पर अपना गर्व प्रकट करती है। यह गर्व दिखावटी नहीं है। यद्यपि यशोदा जानती थी कि बलराम जी कृष्ण को शुद्ध विनोद में ही खिजाते हैं तथापि वे भी थोड़ी-बहुत मर्माहत सी प्रतीत होती हैं, देखिए:—

मोहन, मानि मनायो मेरो।
हौं बलिहारी नंद-नँदन की, नेकु इतै हँसि हेरौ ॥
कारो कहि-कहि तोहिं खिझावत, बरजत खरो अनेरो।
इन्द्र नील मनि तैं तन सुन्दर, कहा कहै बल चेरो ॥
न्यारौ जूथ हाँकि लै अपनौ, न्यारी गाय निबेरो।
मेरो सुत सरदार सबनिकौ, बहुतै कान्ह बड़ेरो ॥

वात्सल्य के गर्व में और श्रृङ्गार के गर्व में थोड़ा अन्तर है। श्रृङ्गार का गर्व अहंमन्यता लिये होता है और वात्सल्य का गर्व अपने संबंध में नहीं होता, वह अपने प्रेमास्पद के सम्बन्ध में होता है।

यहाँ पर बाल-प्रकृति के अध्ययन का एक और उदाहरण लीजिए—

मैया, मैं गाय चरावन जैहौं।
तू कहि महर नंद बाबा सौं बड़ौ भयौ न डरैहौं ॥
रैता पैता मना मनुसुखा हलधर संगहिं रैहौं।
बँसी-बट-तर ग्वालनि के सँग खेलत अति सुख पैहौं ॥

ओदन भोजन दै दधि काँवरि भूख लगे तैं खैहों।
'सूरदास, है साखि जमुन-जल सौंह देंहु जु नहैहों॥

इस पद में बाल कृष्ण ने स्वयं ही माता की सब शंकाओं को आगे से सोच कर उत्तर दे दिया है। बालक के मन में जब किसी बात के लिए उत्सुकता होती है तब उसकी बुद्धि और कल्पना तीव्र गति से अपना व्यापार करने लगती है। बालक का पिता की अपेक्षा, माता से निकट का सम्बन्ध होता है। इसीलिए बाल कृष्ण सीधे नन्द बाबा से नहीं कहते वरन् माता द्वारा कहलाते हैं। बालक अपने को बड़ा समझने में सुख पाता है। 'बड़ौ भयो न डरैहौं', वाक्य द्वारा माता की भयजनित शंका का निवारण कर दिया गया है। इसीलिए वे आश्वासन दिलाते हुए कहते हैं—'रैंता पैंता मना मनसुखा हलधर संगहि रैहौं।' इसी के साथ वे अपनी निजी रुचि की बात कह देते हैं। माता यह चाहती है कि उसका बच्चा प्रसन्न रहे, इसीलिए वे कहते हैं—"बंसी-बट-तर ग्वालनि के संग खेलत अतिसुख पैहौं।" माता को बच्चे के खाने, पीने की जो चिंता रहती है उसका भी निवारण कर दिया। रही सही आशङ्का का निवारण जमुना जल में न नहाने की सौगन्ध खाकर ही कर दिया है।

सूर के वात्सल्य वर्णन की विशेषता—सूरदास के इष्ट देव कृष्ण थे, इसलिए उनकी लीलाओं के वर्णन में उनको स्वाभाविक रुचि थी सूर की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि जो कुछ उन्होंने लिखा अपने निजी निरीक्षण और अध्ययन से लिखा। उसमें उन्होंने श्री सद्भागवत का अनुकरण नहीं किया सोते हुए बालक की चेष्टाओं के सूक्ष्म निरीक्षण का एक उदाहरण लीजिए:—

जसोदा हरि पालने झुलावै।

हलरावै दुलराइ मल्हावै, जोइ सोइ कुछ गावै॥

❀ ❀ ❀ ❀

कबहुँ पलक हरि मूँद लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावै॥

सोते हुए बालक का दूध पीने की चेष्टा में अधर फड़काना स्वाभाविक है किन्तु बड़े होने पर कृष्ण नटखटी करते हैं। उनको डाट-फटकार मिलती है, दूध नहीं पीते तो उनका स्पर्द्धा-भाव जागृत किया जाता है। दूध पीकर भी जब चोटी नहीं बढ़ती, तो वे बड़े भोलेपन से पूँछते हैं, 'मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ?' वे माखन चोरी करते हैं, उलाहना मिलता है, उलूखल से बाँधे जाते हैं। उलहना देने वालियां तक को दया आ जाती है, कृष्ण जब माखन चोरी करते पकड़े जाते हैं तब कभी तो कह देते कि मैं इसे अपना घर समझ कर चला आया था या इसमें चींटी पड़ गई थी उसे निकाल रहा था। सूर ने बाल प्रकृति का अच्छा निरीक्षण किया था और उसका जैसा वर्णन किया है वैसा वे ही लिख सकते हैं जिन्होंने कि स्वयं देखा हो। दूसरी बात यह है कि यद्यपि तुलसी की भाँति सूर भी यह नहीं भूलते हैं कि उनके बाल कृष्ण ब्रह्म हैं तथापि वे उनकी बाल सुलभ न्यूनताओं, नटखटी के कार्यों तथा चापल्य का उद्घाटन करने में किसी बात से चूकते नहीं हैं। बालक का आकर्षण उसके भोलेपन, उसकी अपूर्णता और पूर्ण साम्यभाव में है। तुलसी के राम भी खेल खेलते हैं किन्तु वे अपनी ऐश्वर्योपासना के कारण यह नहीं भूल सकते हैं कि उनके राम राजकुमार हैं। तुलसी के बालक राम भी मर्यादा के बन्धन में हैं। यद्यपि तुलसीदासजी ने राम की शैशव-चेष्टाओं का वैसा ही वर्णन किया है जैसा कि सूर ने (कौशल्या भी राम को पालने में झुलाती हैं, पैदल चलना सिखाती हैं, उनके बड़े होने की अभिलाषा करती हैं) तथापि

जब राम बड़े हो जाते हैं तो वे नृपोचित वातावरण में ही खेलते हैं। रैंता-पैंता और मनसुखा की वहाँ पहुँच नहीं। वे राजकुमारों के साथ चौगान खेलने लगते हैं, और तुलसी उनके शील के उद्घाटन का मौका भी निकाल लेते हैं 'हारे हरष होत हिय भरत के, जिते सकुच सिर नयन नये।' उनके ऐश्वर्य का उद्घाटन किये बिना भी तुलसीदासजी नहीं रहते—

प्रभु वकसत गज बाजि बसन पुनि, जय धुनि गगन निसान हये।
पाइ सखा सेवक जाचक, भरि जनम न दूसरे द्वार गये॥

इसके विपरीत सूर के कृष्ण में पूर्ण साम्य भाव है। उनके सखा उनसे गायें चरवाते हैं और उनके खीझने पर उन्हें करारी झिड़की भी दे सकते हैं, देखिए:—

खेलत में को काको गुसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ॥
जाति पाँति हमसे बड़ नाहीं बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातैं, अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ॥
रूहठ करै तासों को खेलै रहे बैठ जहँ तहँ सब ग्वैयाँ।
सूरदास प्रभु खेलौइ चाहत दाँव दियो करि नन्द दुहैयाँ॥

यह साम्य-भाव तुलसी में खोजने पर भी नहीं मिल सकता है। तुलसीदासजी राम से अपने दास्य-भाव के सम्बन्ध को भूल नहीं सकते हैं। माधुर्य के लिए जो स्वतन्त्रता और अपूर्णता चाहिए वह तुलसीदास जी अपने बाल-चरित वर्णन में नहीं ला सके हैं। इसलिए वे इस क्षेत्र में सूर के बहुत निकट पहुँच कर भी उनकी बराबरी नहीं कर सकते।

संयोग और वियोग श्रृङ्गार—सूर के श्रृङ्गार की पृष्ठ-भूमि यद्यपि अध्यात्मिक है, वे राधा कृष्ण को प्राकृतिक पुरुष नहीं मानते वरन् वे उनको प्रकृति और पुरुष का रूप मानते हैं, तथापि उनके

वर्णन लौकिक हैं। सूर का उद्देश्य शृङ्गार का भौतिक आनन्द दिखाने का नहीं वरन् उसमें जो मानसिक तन्मयता आती है उसको दिखाना है। यद्यपि वे कहीं-कहीं नितान्त भौतिक धरा-तल पर उतर आये हैं तथापि कम से कम उनके लिए तथा कृष्ण-भक्तों के लिए वह आध्यात्मिक विषय ही रहा। उपनिषदों में आध्यात्मिक प्रेम का उपमान लौकिक प्रेम ही बनाया गया है 'योषाँ जारमिव प्रियं।' भरत मुनि ने भी शृङ्गारिक अनुभव को इतना ऊँचा उठाया है कि उसको, संसार में जो कुछ सुन्दर और पवित्र है, उसका उपमान बनाया है। 'यत्किञ्चित लोके मेध्यं सुन्दरं तत्सर्वं शृङ्गाररसेनोपमीयते' तथापि शृङ्गार की भी सीमाएँ हैं। सूर ने कहीं-कहीं उस मर्यादा का उलंघन किया है। हम उसका समर्थन कालिदास के कुमार-सम्भव का उदाहरण देकर नहीं करते किन्तु इतना अवश्य कहेंगे कि उन्होंने प्रेम के अंकुर के उदय होने से लगा कर उसके पूर्ण पल्लवित होने की जो श्रेणियाँ हैं उनका बड़ा मनो-वैज्ञानिक वर्णन किया है। प्रथम आकर्षण (सूर स्याम देखत ही रीझे, नैन नैन मिलि परी ठगौरी) के पश्चात एक दूसरे के परि-चय की उत्कंठा 'बूझत स्याम कौन तू गोरी, कहाँ रहति काकी तू बेटी ?' 'देखी नाहिं कहूँ ब्रज खोरी' के बाद मिलन की आवे-गमयी उत्कंठा और पूर्व राग सम्बन्धी विरह-दशाओं का बड़ा उत्कृष्ट वर्णन हुआ है, देखिए:—

चित चंचल कुँवरि राधा, खान पान गई भुलाइ।
कबहूँ विलपति कबहूँ विहँसति सकुचि बहुरि लजाइ॥

सूर ने शृङ्गारिक भावनाओं की कहीं-कहीं बड़ी सुन्दर व्यञ्जनाएँ की हैं। कंप आदि का प्रत्यक्ष वर्णन न करके श्री कृष्ण की अव्यवस्थित चेष्टाओं द्वारा कंप को व्यञ्जना की है। साथ ही उसमें व्यङ्गय-विनोद भी आगया है।

तुम पै कौन दुहावै गैया ?
इत चितवत उत धार चलावत, एहि सिखयो है मैया ?

इसमें कृष्ण के प्रेम जनित कंप आदि की भी जिसके कारण धार इधर की उधर पड़ती है, व्यञ्जना हो जाती है।

गोपियों की मानसिक तन्मयता का भी सूर ने अच्छा वर्णन किया है, प्रेम की अतिशयता में प्रिय का नाम बाहर आने से रोके नहीं रुकता। इसी का चित्र देखिए:—

ग्वालिन प्रगट्यो पूरन नेहु,
दधि भाजन सिर पर धरे कहत गुपालहिं लेहु।
पुर बीथिन, पुर, गली, जहाँ तहाँ हरि नाऊँ।
समुझाई समुझत नहीं, सिख दै बिथके गाँऊँ॥

शृङ्गार के अन्तर्गत आलम्बन के सौन्दर्य का वर्णन आता है। उस सम्बन्ध में सूर ने एक से एक सुन्दर चित्र उपस्थित किये हैं। सूर शृङ्गार की यही विशेषता है कि उसका व्यापार ग्वाल जीवन के प्राकृतिक सौन्दर्य से पूर्ण खुले क्षेत्र में बड़ी मर्यादा के साथ चलता रहता है। गोचारण कर लौटते हुए श्री कृष्णजी का एक चित्र देखिए:—

नटवर वेष धरे ब्रज आवत।
मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल कुटिल अलक मुख पर छवि पावत॥
भ्रकुटी कुटिल नयन, अति चंचल, यह छवि पर उपमा इक धावत।
धनुष देखि खंजन बिबि डरपत उड़ि न सकत उड़िवै अकुलावत।

सूर ने मुख मण्डल का वर्णन करते हुए नेत्रों की चञ्चलता का कारण भी दे दिया है। भौंह रूपी धनुष को देखकर खञ्जन डरते हैं उड़ना चाहते हैं और उड़ नहीं सकते, इसी कारण उनमें चञ्चलता है। सूर के सौन्दर्य के सिलसिले में नेत्र आलम्बन रूप से भी वर्णन किये गये हैं और आश्रय रूप से भी।

देखि री ! हरि के चंचल नैन।
खंजन मीन मृगज चपलाई नहिं पटतर एक सैन ॥

❀ ❀ ❀ ❀

अरुन असित सित झलक पलक प्रति को बरने उपमाय।
मनो सरस्वति गंग जमुन मिलि आगम कीन्हौं आय ॥

इसमें नेत्रों के तीनों रंग लेकर सूर ने नेत्रों की त्रिवेणी का सा पावन प्रभाव ही दिखाया है। मारने, जिलाने और उन्मत्त करने का प्रभाव नहीं दिखाया। सौन्दर्य की पूर्णता और अनन्तता को आश्रय के दो छोटे नेत्रों की असमर्थता प्रकट कर सूर ने सौन्दर्य के आस्वाद करने वाले की मानसिक दशा का अच्छा चित्रण किया है।

जो विधिना अपबस कर पाऊँ।

❀ ❀ ❀

लोचन रोम रोम प्रति मांगौं पुनि पुनि त्रास दिखाऊँ।
इक टक रहै पलक नहिं लागै पद्धति नई चलाऊँ ॥

आश्रय के नेत्रों का एक और वर्णन लीजिए:—

अँखियन यही टेव परी
कहा करौं वारिज मुख ऊपर लागत ज्यौं भ्रमरी।

इसमें दोनों उपमानों में भी वही सहज सम्बन्ध है जो दोनों उपमेयों में है। भ्रमरी में आँखों की पुतली से रूप साद्दश्य भी है।

संयोग शृङ्गार के अन्तर्गत दान-लीला, वसन्त, होली, मुरली और रास का विशेष स्थान है, मुरली से तो गोपियों ने असूया भाव (ईर्ष्या) भी प्रकट किया है। ('मुरली हरि कौं नाच नचावत ऐते पर यह बाँस-बँसुरिया नंद-नंदन कौं भावति''''हम पर रिस

करि करि अवलोकत नासा पुट फरकावत। सूरश्याम जब जब रीभत है तब तब सास डुलावत।') सूर ने अनुभावों के साम्य का कैसा अच्छा लाभ उठाया है? यह मुरली की तान जीवन की उस साम्यमय स्थिति की प्रतीक है जो जीवन को सरस और जीने योग्य बनाती है। इसलिए आकुल जीवों के प्रतिनिधि रूप सखाओं के मुख से भी यही पुकार निकलती है—'छबीले मुरली नेकु बजाय!' रास के सम्बन्ध में सूर ने कई गतिमय चित्र उपस्थित किये हैं। उनमें गोपियों की तन्मयता भी दर्शनीय है।

गति सुगन्ध नृत्यत ब्रज-नारी।
हाव भाव सैन नैन दै दै रिझवति ब्रज-नारी॥

❀ ❀ ❀

चंचल चलत झूमिये अंचल, अद्भुत है वह रूप॥
नागरि सब गुननि आगरि, मिलि चलत पिय संग।
कबहुँ गावत कबहुँ नृत्यत, कबहुँ उघटट रंग॥
मंडली गोपाल गोपी, अंग अंग अनुहारि।
सूर प्रभु धनि नवल भामिन, दामिनि छवि डारि॥

उघटत रंग में थोड़ा हास्य-विनोद भी आगया है जो शृङ्गार का सहायक है।

भ्रमर गीत—सूर के वियोग शृङ्गार में क्षणिक वियोग का, जैसे रास करते समय अन्तर्ध्यान होने पर अथवा मान के अवसर पर तो वर्णन है ही किंतु वियोग शृङ्गार का पूर्ण परिपाक तभी हुआ है जब श्रीकृष्ण जी अक्रूर के साथ मथुरा चले गये थे और वहाँ से उद्धवजी द्वारा योग और निर्गुण ब्रह्म की उपासना का संदेशा भेजा है—'नैन नासिका अग्र हैं तहाँ ब्रह्म कौ बास। अविनासी बिनसै नहीं, हो, सहज ज्योति प्रकास।' इसने जले पर नौंन का काम किया। भ्रमर गीत के दो पक्ष हैं। यद्यपि

उसमें वियोग शृङ्गार का प्राधान्य है तथापि उसमें निर्गुण और ज्ञान मार्ग का काव्यमय खण्डन भी है। सूर को गोपियाँ नन्ददास की गोपियों की भाँति बुद्धिवादनी तो नहीं थी जो दार्शनिक तर्क का उत्तर तर्क से देती वरन् उनको अपने निजी प्रेम की दृढ़ता थी, उनके हृदय में नन्द-नन्दन के अतिरिक्त और किसी के लिए गुंजाइश नहीं थी। 'कहौ मधुप कैसे समायँगे एक म्यान दो खाँडे ?' गोपियों की उक्ति का सार था 'नन्दनन्दन अछत कैसे आनिए उर और ?' रहीम ने ठीक ही कहा है:—

जिन नयननि प्रीतम बस्यौ पर छवि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आप फिरि जाय ॥

गोपियाँ 'तो मन नाहीं दस बीस' कहकर ही ऊधौं की पतङ्ग हत्थों से ही काट देना चाहती थी किन्तु जब ऊधौं डटे ही रहे तब उन्होंने और युक्तियों से काम लिया। वे तो प्रत्यक्ष प्रमाण के आगे सब प्रमाणों को नीचा समझती थीं। वे स्वयं उद्धव जी से पूछने लग जाती हैं कि क्या तुमने उस ब्रह्म को देखा है ? 'रेख न रूप बरन जाके नहिं, ताको हमें बतावत। अपनी कहौ दरस वसे को तुम कबहू हौ पावत ?' जब वे ज्ञानी ही उस निर्गुण का दर्शन नहीं प्राप्त कर सकते थे तब अबला गोपियों की कौन बात ? इसी से तो वे पूछ बैठती हैं कि 'निर्गुण कौन देस को बासी ?' इसका उत्तर विचारे उद्धव देते भी क्या ? इसलिए 'मौन ह्वै रह्यो ठगौ सो सूर सबै मति नासी।'

सूर की गोपियाँ आँखों की गवाही से प्रमाणित होने वाले साकार की उपासक थीं। वे तो कबीर के बताये हुए 'मैं तो तेरे पास में' वाले निर्गुण से सन्तुष्ट नहीं हो सकतीं थीं। 'उर से निकस क्यों न करत शीतल जो पै कान्ह यहाँ हैं।' उनको दृढ़

विश्वास था कि जो कृष्ण निर्गुण रूप से उनके हृदय में होते तो वे उनकी इतनी वेदना को कदापि न सह सकते 'जो पै हिरदै मांझ हरी, तो पै इतनो अवज्ञा उन पै कैसे सही परी ?' गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी ऐसी ही बात कही थी—'पाहनते प्रगटे न हिये ते'। सूर की गोपियाँ व्यक्तित्व का महत्व जानती थीं। वे कृष्ण को ही चाहती थीं, उनके किसी पर्याय को नहीं।

> द्वै लोचन जो विरद किए स्तुति गावत एक समान।
> भेद चकोर कियौं तिनहू में विधु प्रीतम रिपु भान॥

जब चकोर सूरज चंद में भेद कर सकता है तब तो वे चैतन्य विशिष्ट गोपियाँ हैं। गोपियों को अपनी अनन्यता पर गर्व था। उन्होंने मीन को अनन्यता का प्रतीक माना है। 'दादुर जल बिनु जियै पवन भखि, मीन तजै हठि प्रान।' मैंढ़क जल छोड़कर हवा खाकर रह सकता है। 'पवन भखि' में योग के प्राणायाम की ओर व्यङ्ग्यात्मक संकेत हैं। इसके अतिरिक्त ऊधौ मैंढ़क की सी टरटर भी कर रहे थे। गोपियों के लिए तो कृष्ण-भक्ति का मार्ग सीधा-सच्चा था; इसीलिए वे योग के ऊबड़-खावड़ रास्ते से दूर रहना चाहती थीं—उन्होंने ऊधौ से दो टूक बात कह दी। 'काहे को रोकत मारग सूधौ। सुनहु मधुप निर्गुन कंटक ते राज पंथ क्यों रूधौ ?' गोपियों ने अपने मन की खीज का बदला लेने के लिए योग की विषमता, कृष्ण के कालेपन, और कुब्जा की कुरूपता पर व्यङ्ग्य भी बड़े तीखे किये हैं। हारा मनुष्य अत्याचारी और विजेता पर व्यङ्ग्य करके अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर मन का संतोष कर लेता है। ऐसा ही संतोष गोपियों ने किया। योगमार्ग सुकुमार गोपिकाओं की प्रकृति के विरुद्ध था। न तो वे उसके वाह्याडम्बर को ही अपना सकती थीं और न वे

श्यामसुन्दर को छोड़ कर रूपरेखहीन ब्रह्म में ही अपना मन लाना चाहती थीं। नीचे के पद में योगमार्ग के विरुद्ध भक्ति-मार्ग की प्रतिक्रिया के काव्यमय रूप के दर्शन होते हैं। इसकी अन्तिम पंक्ति में एक मुहावरे के आधार पर योग की भस्म लगाने की प्रवृत्ति पर सुन्दर व्यङ्ग्य भी है, देखिए:—

हमरे कौन जोग व्रत साधै ?
मृगत्वच, भस्म, अधारि, जटा को को इतनौ अवराधै।
जाकी कहूँ थाह नहिं पैए अगम, अपार, अगाधै ?
गिरधर लाल छबीले मुख पर इते बाँध को बाँधै ?
आसन, पवन, विभूति, मृगछाला ध्याननि को अवराधै ?
सूरदास मानिक परिहरि कै राख गाँठि कौ बाँधै ?

गोपियाँ कृष्ण के कालेपन पर गहरा व्यङ्ग्य करती हैं 'जोपै भले होत कहुँ कारे, तो कत बदल सुता लै जात' कृष्ण की राम से तुलना करते हुए वे एक चुटकी लेती हैं। 'हरि से भलो सो पति सीता को, दूत हाथ उन्हें लिख न पठायौ निगम ज्ञान गीता को'। एक और व्यङ्ग्य देखिए:—

राम जनम तपसी जदुराई, तिहि फल बधू कूबरी पाई।
सीता विरह बहुत दुख पायो, अब कुबजा मिलि हियौ सिरायौ॥

कूबरी के कूबर और योग की निरर्थकता की हँसी उड़ाने वाला दुहरा व्यङ्ग्य देखिए:—

मधुकर कान्ह कहीं नहीं होंही, रचि राखी पीठ ये बातें चकचोंही

ये सब हास्य-व्यंग्य असूया भाव से प्रेरित रीति के ही सहायक और पोषक हैं।

विरह-वर्णन—सूर की गोपियों ने दुःख में अपना सहज चापल्य नहीं छोड़ा था किन्तु इन चापल्य की लहरों के भीतर

विरह का बड़वानल धधक रहा था। इस विरह ने ही उनके संयोग के गाम्भीर्य को आलोकित किया। गोपियों का हास-विलास केवल जवानी की उठती हुई तरंग न थी जो सहज में विलीन हो जाती। विरह की अग्नि में वासना और ऐन्द्रिकता का कर्दम जल गया था और उनका प्रेम देदीप्यमान स्वर्ण हो निखर आया था। विरह द्वारा प्रेम के परिपुष्ट होने की बात को सूर ने इस प्रकार रूपकों द्वारा व्यक्त किया है, 'ऊधो! विरहौ प्रेम करै, ज्यों बिनु पुट पट गहै न रंगहिं, पुट गहै रसहि परै, जौ आँवौं घट दहत अनल तनु तौ पुनि अमिय भरै।'

आचार्य शुक्लजी के शब्दों में हम कह सकते हैं कि गोपियों का प्रेम एक आकस्मिक घटना न थी। वह सचमुच 'बिरवा' या बेल के ही रूप में बढ़ा था। "बारे तें बलबीर बढ़ाई पोसी प्याई पानी" बाल-लीला यौवन-लीला में परिणित हो जाती है 'लरिकाई को प्रेम कहौ अलि, कैसे करिके छूटत'। बात यह है कि बाल्यकाल के संस्कार बड़े पक्के होते हैं। इसी कारण सूर की गोपियों में विद्यापति की गोपियों की तरह केवल रूप लिप्सा ही नहीं है वरन् सहचार (Fellowship) की भावना भी अधिक है। कृष्ण के साथ केलि-विहार के सम्बन्ध-तन्तु सारे ब्रज में व्याप्त हो जाते हैं। संयोग का सुख, स्मृति रूप से विरह का उद्दीपन बन जाता है। उनको फूल भी शूल बन जाते हैं 'खटकत है वह सूर हिये में माल दई जो फूलन की।' विरह-पूर्ण मानसिक दशा के कारण उनके लिए सारी सृष्टि वेदनामय रूप धारण कर लेती है। 'हरि बिनु फूल फार से लागत, झरि झरि परत अँगार'। मानसिक दशा हमारी अनुभूति किस प्रकार बदल देती है इसका एक और उदाहरण लीजिए। 'बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजैं। तब ये लता लगति अति सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं।'

सूर ने विरह-वर्णन में व्यञ्जना-शक्ति का खूब प्रयोग किया है। गोपियाँ कृष्ण को ब्रज में न आने का संदेशा भेजती हैं और इसके द्वारा अपनी विरह दशा की व्यञ्जना कर देती हैं, 'सब बल्लभी कहति हरि सों ये दिन मधुपुरी रहौ। आज काल तुम हू देखत हो तपति तरनि सम चन्द। सिंह वृक सम गाय वीथिन वीथिन डोलत।' इस संदेश द्वारा गोपियों ने अपनी मानसिक दशा का भी वर्णन कर दिया। विरही को जब साक्षात् दर्शन का सुख नहीं मिलता तब वह गुण-कथन, नाम स्मरण लीलाओं के अनुकरण द्वारा एक प्रकार का मानसिक प्रत्यक्ष सा कर लेता है।

कृष्ण लीलाओं के अनुकरण में गोपियों का वर्णन देखिए—'एक ग्वारि गोधन लै रेंगत, एक लकुटि कर लेत—एक ग्वारि नटवर बहुलीला एक कर्म गुन गावति'। नन्ददासजी ने तो गोपियों की तन्मयता को इतना बढ़ा दिया है कि उनकी कल्पना का बाह्य प्रेक्षण (projection) हो गया है और वे कृष्ण को सामने ही देखने लगती हैं। 'ऐसे में नन्दलाल रूप नैनन के आगे, आय गये छबि छाय बने पियरे उर बागे'। वे प्रार्थना करने लगीं 'दुख जलनिधि हम बूढ़हीं कर अवलंबन देहु।'

सूर ने कृष्ण की रूप-माधुरी के बड़े सुन्दर वर्णन कराये हैं। कृष्ण का रूप उनके वर्णन से बाहर है। रूप की अनन्तता ही तो उसे रमणीयता देती है और इसीलिए वह ब्रह्मानन्द का सा, गूँगे के गुण सदृश, वर्णनातीत रहता है। एक गोपी कहती है 'अलि हौं कैसे कहौं हरि के रूप रसहिं, मेरे तन में भेद बहुत विधि, रसना न जानहिं नयन की दसहिं? जिन देखे ते आँहि बचन बिनु जिन्हें बचन दरसन न तिसहिं' गोस्वामीजी की प्रसिद्ध उक्ति 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' का

इतना भाव-साम्य है कि कहा नहीं जा सकता कि किसने किससे यह उक्ति ली है या दोनों ने ही किसी तीसरे से ली है।

विरह के उद्दीपन—सूर ने विरह-वर्णन की परम्परा के अनुकूल ऋतुओं का उद्दीपन रूप से वर्णन किया है किन्तु कहीं-कहीं उन्होंने उसमें बड़ी नवीनता उत्पन्न करदी है। वर्षा को वे विरहिणी के शरीर में ही दिखलाते हैं। 'देखो माई! नयनन सों घन हारे, बिन ही ऋतु बरसत निसि बासर सदा सजल दोउ तारे।' वर्षा जब शरीर में हो हो तब वे उससे पीछा छुड़ा कर कहाँ जांय? इसमें यह भी व्यञ्जना है कि कृष्ण ने व्रज को वर्षा के कोप से बचाया था 'बूढ़त व्रज को राखै, बिनु गिरवरधर प्यारे।' कभी वे बादलों में अपने प्रियतम की अनुहारि देख कर अपनी स्मृति को और भी सजीव और शायद सजल बना लेती हैं। 'आज घनस्याम की अनुहारि। उनै आये ते सजनी! देखि रूप की आरि'। ऐसे वर्णनों में कृष्ण के घनश्याम नाम की सार्थकता हो जाती है।

सूर ने चन्द्र आदि उद्दीपनों को खूब कुसवाया है और गोपियों द्वारा इस बात पर भी खीज प्रकट की है कि वे उद्दीपन मथुरा पहुँच कर कृष्ण को क्यों नहीं सताते? 'किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि? किधौं वहि इन्द्र हठिहि हरि वरज्यौ, दादुर खाए सेसनि'

विरह की तुलना—सूर ने भी प्राकृतिक वस्तुओं को विरह से व्याप्त दिखाया है किन्तु जायसी की भाँति प्रत्येक वस्तु में विरह की झलक नहीं देखी है—गेहूँ का हृदय विरह से फटा हुआ नहीं दिखलाया वरन् उन्हीं चीजों को लिया गया है जिनका कृष्ण से सम्बन्ध था। 'देखियत कालिंदी अति कारी। कहियो पथिक जाय हरि सों ज्यों भई विरह जुर जारी।' इसमें 'ज्यों'

द्वारा की हुई हेतूत्प्रेक्षा इसकी अस्वाभाविकता को बचा लेती है। सम्बन्ध के कारण ही सूर ने मधुवन से पूँछा है 'तुम कत रहत हरे'।

तुलसी और सूर में यशोदा और कौशल्या का वात्सल्य सम्बन्धी विरह-वर्णन बहुत अंशों में एकसा है किन्तु 'संदेसो देबकी सौं कहियो, हौं तो धाय तिहारे सुत की' 'ब्रज लीजो ठोंक बजाय' की मार्मिक वेदना तुलसी में खोजने पर भी न मिलेगी। कौशल्या का शील कैकेयी के प्रति कुछ कहने के लिए उनका मुँह बन्द किये हुए था। दशरथ थे नहीं, वे कहतीं किससे? कहीं-कहीं कौशल्या का दैन्य कुछ बढ़ गया है। रामचन्द्र का धनुष तथा उनके घोड़े कौशल्या के विरह को उद्दीप्त कर सकते थे किन्तु उनकी पन्हैयों के उल्लेख में तुलसी का दास्य भाव भीतर से झाँकता हुआ दिखाई पड़ता है। सीताजी के विरह में राम के एक पत्नी-व्रत के कारण उपालम्भ और असूया का अभाव है। उसमें दैन्य और परिस्थिति की बेवसी है। कबीर का विरह केवल अलङ्कारिक है। यद्यपि सूर के भी पद मुक्तक की कोटि में आते हैं तथापि वे ऐसे स्फुट नहीं है कि उनमें कुछ कथा-प्रसङ्ग न हो।

विरह की वास्तविकता—अब यह प्रश्न होता है कि जब गोपियाँ इतनी निकट थीं तब वहाँ चली क्यों न गईं। इसी कारण सीता और राम की अपेक्षा गोपियों के विरह को आचार्य शुक्ल ने खिलवाड़ कहा है। प्रश्न स्थान की दूरी का नहीं था। दूर रहते हुए भी निकट होने का अनुभव सम्भव है और निकट होते हुए भी दूर हो सकते हैं। दादुर कमल के पास होते हुए भी उसका रस नहीं लेता। गोपियों को दुःख इस बात का नहीं था कि कृष्ण किसी दूर देश में हैं वरन् इस बात का था कि अब

उनके प्रति उनका भाव बदल गया था। भाव बदल जाने पर एक छत के नीचे बैठे हुए भी दूर हो जाते हैं 'मधुवन बसत बदलि गे वे, माधव मधुप तिहारे, इतनिहिं दूर भये कुछ औरै', 'जोइ जोइ मगु हारे।' कृष्ण के राजा होने पर गोपियों ने बड़े ही मधुर व्यङ्गय कसे हैं 'हरि हैं राजनीति पढ़ि आये— राजधर्म सब भये सूर जहँ प्रजा न जायँ सताए।' इसकी तुलना गीतावली में सीता जी के लक्ष्मण द्वारा भेजे हुए सन्देश से ही कर सकते हैं 'पालिबी सब तापसिन ज्यों-राजधर्म बिचारि'।

कला-पक्ष—सूरदास ने शान्त, शृङ्गार और वात्सल्य रसों को अपनाया था। उन्हीं रसों के अनुकूल उनकी भावाभिव्यक्ति का माध्यम गीति-काव्य था। गीति काव्य प्रायः मुक्तक ही होता है। भावातिरेक उसकी प्रेरक शक्ति है। संक्षिप्तता और संगीत उसमें मुख्य आकारिक गुण हैं। आत्म-निवेदन भावातिरेक से सम्बद्ध उसका विषय गत लक्षण है।

भगवत् यश-कीर्तन सूर के जीवन का प्रधान कार्य था (नेत्र-हीन लोग प्रायः अच्छे गायक होते हैं) संगीत उनके काव्य का स्वाभाविक गुण था। सूर के प्रत्येक पद में मुक्तक की स्वतः पूर्णता है और उसमें साहित्य और संगीत का मणि-काञ्चन योग है। इन पदों में कथा-वर्णन अवश्य है।किन्तु उसी मात्रा में जो गीति-काव्य में निभ सके। अर्थात् जितना कि गीति-काव्य की भावलहरी में बाधा न डाले। इसके अतिरिक्त उनका कथावर्णन इतिहासकार का सा निरपेक्ष नहीं है। उसमें उपासक के हृदय का उल्लास और निजीपन है। उनका कथा-वर्णन इष्टदेव के गुणगान के रूप में होने के कारण एक प्रकार से आत्म-निवेदन का रूप धारण कर लेता है। उनके प्रत्येक पद

में आत्मीयता की झलक है। पद के अन्त में 'सूर के प्रभु,' 'सूरदास स्वामी', 'सूर स्याम' की छाप देकर सूर ने निजीपन स्थापित कर लिया है। सूर के अधिकांश पदों की यह विशेषता है कि पद की कुञ्जी पहली पंक्ति में आ जाती है। पद का शेषांश उसकी व्याख्या में होता है; इसी लिए उसमें कहीं-कहीं शिथिलता आ जाती है। अन्तिम पंक्ति में वे निजीपन की छाप डालकर उसका प्रगीतत्व सिद्ध करते हैं।

अलङ्कार—सूर की भाषा यद्यपि अलङ्कारों से बोझिल नहीं है तथापि उसमें अलङ्कारों की कमी भी नहीं है। सूर ने अलङ्कारों का यहीं तक आश्रय लिया है जहाँ तक कि भावाभिव्यक्ति में वे सहायक हुए हैं। इसके अतिरिक्त सूर ने अलङ्कारों की सार्थकता प्रदान करने का भी उद्योग किया है। उन्होंने एक-एक उपमा की सार्थकता पर विचार किया है और उसके द्वारा मधुर व्यञ्जनाएँ भी की हैं, देखिए:—

उपमा न्याय कही अंगन की।
मोर मुकुट सिर सुरधनु की छबि दूरहिं तें दरसावै॥
जो कोऊ करै कोटि कैसे हू नेकहु छुवन न पावै।
अलक, भ्रमर भ्रमि भ्रमत सदा बन बहु बेलीरस चाखै॥
कमल-कोस बासी किहयत पै बंस-बंस अपनों मन राखत।
कुण्डल मकर, नयन नीरज से, नासा सुक कवि कुल गावै
थिर न रहै, सकुचै निसि-बस ह्वै, पँजर रहिके बैन सुनावै।

इस पद में सभी उपमानों की सार्थकता दिखाकर कृष्ण भगवान पर करारे व्यङ्ग्य किये गये हैं। उनका मोर-मुकुट इन्द्र धनुष के समान सुन्दर अवश्य है किन्तु उसी के समान अप्राप्य भी है। उनकी अलकें भौंरे के समान हैं और उनमें भौंरे के से

गुण भी हैं। वे कमलकोष से प्रेम अवश्य करते हैं किन्तु फिर भी बंस (बाँस और कुल) को अपनाते हैं। अन्तिम पंक्ति में क्रम अलङ्कार भी है।

सूर में अलङ्कारों की ध्वनि के भी अच्छे उदाहरण मिलते हैं। प्रतीप की ध्वनि का उदाहरण नीचे दिया जाता है।

तब तें इन सबहिन सचु पायो।
जब तें हरि संदेस तिहारो सुनत ताँबरो आयो॥
फूले व्याल, दुरे तें प्रगटे, पवन पेट भरि खायो।
ऊँचे बैठ बिहंग सभा बिच कोकिल मंगल गायो॥

इसमें सूर ने यह दिखलाया है कि राधा के अङ्गों से लज्जित होकर उनके उपमान (जैसे केशों से लज्जित होकर सर्प बिलों में छिप गये थे और कोकिल कंठ-ध्वनि सुनकर जंगल में चली गई थी) अब राधा के अङ्ग द्युतिहीन होने के कारण उन उपमानों को प्रसन्नता हो रही है कि अब उनका प्रतिद्वन्द्वी कोई न रहा। सूर में प्रायः सभी अलङ्कार मिल जाते हैं। सूर के साङ्ग रूपक अपनी साङ्गता में पूर्ण है। देखिए:—

प्रभु हौं सब पतितन कौ राजा।
पर निन्दा मुख पूरि रह्यौ, जग यह निसान नित बाजा॥
मंत्री काम कुमति दैंबे कों क्रोध रहत प्रतिहारे।

परम्परित रूपकों के भी अनेकों उदाहरण मिल जाते हैं—सूर ने कहीं-कहीं एक रूपक पर दो रूपक बाँधे हैं—'हैं जो मनोहर बदन चंद के सादर कुमुद चकोर, परम तृषारत सजल स्याम घन के जो चातक मोर', नेत्र के रूपकों की सूर ने लड़ी बाँध दी है। सूर ने एक से एक बढ़िया उत्प्रेक्षाएँ भी दी हैं। उनकी उत्प्रेक्षाएँ सहेतुक हैं, देखिए:—

चमकत मोर चन्द्रिका माथे, कुञ्चित अलक सुभाल।
मनहु कमल कोस रस चाखन, उड़ि आये अलिमाल॥

रूपकातिशयोक्ति में उनका 'अद्भुत एक अनूपम बाग, जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग' वाला पद स्वयं ही अद्भुत है। रूपकातिशयोक्ति में उपमेय को दबा कर उपमान ही उपमेय का द्योतक होता है। यहाँ कमल अर्थात् चरणों पर टांगें [गति की गज से उपमा दी जाती है] क्रीड़ा करती हैं, उस पर कटि देश सुशोभित है। संसार में कमल पर गज नहीं ठहर सकता, गज कमल को उखाड़ कर फेंक देता है और सिंह गज से बैर रखता है किन्तु यहाँ सौन्दर्य के प्रभाव से सब निर्बैर हो गये हैं। यह भाव इसमें व्यञ्जित है।

सूर में भी तुलसी की भाँति उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि समतामूलक अलङ्कारों का बाहुल्य है किन्तु विषमतामूलक अलङ्कारों का भी अभाव नहीं है।

व्यतिरेक—

खञ्जन मीन मृगज चपलाई, नहिं पटतर एक सैन।
राजिबदल, इन्दीबर, सतदल, कमल कुसेसय जाति,
निसि मुद्रित, प्रातहि विकसत, ये विकसत दिन राति॥

भाषा—सूर की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। यदि उनको साहित्यिक ब्रज-भाषा का निर्माता कहा जाय तो कुछ अनुचित न होगा क्योंकि उनके पहले किसी कवि में ब्रज-भाषा को ऐसा साहित्यिक और सुव्यवस्थित रूप नहीं मिलता। उनसे पहले सेन आदि कवियों का उल्लेख हुआ है किन्तु न तो उनका समय ही निश्चित है और न उनकी कविता पर्याप्त मात्रा में मिलती है। खुसरो ने भी ब्रज-भाषा की कविता की है और कबीर में भी ब्रज-भाषा के पद मिलते हैं किन्तु सूर में ब्रजभाषा

का जैसा सागर लहराया है वैसा अन्यत्र नहीं। सूर में ब्रज-भाषा का पूर्ण माधुर्य निखर आया है और उन्होंने उसे और भी कोमल बना दिया है। संयुक्त वर्णों का जहाँ तक हुआ है उन्होंने बहिष्कार किया है, और जहाँ संयुक्त वर्ण हैं वहाँ स्वरागम करके उनको असीलित कर दिया है। विश्वास के लिए विसास, युक्ति के लिए जुगुति, जन्म के लिए जनम, भक्ति के लिए भगति, क्रोध के लिए किरोध का प्रयोग किया है। उन्होंने पंचम वर्ण के स्थान में भी अनुस्वार का व्यवहार किया है। कोमल बनाने के लिए वे 'श' के स्थान में स और 'ण' के स्थान में 'न' को काम में लाये हैं। सूर में प्राकृत के लोयन, सायर नाह, केहरि आदि शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। उन्होंने शब्दों को तोड़ा-मोड़ा अवश्य है किन्तु बहुत कम। छंद के लिए कहीं-कहीं ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ का ह्रस्व अवश्य किया है। फारसी, अरबी भाषा के शब्दों का सूर ने प्रयोग यत्र-तत्र किया है किन्तु उनका रूप हिन्दी का सा कर दिया है। जैसे मसाहत, बाँकी, दर, मुहकम, जियान (हानि के लिए) मिलिक, जेरी जेर नीचा आदि बहुत से फारसी अरबी के शब्द मिलते हैं। मुहावरों की सजीवता सूर में देखी जाती है यद्यपि बहुतायत के साथ नहीं, 'कैसे खैयतु हाथिनु के संग गाँड़े', 'काकी भूख गई बयारि भखि', 'तुमसों प्रेम कथा कौ कहिबौ मानौ काटिबो घास', 'वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे'। 'हमारे हरि हारिल की लकरी' 'कत पटपर गोता मारत हौ निरे भूँड़ के खेत' 'खोटी खाई' 'कारी कामर चढ़ै न दूजौ रंग' 'न्हात खसै जनि बार'।

सूर की भाषा अपनी कोमलता और सजीवता के कारण ब्रज-भाषा का श्रृङ्गार है।

सूर तथा अन्य कृष्णोपासक कवियों की कुछ विशेषताएँ—

१—कर्म की अपेक्षा भक्ति-भावना पर अधिक बल देना और भगवान के अनुग्रह पर अधिक आश्रय।

२—नियम और मर्यादा की अपेक्षा प्रेम को अधिक महत्ता देना।

३—भगवद्भक्ति के आश्रय जीवन के माधुर्यमय कोमल पक्ष को शृङ्गार और वात्सल्य के रूप में अपनाना।

४—प्रबन्ध काव्य की अपेक्षा मुक्तक गेय पदों की ओर अधिक प्रवृत्ति।

५—कृष्ण की लीला-भूमि ब्रज की भाषा का अपनाना।

राम-भक्त—गोस्वामी तुलसीदास

आनन्द कानने ह्यस्मिन तुलसी जङ्गमस्तरुः।
कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥

❀ ❀ ❀

'कलि कुटिल जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयो।'

जीवन-वृत्त का आधार—

गोस्वामी तुलसीदासजी केवल कवि ही नहीं थे वरन वे परम मर्यादावादी भक्त और धर्मोपदेशक भी थे। रामभक्ति ही उनकी कविता की प्रेरक शक्ति थी। उनका जीवन और उनकी कविता दोनों ही राममय थी। राममय होने के कारण मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी की भाँति उनका काव्य भी मर्यादा से अनुप्राणित और शक्ति, शील और सौन्दर्य के दैवी गुणों से सम्पन्न है।

गोस्वामी तुलसीदसजी के जीवन वृत्त के सम्बन्ध में हमको वाह्य—गो० गोकुलनाथजी की दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (सं० १६१५) नाभादासजी की भक्तमाल (सं० १६४२) बाबा वेणीमाधवदास का गुसांई चरित (सं० १६८७) रघुवरदासजी के तुलसी चरित, भक्तमाल की प्रियादासजी की टीका (सं० १७६६) तथा जनश्रुति और आन्तरिक (कवितावली, विनय-पत्रिकादि में जीवन सम्बन्धी उल्लेख) दोनों प्रकार की साक्षियाँ मिलती हैं। वाह्य साक्षियों की अपेक्षा अन्तः साक्ष्य अधिक महत्व रखता है। उसको आधार मान कर उनके जीवन-चरित्र का

निर्माण हो सकता है और कुछ स्थलों की पूर्ति वाह्य लिखित साक्षी और जनश्रुति के आधार पर की जा सकती है।

जन्म-संवत्—इसके लिए हमको जनश्रुति तथा वाह्य साक्ष्य पर निर्भर रहना होगा। बाबा वेणीमाधवदास के अनुकूल गोस्वामजी का जन्म संवत् १५५४ में हुआ और जनश्रुति के हिसाब से संवत् १५८६ माना जाता है। यद्यपि गोस्वीमीजी जैसे संयमी पुरुष के लिए १२६ वर्ष की आयु असम्भव नहीं तथापि ८१ वर्ष की आयु भी कम सन्तोष जनक नहीं है। इसके अतिरिक्त बाबा वेणीमावदासजी के हिसाब से राम-चरित-मानस को ७७ वर्ष की आयु में लिखा जाना मानना पड़ेगा। वह ऐसा समय है जब कि मनुष्य की इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं और जीवन में उत्साह कम रह जाता है; इसलिए जनश्रुति अधिक मान्य है।

माता-पिता—गोस्वामीजी के पिता का नाम भी वाह्य साक्ष्य के आधार पर मानना पड़ेगा किन्तु इसमें भी मतभेद है। जनश्रुति के अनुसार उनके पिता का नाम आत्माराम दुबे था और बाबा रघुवरदास जी के तुलसी-चरित के अनुसार इनका नाम मुरारि मिश्र था। माता के नाम के सम्बन्ध में अन्तः साक्ष्य और वाह्य साक्ष्य एक मत है। वे हुलसी के पुत्र थे-'तुलसीदास हित हिय हुलसी सी'—रा० च० मा०।

जन्म-स्थान—इस विषय में बड़ा मतभेद है। कोई लोग राजापुर मानते हैं और पण्डित रामनरेश त्रिपाठी प्रमुख विद्वान उनका जन्म-स्थान सूकर क्षेत्र के आधार पर सोरों मानते हैं। कुछ समन्वयवादी कहते हैं कि उनका जन्म सोरों में हुआ, पीछे से वे राजापुर रहने लगे। (सूकरक्षेत्र गोडा जिले में भी है)

जाति और कुल—यह तो निश्चित है कि गोस्वामीजी जाति के ब्राह्मण थे (जायो कुल मंगन, बधावनो बजायो सुनि, भयो

परिताप पाप जननी जनक को)। ये सरयूपारी ब्राह्मण थे अथवा कान्यकुब्ज ? इस विषय में पण्डितों में मतभेद है। किन्तु उनके सरयूपारीण होने की ओर लोगों की झुकाउ अधिक है उन्होंने स्वयं भी जाति-पाँति को बहुत महत्त्व नहीं दिया है—

"धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ।"

नाम—तुलसीदासजी का घर का नाम रामबोला था (राम को गुलाम नाम राम बोला राख्यौ राम)। बाबा रघुवरदास ने इनका नाम तुलाराम बतलाय है। रामबोला नाम इसलिए पड़ा कि जन्म लेते ही उन्होंने राम का नाम लिया था। सम्भव है तुलाराम उनका असली नाम हो, रामबोला पीछे से साधुओं ने रख लिया हो।

बाल्य-काल—तुलसीदासजी का बाल्य-काल कष्ट में बीता। इस सम्बन्ध में उनकी स्वयं गवाही है कि वे घर से निकाल दिये गये थे और इस कारण यह स्वाभाविक ही था कि उनको द्वार-द्वार मांगना पड़ा हो। इस सम्बन्ध में कवितावली से दो उद्धरण देना पर्याप्त होगा—

'मात पिता जग जाहि तज्यो विधिहू न लिखी कछु भाल-भलाई।'

❀ ❀ ❀

'बारे ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन
जानत हौं चार फल चारि ही चनक कौं।

❀ ❀ ❀

दीक्षा और गुरु—गोस्वामी तुलसीदास रामानन्दजी के सम्प्रदाय में दीक्षित थे। इन्होंने अपने गुरु को नर-रूप हरि कहा है। (बन्दौं गुरुपद कञ्ज कृपासिन्धु नर-रूप-हरि) इसी आधार पर लोग उनको नरहरिदास कहते हैं। सम्भव है कि उन्होंने अपने गुरु को साक्षात परमात्मा माना हो। यह भी सम्भव

है कि वास्तविक नाम नरहरि हो और गोस्वामीजी ने उनके नाम की सार्थकता बताई हो। कुछ लोग उनको स्मार्त वैष्णव बतलाते हैं। इसके दो आधार हैं, एक तो यह कि उन्होंने १६३१ की रामनवमी मङ्गलवार की मानी है —'नवमी भौमवार मधुमासा, अवधपुरी यह चरित प्रकासा'। गणना से उस वर्ष रामनवमी संगलवार को दोपहर के समय आती है। स्मार्त वैष्णव दिन के बीच में आई हुई तिथि को मानते हैं तथा अन्य वैष्णव लोग केवल उदया तिथि को अर्थात् जिस दिन जो तिथि सूर्योदय के समय हो उसे मानते हैं। दूसरा आधार यह है कि तुलसीदासजी ने मानस तथा विनय-पत्रिका में अन्य देवताओं की भी वन्दना की है। सूरदासजी ने केवल हरि की ही वन्दना की है 'वन्दों चरण-कमल हरिराई' फिर भी वे राम के अनन्य भक्त थे क्योंकि और देवताओं से भी उन्होंने (बसँहिं राम-सिय मानस मोरे) की भीख माँगी है। अन्य देवताओं की स्तुति उनके मर्यादावाद का फल होसकती है।

काशी की तत्कालीन परिस्थिति तथा महामारी का भी उन्होंने वर्णन किया। उत्तरकालीन जीवन में उनको पर्याप्त यश और मान मिला 'घर-घर माँगे टूँक पुनि भूपति पूजे पाँय'। किन्तु पीछे बीमारी (बाहु-पीड़ा) के कारण दुखी हो गये थे—

'साहसी समीर के, दुलारे रघुवीर जू के, बाँह परि महावीर बेग ही निवारिए' और ऐसा मालूम होता है कि यह पीर बहुत दिनों तक रही तभी तो वे लिखते हैं—'चेरो तेरो तुलसी, तू मेरो कह्यो रामदूत ! ढील तेरी वीर मोहि पीर तें पिरात है।'

स्वर्गवास—स्वर्गवास के सम्बन्ध में यह दोहा प्रसिद्ध है—

संवत सोरह सो असी, असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

कुछ लोग श्रावण शुक्ला सप्तमी के स्थान पर इस दोहे का पाठ श्रावण श्यामा तीज शनि मानते हैं। गोस्वामीजी के अनन्य मित्र टोडरमल के वंशज भी इसी तिथि को मानते हैं।

ग्रन्थ – तुलसीदासजी के वैसे तो बहुत से ग्रन्थ बतलाये जाते हैं किन्तु प्रामाणिक रूप से बारह ग्रन्थ माने जाते हैं, उनमें छः बड़े हैं और छः छोटे हैं।

१ *राम-चरित-मानस*—रचनाकाल–सं० १६३१ राम-नवमी। विषय–राम कथा (लवकुश कथा को छोड़ कर)। छंद संख्या मानस मयंक के हिसाब से ५१०० चौपाई, कुल छंद ६६६०। प्रधान छंद एवं भाषा-मुख्यतया दोहा, चौपाई छप्पय, भुजंग प्रयात आदि, भाषा—पश्चिमी अवधी। विशेषता—प्रबन्ध काव्य, पूर्ण मर्यादा का पालन; हिन्दू-धर्म का राम भक्ति प्रधान रूप, इसमें आजाता है।

२ *विनय पत्रिका*—रचनाकाल गुसाईं चरित के अनुसार १६२९; अन्य विद्वान १६६६ मानते हैं। विषय कलिकाल के विरुद्ध भगवान के दरबार में आवेदन पत्र, विमल विचार एवं उपदेश। छंद संख्या २८०। प्रधान छंद एवं भाषा-गेय-पद संस्कृत गर्भित ब्रजभाषा। विशेषता—मुक्तक परन्तु क्रमानुकूल है; यह संग्रह ग्रंथ नहीं है। एक विशेष विधान के अनुकूल लिखा गया है। उसमें विनय-पत्रिका का पूरा विधान है।

३ *कवितावली वा कवित्त रामायण*—रचनाकाल, रुद्रबीसी और मीन की सनीचरी के उल्लेख से अनुमान होता है कि कुछ छंद सं० १६६९ के बाद लिखे गये होंगे। विषय–रामचरित कुछ आत्म-चरित तथा विनय। छंद संख्या—३२५ छन्द। प्रधान छंद एवं भाषा—कवित्त, सवैये, ब्रज-भाषा। विशेषता-

मुक्तक, कथा-सूत्र कुछ विच्छिन्न सा है, कम से कम उत्तरकाण्ड में उसका संग्रह रूप स्पष्ट है।

४. *गीतावली*—रचनाकाल-गुसाँई चरित के अनुसार सं० १६२८ अन्य विद्वान इसे १६४६; का मानते हैं। विषय—रामचरित विशेष कर उसके कोमल भावों वाले स्थल, युद्ध आदि का वर्णन नहीं है। छन्द संख्या-३२८ छंद। प्रधान छंद एवं भाषा—गेयपद, ब्रज-भाषा। विशेषता—मुक्तक, कथा-सूत्र विच्छिन्न सा है। इस पर कृष्ण-काव्य का अधिक प्रभाव है विशेष कर बाल और उत्तरकाण्डों में। बाल काण्ड के कुछ पद सूर के पदों से ज्यों के त्यों मिलते हैं। जैसे, आँगन फिरत घुटरवुन धाए।

५. *कृष्ण गीतावली*—रचनाकाल राम गीतावली के साथ बनी। विषय-कृष्ण चरित की स्फुट लीलाएँ। छंद संख्या—६१, प्रधान छंद एवं भाषा—गेयपद, ब्रज-भाषा। विशेषता—मुक्तक, तुलसीदासजी की उदार भावना की परिचायक है।

६. *दोहावली*—रचनाकाल—गोसाँई चरित में १६०० है किंतु इसमें घटनाएँ १६८० तक की हैं। विषय—नीति, रामगुण-गान, तत्कालीन परिस्थितियों का वर्णन। छन्द संख्या-५७६ दोहे जिनमें ८५ मानस के हैं। प्रधान छंद एवं भाषा—दोहा छन्द। विशेषता—पूर्णतया मुक्तक—संग्रह-ग्रन्थ है।

७. *रामलला नहछू*—रचनाकाल—शृङ्गारिकता का कुछ अधिक पुट होने से प्रारम्भिक रचना मानी जाती है। विषय-कौशल्या और अवधपुरी के उल्लेख के कारण यज्ञोपवीत के समय की कथा मानी जाती है। छन्द संख्या-२०। प्रधान छन्द एवं भाषा—सोहर छंद विवाहादि के अवसर पर गाने योग्य छन्द, भाषा—पूर्वी, अवधी। विशेषता—खण्ड काव्य;

शृङ्गार कुछ अमर्यादित हो गया है। इसके लिए दशरथ दोषी हैं, राम नहीं।

८. *वैराग्य संदीपिनी*—रचनाकाल–गुसाँई चरित के अनुसार सं० १६६६। विषय—धर्म और ज्ञान के साधारण सिद्धान्त, सन्त लक्षण आदि। छन्द संख्या-६२। प्रधान छन्द एवं भाषा—दोहे, सोरठे, चौपाई। विशेषता—मुक्तक, संग्रह ग्रन्थ है।

९. *बरवै रामायण*—रचनाकाल—गुसाँई चरित के अनुसार सं० १६६६। विषय-राम कथा सम्बन्धी स्फुट घटनाएँ। छन्द संख्या-६९। प्रधान छन्द एवं भाषा बरवै छन्द। पूर्वी अवधी विशेषता—मुक्तक, अलङ्कार अधिक हैं।

१०. *पार्वती-मंगल*—रचनाकाल-जय संवत् १६४३। विषय—शिव-पार्वती विवाह। छन्द संख्या-१६४। प्रधान छंद एवं भाषा-मंगल एवं हरिगीतिका। विशेषता—कुमार सम्भव से प्रभावित खण्ड काव्य।

११. *जानकी मंगल*—रचनाकाल—जय संवत १६४३। विषय—राम-जानकी-विवाह। छन्द संख्या-२१६। प्रधान छन्द एवं भाषा—अरुण और हरिगीतिका; अवधी भाषा। विशेषता—वाल्मीकीय से प्रभावित खण्ड काव्य।

१२. *रामाज्ञा प्रश्न*—रचनाकाल—गुसाँई चरित के अनुकूल सं० १६६६। विषय—राम कथा, कुछ विच्छिन्न रूप में शकुन। उठाने के लिए लिखा गया। छन्द संख्या—३४३। सात सर्गों में सात-सात के सात सप्तक। प्रधान छंद एवं भाषा—दोहे, अवधी। विशेषता—मुक्तक।

सामाजिक विचार—गोस्वामीजी पूर्ण वर्णाश्रम धर्म-व्यवस्था के मानने वाले थे। वे ब्राह्मणों के बड़े भक्त थे। उन्होंने ब्राह्मण

की पूजा को भक्ति का एक साधन माना है। स्वयं श्री रामचन्द्रजी अपने श्रीमुख से कहते हैं—

पुण्य एक जग में नहिं दूजा। मन क्रम वचन विप्र पद पूजा॥
सानुकूल तेहिपर पुनि देवा। जो तजि कपट करइ द्विज सेवा॥

किन्तु गोस्वामीजी ब्राह्मणों के उत्तरदायित्व को भी पहचानते थे। वे इस बात से दुखी थे कि कलियुग में लोगों ने वर्णाश्रम धर्म को छोड़ रक्खा है—

बरन-धरम नहिं आस्रम चारी। स्रुति-विरोध-रत सब नर नारी॥
द्विज स्रुतिवंचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम-अनुसासन॥
× × × × ×
विप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार रत वृषली स्वामी॥

वे मिथ्याडम्बर के कबीर की ही भाँति खिलाफ थे, देखिए—

असुभ वेष भूषन धरे, भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्धनर, पूज्य ते कलिजुग माहिं॥

इसी प्रकार वे शूद्रों के यज्ञोपवीत धारण करने तथा ब्रह्मज्ञान की चर्चा करने के भी विरोधी थे—

सूद्र द्विजनिं उपदेसहिं ज्ञाना। मेलि जनेऊ लेंहिं कुदाना॥

बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन, हम तुम तें कछु घाटि।
जानहिं ब्रह्म सो विप्र वर, आँखि देखावहिं डाँटि॥

तुलसीदासजी समाज की व्यवस्था के लिए यह आवश्यक समझते थे कि लोग शास्त्र के अनुशासन में रहें। स्वेच्छाचार के वे विरोधी थे क्योंकि उसके कारण समाज में एकसूत्रता नहीं रहती। इसी प्रकार वे स्त्रियों को भी पति के अनुशासन में रखना चाहते हैं। जहाँ पर उन्होंने पतिव्रत धर्म का पक्ष लिया वहाँ उन्होंने एकपत्नीव्रत को ही आदर्श माना है। उनके श्रीराम

एकपत्नीव्रत के आदर्श नायक थे। रामराज्य में भी उन्होंने बतलाया है कि सब लोग एकपत्नीव्रत को धारण करते थे—

एक नारि-व्रत-रत सब भारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी॥

तुलसीदासजी जिन बातों को समाज की बुराई समझते थे उनको कलियुग में दिखाया है और जिन बातों को अच्छा समझते थे उनको रामराज्य में दिखाया है। तुलसीदासजी ने दोनों ही चित्र इसलिए उपस्थित किये हैं कि लोग समझ लें कि समाज में क्या अच्छा और क्या बुरा है। तुलसीदासजी राम-भक्त होते हुए भी सामाजिक परिस्थितियों से उदासीन न थे। उनकी कवि दृष्टि समाज और राज्य के दोषों तक गई थी 'राज समाज कुसाजि कोटि कलपित कलुष कुचाल नई हैं'।

एक आक्षेप—'गोस्वामीजी स्त्री और शूद्रों के प्रति अनुदार थे' ऐसा लोग प्रायः कहते हैं। इसमें कुछ सत्य भी है किन्तु उनकी अनुदारता उनकी निजी अनुदारता नहीं है वरन् वह तत्कालीन सामाजिक विचारों की छाया है। इसके अतिरिक्त 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी' ये तुलसीदासजी के सिद्धान्त वाक्य नहीं हैं वरन समुद्र द्वारा कहे हुए दीनता के बचन हैं। तुलसी ने जहाँ स्त्री की बुराई की है वहाँ स्त्री की अपेक्षा विषय-वासना की बुराई समझना चाहिए। फिर भी तुलसीदासजी ने नारि की भाँति पुरुषों को 'अघ की खानि' नहीं कहा है।

दार्शनिक विचार—गोस्वामीजी एक विरक्त महात्मा थे। राम उनके लिए सर्वस्व थे। वे दार्शनिक वादों के वाग्जाल से सदा दूर रहना चाहते थे। संसार सत्य है अथवा झूठ है अथवा दोनों, ऐसे प्रश्नों को उन्होंने भ्रम कहा है। आत्म-साक्षात्कार में इसको बाधक माना है।

'जो परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहँचाने।'

फिर भी दर्शन-शास्त्र की मुख्य समस्याओं (जगत, जीव, ईश्वर के वास्तविक स्वरूप और उनके पारस्परिक सम्बन्ध तथा मनुष्य की संगति और उसके साधन) पर प्रसङ्गानुकूल अपने विचार प्रकट किये हैं। यद्यपि गोस्वामीजी के समय में कई दार्शनिक वाद* चल रहे थे तथापि वे शाङ्कर-सम्प्रदाय से जिसका पण्डित-समाज में व्यापक प्रभाव था और रामानुज सम्प्रदाय से जिसके अन्तर्गत उनको दीक्षा हुई थी (रामानन्दी सम्प्रदाय विशिष्टाद्वैत का ही एक रूप है। रामानुजाचार्य ने नारायण की उपासना बतलाई थी रामानन्दजी ने राम को नारायण माना और दीक्षा देने में जाति-पाँति के सम्बन्ध में कुछ अधिक उदारता दिखाई। (कबीर, रैदास, पीपा, सैना आदि उन्हीं के शिष्य थे) गोस्वामीजी रामानन्दजी से अधिक प्रभावित थे। गोस्वामी

* (१) शङ्कराचार्य (जन्म सं० ८४५) का अद्वैतवाद।

(२) रामानुजाचार्य (ज० सं० १०७३) तथा उनकी शिष्य परम्परा में आये हुए रामानन्दजी का विशिष्टाद्वैतवाद।

(३) वल्लभाचार्य (जन्म सं० १५३५) का शुद्धाद्वैत (इसकी व्याख्या सूरदास के सिलसिले में की गई है।)

(४) मध्वाचार्य (ज० सं० १२५४—१३३४) का द्वैतवाद। यह मत ब्रह्म, जीव और जड़ पदार्थों को पूर्णतया अलग-अलग मानता है।

(५) निम्बार्काचार्य (ज० सं० १२१६) का द्वैताद्वैतवाद—यह मत जीव और ब्रह्म को एक भी मानता है और अलग भी।

इसके अतिरिक्त गोरख-पंथियों और कबीर-पंथियों के हठयोग प्रधान मत भी जनता में अपना प्रभाव जमा रहे थे। नम्बर ३,४,५, का कृष्ण-भक्ति से विशेष सम्बन्ध है। नम्बर २ ने रामभक्ति शाखा को प्रभावित किया। नम्बर १ का प्रभाव व्यापक था।

जी जैसे समन्वयवादी राम-भक्त को जो संसार को सिया-राम मय जानते थे किसी वाद-विशेष के घेरे में बाँधना अनुचित होगा। किन्तु गोस्वामीजी के विचार समझने से पूर्व इन दोनों सम्प्रदायों के मूल सिद्धान्तों का दिग्दर्शन करा देना आवश्यक होगा।

शङ्कराचार्य का अद्वैतवाद—शाङ्कर मत का मूल सिद्धान्त यह है कि ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है अर्थात् वह रस्सी में साँप की तरह ब्रह्म में भासित होता है, वह व्यवहार में सच्चा है किन्तु परमार्थ में झूठा है। ब्रह्म स्वयं निर्विकार रहता है, उसमें कोई परिर्तन या परिणाम नहीं होता है। वह अद्वितीय और निर्गुण है। उसमें किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं है न उसमें सजातीय भेद है (जैसे मनुष्य-मनुष्य का) न विजातीय भेद है (जैसे मनुष्य और गौ का) और न स्वगत भेद है (जैसे हाथ, सिर और पैर का) जीव और ब्रह्म एक है। जो भेद दिखाई पड़ता है वह अविद्या के कारण है। जगत् का जो आभास है वह माया के कारण है। पर परम तत्त्व ब्रह्म है। ईश्वर जीव की भाँति ब्रह्म का सगुण रूप है। यह गुण सब माया के ही हैं। ईश्वर के संबंध में जो चीज माया कहलाती है वही चीज जीव के सम्बन्ध में अविद्या कहलाती है। परमार्थ में केवल ब्रह्म ही सत्य है। न सगुण ईश्वर रहता है और न जीव। ये सब माया और अविद्या के खेल हैं। संक्षेप में शाङ्करमत के सिद्धान्त इस प्रकार बतलाये गये हैं—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं है।

रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद—विशिष्टाद्वैत जीव और ब्रह्म तथा जगत की अद्वैतता मानता है। किन्तु उस अद्वैतता को विशेषता युक्त बना देता है। चित (जीव) और अचित

(अर्थात् जड़ जगत) ये दोनों विशेषण रूप से उसके साथ लगे हुए हैं। इसीलिए यह विशिष्टाद्वैतवाद कहलाता है। इन तीन पदार्थों—चित, अचित और ईश्वर तीनों की अन्विति हरि में है। अर्थात् तीनों मिलकर हरि है—

'ईश्वरश्चिदचिच्चे ति पदार्थ त्रितयं हरिः।'

रामानुज के मत से संसार असत् नहीं रहता। जीव का जीवत्व भी मिथ्या नहीं है। वे लोग ब्रह्म में सजातीय और विजातीय भेद तो नहीं मानते हैं क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई पदार्थ नहीं है किन्तु ब्रह्म के भीतर ही (जैसे अँगुली, अँगुली का, हाथ-पैर का, नाक-कान का) जीव-जीव और जीव ब्रह्म का भेद मानते हैं।

तुलसीदासजी का मत—तुलसीदासजी को कोई तो (जैसे पं० गिरधर शर्मा, डाक्टर बल्देवप्रसाद मिश्र, पं० श्रीधर पन्त) अद्वैतवादी कहते हैं और कोई (जैसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्री वियोगी हरि, डाक्टर रामकुमार वर्मा) उनको विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं। यद्यपि उनको किसी एक सम्प्रदाय के भीतर बाँधना तो कठिन है तथापि हमको यह जान लेना चाहिए कि उन्होंने क्या कहा है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है वे शाङ्कर-मत से प्रभावित अवश्य हैं। संसार के सम्बन्ध में तो उन्होंने मायावाद की पदावली का प्रचुर रूप से प्रयोग किया है। 'रज्जौ यथाहेर्भ्रमः' 'बूडो मृगवारि', 'सपने होइ भिखारि नृप, रङ्क नाक पति होइ। जागे हानि न लाभ कछु, तिमि प्रपञ्च जिय जोइ॥' उन्होंने संसार को धुआँ का सा महल कहा है 'धुआँ के से धोरहर' (धवलगृह) कहा है। माया शब्द का भी प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। 'गो-गोचर जहँ लगि मन जाई। तहँ लगि माया जानेहु भाई॥" तो क्या वास्तव में तुलसीदासजी

संसार को असत्य ही मानते थे ? इस सम्बन्ध में जहाँ तक मैं समझता हूँ गोस्वामीजी ने संसार को माया, स्वप्न और धुआँ का महल उसके प्रति वैराग्य उत्पन्न करने को कहा है। सच्चा भक्त संसार में आसक्ति नहीं रख सकता है। उसके लिए तो परमात्मा ही परमात्मा है। संसार का अस्तित्व उसके लिए नहीं के बराबर है किन्तु अयोध्या और चित्रकूट की जो महिमा उन्होंने गाई है वह उनको मिथ्या समझ कर नहीं। वे ऐसी अभिलाषा प्रकट करते हैं 'खेलिबे को खग-मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हो रहि हौं।' वे सारे जगत को परमात्मा का ही रूप मानते हैं। 'प्रकृत्ति, महत्तत्व, शब्दादि, गुन, देवता, व्योम-मरुदग्नि, अमलाम्बु, उर्वी, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, प्रान, चित्तात्मा, काल परमानु चिच्छक्ति गुर्वी। सर्वमेतत्तव रूप भूपालमनि! व्यक्तमव्यक्त गतभेद विष्णो।' जब वे सभी वस्तुओं को राम का रूप मानते हैं तब कोई चीज झूठी किस प्रकार हो सकती है ?

तुलसीदासजी शङ्कराचार्य की भाँति परमार्थ और व्यवहार में भेद नहीं करते मालूम होते हैं। वे स्वयं दाशरथी राम को जिनका अवतार अवधपुरी में हुआ था विधि हरिहर से परे परब्रह्म मानते हैं। उनके राम निर्गुण-सगुण सब कुछ हैं। 'वरद वनदाभ वागीस विस्वात्मा, विरज बैकुण्ठ-मन्दिर-विहारी, नित्य निर्मोह, निर्गुन, निरञ्जन, निजानन्द, निर्वान, निर्वानदाता' यह एक ही पद के दो अंश हैं। पहले अंश में उनकी सगुणता के द्योतक विशेषण हैं और दूसरे में निर्गुणता के द्योतक। राम नाम को उन्होंने परम परमार्थ का सार कहा है। राम नाम प्रेम परम परमारथ को सार है। ऐसी अवस्था में उनके लिए व्यवहार और परमार्थ की द्विधा नहीं रह जाती है। तुलसीदासजी में जीव और ब्रह्म के भेद सम्बन्धी चौपाइयाँ अभेद सम्बन्धी

चौपाइयों की अपेक्षा अधिक हैं। जो लोग उनको अद्वैतवादी मानते हैं वे इन चौपाइयों की यही व्याख्या करते हैं कि तुलसीदासजी ने व्यवहार में तो जीव और ब्रह्म का भेद माना है किन्तु परमार्थ में नहीं। वे कहते हैं कि जब शङ्कराचार्य अद्वैतवादी होकर भी भक्त हो सकते थे तब तुलसीदासजी के लिए क्या आपत्ति थी कि वे अद्वैतवादी होकर भक्त न हो सके। शङ्कराचार्य और तुलसीदासजी में यह अन्तर है कि शङ्कराचार्य भक्ति को साधन मानते थे तुलसीदासजी साध्य मानते थे। भक्ति से वे आगे नहीं जाना चाहते थे।

असि विचार हरि भगत सयाने।
मुक्ति निरादर भगति लुभाने।

जीव और परमात्मा का भेद भक्ति-भावना के लिए आवश्यक है। इसीलिए वे जीव और परमात्मा का भेद इस प्रकार बतलाते हैं—

माया बस्य जीवअभिमानी। ईस वस्य माया गुन खानी॥
परबस जीव स्ववस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥

माया ईस न आप कहँ, जानि कहिए सो जीव।
बंध मोच्छप्रद, सर्व पर, माया प्रेरक सीव॥

* * * *

माया बस परिच्छिन्न जड़, जीव कि ईस समान।

गोस्वामीजी ने जीव को अंशांशी भाव से ब्रह्म का अंश माना है। शाङ्करमत के अनुकूल ब्रह्म में, अशांशी भाव की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अंशाशी भाव की कल्पना भी विशिष्टाद्वैत के ही अधिक अनुकूल बैठती है। जो लोग गोस्वामी जी को अद्वैतवदी मानते हैं वे कहते हैं कि गोस्वामीजी ने

व्यवहार में ही अंशांशी भाव माना है, परमार्थ में नहीं। अद्वैत वाद पक्ष में नीचे की चौपाई दी जाती हैं—

ईश्वर अंश जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो माया बस भयेउ गुसाईं। बँधेउ कीर मरकट की नाईं॥
जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

इसका अद्वैतवादी अर्थ लगाने में अशांशी भाव बाधक होता है, दूसरी अर्द्धाली शाङ्करमत के अधिक अनुकूल है किन्तु इसका भी विशिष्टाद्वैत के पक्ष में अर्थ लगाया जा सकता है। जीव माया के प्रलोभन में पड़कर तोते और मर्कट (बन्दर) की भाँति विशेष बन्धन में पड़ जाता है। शङ्कर के मत से माया के कारण व्यक्तित्त्व के बन्धन में पड़कर वह जीव संज्ञा को प्राप्त होता है और आवागमन के चक्कर में पड़ता है और रामानुज के मत से इसका अर्थ होगा कि व्यक्तित्त्व विशिष्ट जीव सांसारिक प्रलोभनों में पड़कर बन्धन में पड़ जाता है। तीसरी अर्द्धाली मायावाद के सबसे अधिक अनुकूल है। मायावादी लोग माया को मिथ्या मानते हैं। 'जदपि मृषा छूटत कठिनई' (तुलसीदास जी की भक्तिभावना जो कि रामचन्द्रजी को चन्द्र बनाकर अपने को चकोर बनाये रखना चहती है (रामचन्द्र चन्द्र तू चकोर मोहि कीजे) जीव को ईश्वर से पृथक व्यक्ति मानने के अधिक अनुकूल है।

भक्ति-भावना—गोस्वामीजी की भक्ति-भावना सेव्य सेवक भाव की थी।

सेव्य-सेवक भाव को तुलसीदासजी ने केवल इसलिए अपनाया कि उसमें अहङ्कार भावना नहीं रहने पाती है। सच्चा भक्त अपना व्यक्तित्व परमात्मा के व्यक्तित्व में मिला देता है।

'साह ही को गोत गोत होत गुलाम को।'

गोस्वामीजी ने यद्यपि ज्ञान और भक्ति में अन्तर नहीं माना है तथापि श्रेष्ठता भक्ति-भावना को ही दी है।

ज्ञानहि भक्तिहि नहिं कछु भेदा।
उभय हरहिं भवसंभव खेदा॥

इतना होते हुए भी तुलसीदासजी ने ज्ञान को दीपक कहा है और भक्ति को चिन्तामणि, जो स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाशित होती है और जिसको माया की वायु बुझा नहीं सकती है, देखिए:—

राम भगति चिन्तामनि सुन्दर। बसइ गरुड़ जाके उर अन्तर॥
परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिया घृत बाती॥

तुलसीदासजी ने ज्ञान के विरुद्ध दो मुख्य उक्तियाँ दी हैं। एक तो यह कि ज्ञान में प्रत्यूह (विघ्न) बहुत से हैं और दूसरी यह कि वह पुरुष होने के कारण माया से मोहित हो सकता है, भक्ति इस प्रकार मोहित नहीं हो सकती 'मोहै न नारि नारि के रूपा'

तुलसीदासजी की भक्ति की यही विशेषता है कि वह नीति परक थी। बड़े अधिकारियों के नौकरों की भाँति निजी दास होने का अभिमान रखने वाले सूर जैसे कुछ भक्त नियम और मर्यादा की परवाह नहीं करते। तुलसीदासजी उनमें से न थे—

प्रीतिराम सों, नीति पथ चलिए, रागरिस जीति।
तुलसी सन्तन के मतै, इहै भगति की रीति॥

× × × ×

चलत नीति मग रामपद नेह निबाहब नीक।

साहित्यिक आदर्श—यद्यपि गोस्वामीजी ने रघुनाथ-गाथा स्वान्तः सुखाय लिखी थी तथापि वे कोरे कलावादी न थे, वे काव्य को सर्वभूतहित के लिए ही मानते थे। उनके मत से यश, वाणी और धन-वैभव वही श्रेष्ठ है जो कि गङ्गाजी के समान सबको हितकारिणी हो।

कीरति भनति भूति भल सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

स्वान्तः सुखाय से उनका केवल यही अभिप्राय था कि वे किसी प्रलोभन वश नहीं लिखते थे। प्राकृत अर्थात् सांसारिक मनुष्यों के लिए लिखना वे सरस्वती देवी को व्यर्थ परिश्रम देना समझते थे।

कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना। सिरधुनि गिरा लगति पछिताना॥

वे काव्य की कला की अपेक्षा उसके विषय (रामचरित वर्णन) को अधिक महत्व देते थे, देखिए:—

एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान स्रुति सारा॥

गोस्वामीजी आलोचकों को नहीं भूले हैं। वे स्वान्तः सुखाय लिखते हुए भी अपनी वाणी का साधुसमाज तथा बुधजनों में आदर चाहते हैं। साधुसमाज में आदर पाने से ही कवि की वाणी सार्थक होती है।

होहु प्रसन्न देहु बरदानू। साधु-समाज भनित सन्मानू॥
जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो स्रम बादि बाल कवि करहीं॥

तुलसीदासजी ने कवि और भावक (आलोचक) का कार्य अलग माना है। उनके मत से कविता की शोभा आलोचक के यहाँ ही निखरती है।

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गजसिर सोह न तैसी॥
नृप-किरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसेहि सुकवि कवित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं॥

तुलसी का भाव-पक्ष—काव्य के भाव-पक्ष में भाव और विभाव दोनों ही आते हैं क्योंकि भाव निरालम्ब नहीं होते हैं। भावों के जाग्रत करने की शक्ति विभाव में होना आवश्यक है, नहीं तो भाव 'धूआँ के से धौरहर' (धूआँ के महल) की भाँति निराधार रह जाते हैं। विभाव उसे कहते हैं जो भाव को विशेष रूप से उत्पन्न करता है। इसके दो अङ्ग होते हैं—आलम्बन और उद्दीपन। भाव की जाग्रति के मुख्य कारण को आलम्बन कहते हैं और सहायक कारण को उद्दीपन। तुलसी के काव्य के प्रधान आलम्बन मर्यादा पुरुषोत्तम राम हैं। रामचरित मानस की सारी कथा उन्हीं के सहारे अग्रसर होती है। तुलसी के राम 'विधि हरि शम्भु नचावनहारे' ब्रह्म और विष्णु (त्रिदेवों में श्रेष्ठ और रक्षक एवं पालक होने के कारण) दोनों के ही अवतार हैं। लेकिन वे भक्तों के हित के लिए मानव-लीला करते हैं। तुलसी ने केवल अपनी गवाही से ही नहीं वरन् राम के उदात्त गुणों द्वारा उनके नरत्व में नारायणत्व की झांकी दिखादी है।

काव्य में उदात्त भावों की अभिव्यक्ति के लिए आलम्बन में उदात्त गुणों की आवश्यकता होती है। तुलसी ने अपने चरित नायक सम्बन्धी विभिन्न परिस्थितियों में विकसित होने वाले शील के विभिन्न अङ्गों और रूपों की झाँकी दिखलाकर जनता को सीधे उपदेश द्वारा नहीं वरन् सजीव उदाहरण द्वारा शिक्षा दी है, इसलिए उनका काव्य 'स्वान्तःसुखाय' होते हुए भी लोक हिताय बन गया है। तुलसी का सारा भावपक्ष राम और उनके परिवार के शील शक्ति और सौन्दर्य के दैवी गुणों के उद्घाटन में प्रसारित हुआ है।

रस—तुलसी की रससृष्टि भी इन दैवी गुणों के आश्रित है और वह उनके चरित्र-चित्रण से समन्वित है। हमारे यहाँ

चरित्र-चित्रण भी विभाव से सम्बन्धित होने के कारण रस का अङ्ग बन जाता है। शृङ्गार और वात्सल्य का सम्बन्ध सौन्दर्य से है। हास्य कहीं शृङ्गार का सहायक हुआ है और कहीं वीर का। करुण रस भी शील पर अवलम्बित है क्योंकि करुण में परदुखकातरता अधिक रहती है। वीर, रौद्र, भयानक और वीभत्स शक्ति के आश्रित हैं। शान्त में सभी गुणों का आधार है किन्तु शील से उसका विशेष सम्बन्ध है। तुलसी ने प्रायः सभी रसों की सृष्टि की है किन्तु सारी कथा भगवान की लीला का रूप होने के कारण उनके सभी रस एक प्रकार से शान्त अथवा भक्ति रस के अधीन हैं।

शृङ्गार रस—तुलसी के मर्यादावाद के कारण यह रस कुछ गौण स्थान पाते हुए भी कवि की कलम के जादू के कारण अपना रस-राजत्व प्रमाणित कर देता है। तुलसी ने काव्य की परम्परा का प्रतिपालन करते हुए पुष्प-वाटिका के दृश्य के सहारे पूर्वराग की छटा दिखाई है। इसमें वे प्रसन्न-राघव से प्रभावित हैं। किन्तु उसमें भी मर्यादा को वे अक्षुण्ण रखते हैं। रामचन्द्रजी पुष्प-वाटिका में जाते हैं किन्तु वहाँ भी वे मर्यादा का पूर्ण पालन करते हैं। मालियों से पूछे बिना फूल नहीं तोड़ते हैं। 'चहुँ दिसि चितइ पूँछि माली गन। लगे लेन दल फूल मुदित मन॥' गुरु की पूजा के लिए फूल चुनने में वे इतने दत्तचित्त रहे कि सीता के आगमन की खबर भी उनको कंकन किंकिन नूपुर धुनि (ये शब्द स्वयं ध्वन्यात्मक और संगीतमय हैं) से ही लगती है। वे सीताजी की ओर टकटकी लगाकर देखते हैं किन्तु तुलसी ने वहाँ भी एक पौराणिक कथा के सहारे टकटकी की व्याख्या करते हुए मर्यादा का निर्वाह कर दिया है।

अस कहि फिर चितए तिहिं ओरा।
सिय मुख ससि भये नयन चकोरा॥

भये विलोचन चारु अचंचल।
मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल॥

ऐसा पौराणिक विश्वास है कि जनकजी के पूर्व पुरुष राजा निमि पलकों पर बास करते हैं। उनके ही कारण पलक मारने की क्रिया होती है और उनके ही नाम पर पलक मारने के समय को निमिष कहते हैं। रामचन्द्रजी सीताजी को देख रहे हैं वहाँ जनकजी के पूर्व पुरुष किस प्रकार ठहर सकते हैं? मानो इसीलिए उनका पलक मारना बन्द हो गया है। (सौन्दर्य दर्शन की अविरत चाह के साथ मर्यादा का भी पूर्णतया पालन हो गया आगे देखिए:—

तात जनक तनया यह सोई। धनुष जग्य जेहि कारन होई॥
पूजन गौरि सखी लेइ आई। करत प्रकास फिरइ फुलवाई॥

'करत प्रकास फिरइ फुलवाई' इन चार शब्दों में गोस्वामी जी ने सीताजी के सौन्दर्य का भरपूर वर्णन कर दिया है। फिरइ फुलवाई में तो सौन्दर्य के लिए जैसे वातावरण की आवश्यकता थी वैसा वातावरण उपस्थित कर दिया गया है। करत प्रकास में सीता के सौन्दर्य और रामजी के मन पर पड़े हुए प्रभाव दोनों का ही वर्णन आ गया है। इतना मन विचलित होने पर तुलसीदासजी ने मति सञ्चारी (आत्मनिश्चय द्वारा मर्यादावाद की स्थापना कर दी है।) कालिदास के शकुन्तला नाटक में दुष्यन्त भी ऐसी ही बात कहते हैं। मानस में रामचन्द्रजी कहते हैं:—

जासु विलोकि अलौकिक सोभा, सहज पुनीत मोर मन छोभा।
सो सब कारन जान विधाता, फरकहिं सुभग अंग सुन भ्राता॥
रघुवंसिन्ह कर सहज सुभाऊ, मन कुपंथ पग धरइ न काऊ।

सारे दृश्य में सखियों की उपस्थिति औचित्य और मर्यादा के अर्थ ही रक्खी गई है।

वियोग शृङ्गार के हमको सीता हरण के पश्चात् बहुत सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। श्री रामचन्द्रजी की उन्माद दशा वियोग पर शान चढ़ा देती है:—

लछिमन समझाये बहुभाँती, पूछत चले लता तरु पाँती।
हे खग-मृग, हे मधुकर, स्रेनी, तुम देखी सीता मृगनैनी॥

मेघदूत में ठीक ही कहा है:—

'कामार्ताहि प्रकृतिकृपणाः चेतनाचतेनेषु'।

सीताजी के लंका पहुँच जाने पर हनूमानजी द्वारा विरह के संदेशों का जो विनिमय हुआ है वह बड़ा मार्मिक है। हनूमान जी रामजी का संदेश कहते हैं:—

कहेहू ते कछु दुख घटि होई। काहि कहौं यह जान न कोई।
तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥
सो मन रहत सदा तोहि पाहीं। जानु प्रीति रस इतनेहि माहीं॥
प्रभु सन्देस सुनत वैदेही। मगन प्रेम तनु सुध नहिं तेही॥

सीताजी का संदेश और भी मार्मिक है, देखिए:—

अवगुन एक मोर मैं माना। बिछुरत प्रान न कीन पयाना॥
नाथ सो नयनन कर अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठ बाधा॥
विरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माँह सरीरा
नयन स्रवहिं जल निजहित लागी। जरइ न पाव देह विरहागी॥

सच्चे विरह में प्राण नहीं रह सकते। सीताजी प्राण नहीं छोड़ सकीं, इसको वे अपराध रूप से स्वीकार करती हैं। किन्तु वे अपने अपराध की सफाई भी देती हैं। वह यह कि शरीर के जल कर भस्म हो जाने के सब कारण उपस्थित हो जाने

पर भी शरीर नहीं जलता है। इसका उत्तरदायित्व नेत्रों पर है। विरह रूपी अग्नि है, शरीर रुई है निश्वास हवा है, जब अग्नि को प्रज्वलित करने वाली हवा भी मौजूद है तब शरीर जला क्यों नहीं इसका यह कारण है कि नेत्र दर्शन के स्वार्थवश होकर जल की वर्षा कर देते हैं। इसलिए आग बुझ जाती है और शरीर बच जाता है। कितना काव्यमय कारण है? दिन-रात रोते रहने की भी व्यञ्जना हो जाती है।

वीर—

रघुवंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई, तिहि समाज अस कहय न कोई।
कही जनक अस अनुचित बानी, विद्यमान रघुकुल-मनि जानी॥
सुनहु भानुकुल-पंकज-भानू, कहउँ सुभाउ न कछु अभिमानू।
जौं तुम्हार अनुसासन पावउँ, कंदुक इव ब्रह्मांड उठावउँ॥
काचे घट जिमि डारउँ फोरी, सकउँ मेरु मूलक इव तोरी।
तव प्रताप महिमा भगवाना, का बापुरो पिनाक पुराना॥

इसमें उत्साह आदि से अन्त तक है। गर्व (रघुवंसिन्ह महँ जहँ कोई होई), धृति (कहउँ सुभाव न कछु अभिमानू) आदि सञ्चारी हैं।

शान्त रस—वैसे तो तुलसी की सभी रचनाएँ शान्त रस का ही उदाहरण हैं क्योंकि उनके मूल में भक्तिभावना है किन्तु विनय-पत्रिका और कवितावली के उत्तरकाण्ड में शुद्ध शान्त रस ही है। शृङ्गार प्रधान बरवै रामायण के उत्तरकाण्ड में भी शान्त रस है। संसार अनित्यता की ओर ध्यान दिलाने वाला पश्चात्ताप प्रधान नीचे का पद देखिए—

मन पछितैहै अवसर बीते।
दुर्लभ देह पाइ हरिपद भजु, करम, बचन अरु ही ते॥
सहसबाहु दसबदन आदि नृप, बचे न काल बली ते।

हम-हम करि धन-धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते ॥
सुत बनितादि जानि स्वारथ रत, न करु नेह सबही ते।
अंतहुँ तोहि तजैंगे पामर ! तू न तजै अबही ते॥
अब नाथहिं अनुराग जागु जड़ त्याग दुरासा जीते।
बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ, विषय-भोग बहु घीते॥

इसमें निर्वेद स्थायी भाव है और संसार की अनित्यता देखकर ज्ञानजन्य वैराग्य का उपदेश है। इनमें वैराग्य और विवेक के लिए युक्तियाँ होने से वितर्क संचारी भी है। विनय-पत्रिका में दैन्य के अच्छे-अच्छे उदाहरण मिलते हैं।

द्वार हौं भोर ही को आज।
रटत रिरिहा आरि और न कौर ही ते काज॥
दीनता दारिद दलै को कृपावारिध बाज।
दानि दसरथ राय के तुम बानइत सिरताज॥
जनम को भूखो, भिखारी हौं गरीब-निवाज।
पेट भरि तुलसिहि जिवाइए भगति-सुधा-सुनाज॥

शान्त रस के अन्तर्गत सञ्चारी रूप से हमको अद्भुत, रौद्र, वीर वीभत्स के भी उदाहरण मिलते हैं। अद्भुत का उदाहरण नीचे दिया जाता है, देखिए:—

केसव कहि न जाय का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र अति, समुझि मनहि मन रहिये॥
सून्य भीति पर चित्र, रङ्ग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे।
धाये मिटै न, मरै भीति, दुख पाइय इहिं तनु हेरे॥

इसमें आद्भुत्य की भावना उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है।

चरित्र-चित्रण—रस-विधान में चरित्र-चित्रण विभाव-वर्णन के अन्तर्गत आता है। सच्चा कवि अपने प्रत्येक पात्र के साथ भाव-तादात्म्य कर उसका चरित्र-चित्रण करता है। यद्यपि कवि

के नाते तुलसी ने अपने सभी पात्रों की आत्मा में प्रवेश किया है तथापि भरत, हनूमान, सुग्रीव और विभीषण के साथ उनका विशेष तादात्म्य है और उनमें तुलसी की सेवा और शरणागत भावनाएँ पूर्णतया मुखरित हो उठी हैं।

तुलसी के पात्र सात्त्विक, राजस और तामस तीनों प्रकृतियों के हैं। सात्त्विक पात्रों में राम और भरत विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। राजस गुण लक्ष्मणजी में प्रधानतया देखने में आता है और तामस गुण रावणादि में है। तुलसी के पात्रों में एक विशेष रूप की दृढ़ता और आत्म-संगति है। पार्वतीजी कहती हैं 'जन्म कोटि लगि रगर हमारी, कै बरहुँ संभु न तु रहौं कारी', इसी प्रकार दशरथजी कहते हैं—'प्राण जायँ पर वचन न जाहीं' श्री रामचन्द्रजी भी अपनी शरणागत वत्सलता में दृढ़ हैं। रावण भी अन्त तक शम्भु शरासान की भाँति टस से मस नहीं होता। पात्रों में परिवर्तन कहीं-कहीं हुआ है—वह रामचन्द्रजी का प्रभाव दिखलाने के लिए—परशुरामजी गरम से ठण्डे पड़ जाते हैं। मंथरा की वाक्-पटुटा और उदासीनता के कुशल अभिनय से कैकेयी का भाव-परिवर्तन हुआ था किन्तु धीरे-धीरे। मंथरा दासियों का नमूना (Type) अवश्य है किन्तु उसका वाक्-कौशल उसको साधारण टायप से ऊँचा उठा देता है। भरत में राम का शील प्रतिबिम्बित है तो कुछ राजसी गुण लेकर लक्ष्मण में उनकी शक्ति की छाया हैं, समुद्र पर कोप करते समय दोनों की प्रकृति मिल जाती है। परशुराम संवाद में तो इतनी नहीं किन्तु भरत आगमन के समय तथा सुमन्त को विदा करते समय दोनों भाइयों के चरित्र का अन्तर स्पष्ट झलक उठता है।

तुलसी के संवाद विशेष कर लक्ष्मण-परशुराम संवाद, कैकेई-मंथरा संवाद, रावण-अंगद संवाद, रावण-मंदोदरी संवाद बड़े

सजीव और वाक्पटुता पूर्ण है। वे पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी विशेष रूप से सहायक हुए हैं।

तुलसी का कला-पक्ष—तुलसीदासजी उन रस-सिद्ध कवियों में से थे जिनके भाव-पक्ष और कला-पक्ष पूर्णतया सन्तुलित हों। वे एक दूसरे की मर्यादा का ध्यान रखते हुए पारस्परिक उत्कर्ष-साधन में सहायक होते हैं। तुलसीदासजी न तो कबीर की भाँति मसि कागद से अछूते थे और न केशव की भाँति भाषा में कविता करने में लज्जित होते थे। वे भाव के उपासक थे 'का भाषा का संस्कृत भाव चाहिए साँचु। काम जु आवै कामरी का लै करै कमाँच', किन्तु उनकी कामरी राम रंग में रँगी होने के कारण कमाँच से भी अधिक मूल्यवान बन गयी थी। उसमें रीति, गुण, अलङ्कार लक्षणा, व्यञ्जना सभी काव्याङ्ग बिना प्रयास के ही यथास्थान आकर काव्य-सौष्ठव की वृद्धि करते हैं। भक्ति रस के प्रवाह में सभी गुण स्वतः बहे चले आये हैं। पहले माधुर्य गुण का उदाहरण लीजिए:—

माधुर्य—

विकसे सरसिज नाना रङ्गा। मधुर मुखर गुञ्जत बहु भृङ्गा॥
चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत विहँग नचत मन मोरा॥

× × × ×

तन मृदु मंजुल मेचकताई। झलकत बाल विभूषन झाँई॥
अधर पानि पद लोहित लोने। सर सिंगार भव सारस सोने॥

ओज—इस गुण का सम्बन्ध रौद्र और वीर रस से है। इन रसों के आश्रय से कर्णकटु दोष भी गुण बन जाता है—

कतहुँ विटप भूधर उपारि पर सेन बरक्खत।
कतहुँ बाजि सो बाजि मर्दि गजराज करक्खत॥

चरन चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जत।
बिकट कटक बिद्दरत वीर वारिद जिम गज्जत॥

इन दोनों उदाहरणों में भाषा पूर्णतया भावानुसारिणी बन गयी है। शब्द स्वयं बोलते हुए प्रतीत होते हैं।

प्रसाद—प्रसादगुण का अर्थ केवल इतना ही नहीं कि अर्थ जल्द समझ में आ जाय वरन् यह भी है कि जो अर्थ सहज अभिव्यक्ति के कारण चित्त में एक साथ प्रसन्नता और प्रकाश उत्पन्न कर दे। यह गुण तुलसी की कविता में भरा पड़ा है। तुलसी की उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की सजीवता ने इस गुण को और भी निखार दिया है। कैकेयी द्वारा राम-बनवास का वर माँगा जाने पर दशरथजी की जो दशा हुई, उसका वर्णन देखिए—

गयउ सहमि कछु कहि नहिं आवा।
जनु सचान बन झपटेउ लावा॥
बिवरन भयउ निपट महिपालू।
दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू॥

सचान (बाज) और दामिनि एक साथ शीघ्रता, आकस्मिकता और सर्वनाश का चित्र उपस्थित कर देते हैं।

अलङ्कार—तुलसी ने अलङ्कारों का प्रयोग कोरे चमत्कार प्रदर्शन के लिए कम किया है। जैसा कि ऊपर दिखाया गया है। उनके अलङ्कार अधिकतर भावों को स्पष्टता और तीव्रता देने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इसी लिए उनमें समतामूलक अलङ्कारों का बाहुल्य है। उनकी उपमाएँ जैसे 'तिजरो को सो टोटका', 'गाड़ी के स्वान की नाईं', 'जैसे गाँठ पानी परे सन की' बड़ी सजीव और अनूठी हैं। विनय-पत्रिका में उन्होंने राम-नाम को 'अपनो सो घरु' कहा है। 'रावरो नाम साधु सुरतरु है, सुलभ सुखद अपनो सो घरु है' जो लोग अँग्रेज़ी के शब्द 'Sweet Home'

की मधुर व्यञ्जनाओं पर मुग्ध हों उन्हें उनकी खोज में अँग्रेजी की शरण लेने की आवश्यकता नहीं है। 'राज डगरो सों' में उनको Royal Road पर चलने का भी आनन्द मिल जायगा। तुलसी की उत्प्रेक्षाओं की सजीव चित्रमयता का उदाहरण ऊपर दे चुके हैं। तुलसी ने अपनी बात को पुष्ट करने के लिए बड़ी सुन्दर मालोपमाओं का भी प्रयोग किया है—

मालोपमा—

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम॥

साङ्ग-रूपक—

विषय वारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।

❀ ❀ ❀

कृपा डोरि बंसी पद अंकुस परम प्रेम मृदु चारो।
यह विधि बेधि हरहु मेरो दुख कौतुक राम तिहारो॥

*सम—*तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुञ्ज-हारी॥

१ २ ३
*क्रम—*सत्रु, मित्र मध्यस्थ तीन ये मन कीन्हे बरिआई।
१ २ ३ १ २ ३
त्यागन, गहन, उपेच्छनीय, अहि, हाटक, तृन की नाई॥

परिसंख्या—

दंड जतिन कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज।
जितहु मनहिं अस सुनिय जहँ, रामचन्द्र के राज॥

प्रतीप—

कुलिस, कुन्द, कुडमल, दामिनि दुति दसन देखि लजाई॥

व्यतिरेक—सम सुबरन सुखमाकर सुखद न थोर।
सिय अंग कोमल, कनक कठोर॥

❀ ❀ ❀

बिष बारुनी बन्धु प्रिय जेही।
कहिय रमा सम किमि बैदेही॥

असङ्गति—हृदय तीर मेरे, पीर रघुबीरै।

उन्मीलित—चंपक हरवा अंग मिलि अधिक सुहाइ।
जान परे सिय हियरे, जब कुम्हिलाइ॥

भाषा और छन्द—तुलसी ने अपने समय की दोनों काव्य-भाषाओं को (रामचरित मानस में पश्चिमी अवधी को और बरवै रामायण में पूर्वी अवधी को, तथा गीतावली, कवितावली और विनय-पत्रिका में ब्रज-भाषा को) अपनाया था। किन्तु दोनों को उनके विशेष प्रतिनिधि कवियों की अपेक्षा अधिक साहित्यिकता प्रदान की। जायसी की भाषा में चलती हुई पूर्वी का रूप मिलता है, तुलसी ने उसे साहित्यिकता प्रदान की। सूर की ब्रजभाषा की सजीवता चाहे तुलसी में न हो किन्तु उन्होंने उसे भी अधिक साहित्यिक बनाया। विनय-पत्रिका की भाषा विशेष कर प्रारम्भिक भाग में, बहुत संस्कृत गर्भित होगयी है, यह देवताओं के गौरव के अनुकूल है। आत्म-निवेदन में वह काफी सरल है।

तुलसी ने विषय के अनुकूल छन्द बदल कर अपने समय की सभी शैलियों को अपनाया है। प्रबन्ध काव्य के लिए उन्होंने जायसी की दोहा-चौपाई शैली की प्रतिष्ठा बढ़ाई। नीति के लिए कबीर की और उनसे पूर्व से चली आती हुई दोहा शैली को अपनाया। सहज में याद रह सकने के कारण नीति के लिए दोहे ही उपयुक्त ठहरते हैं। शृङ्गारिक और अलङ्कारिक भाव

नाओं के लिए रहीम के बरवै छन्द को अपनाया गया। राम के यशगान के अर्थ भाटों की कवित्त, सवैया शैली को अलंकृत किया गया। युद्ध-वर्णन में वीरगाथा काल की छप्पय शैली को वे काम में लाये।

तुलसी ने तद्भव शब्दों का पर्याप्त रूप से प्रयोग किया है। सीधे प्राकृत के प्रयोग भी उनकी भाषा में देखने में आते हैं और कहीं-कहीं संस्कृत की विभक्तियाँ जैसे 'मनसि' भी दृष्टिगोचर होती हैं। तुलसी ने फारसी, अरबी के शब्दों के (जैसे गरीब-निवाज, गनी, दाद, मिसकीनता) प्रयोग करने में संकोच नहीं किया है। मिसकीनता में तो फारसी में संस्कृत का प्रत्यय लगा कर एक प्रकार से वर्णसंकरी सृष्टि रची है।

तुलसी की भाषा में प्रसङ्गानुकूल शब्द-चयन का भी ध्यान रक्खा गया है। जहाँ 'डरपत मन मोरा' है वहाँ 'घन घमंड' कह कर उनके घोर-गर्जन का आभास दिया गया है और जहाँ मोरों के नाचने की बात है वहाँ वारिद जैसे कोमल शब्द का प्रयोग हुआ है। तुलसी की भाषा में मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग से, जैसे 'परसत पनवारो फारो' 'अंजन कहा आँख जिहि फूटे' 'दूध को जरयो पिवत फूकि-फूकि मह्यो है, 'लाज आप ही निज जाँघ उघारे', 'ज्यों गज दसन', 'सावन के अंधहिं', पर्याप्त सजीवता आगई है। स्वयं तुलसीदासजी की उक्तियाँ, सूक्तियाँ और लोकोक्तियों के रूप में व्यवहृत होती है। जैसे 'हुइहै वही जु राम रचि राखा', 'दैव दैव आलसी पुकारा', 'कर्मप्रधान विश्व कर राखा' आदि।

तुलसी की कुछ विशेषताएँ—

१—<u>मर्यादावाद और समन्वयवाद</u>। मर्यादावाद के ही अन्तर्गत वर्णाश्रम धर्म और लोग-संग्रह की भावना को बल दिया। शैव वैष्णवों और ज्ञान और भक्ति का समन्वय किया।

२—दास्यभाव की नीति समन्वित भक्ति (सूर ने नीति पर इतना बल नहीं दिया)।

३—भगवान के लोक-रञ्जक और लोक-रक्षक दोनों रूपों का उद्घाटन करना (सूर ने लोक-रञ्जक रूप पर अधिक बल दिया है) जीवन के कोमल और कठोर पक्ष दोनों को व्यापक रूप से अपनाया।

४—प्रबन्ध और मुक्तक दोनों को अपनाया किन्तु प्रबन्ध-काव्य में विशेषता प्राप्त की।

५—अवधी और ब्रजभाषा दोनों को अपनाया किन्तु श्री रामचन्द्रजी की कर्तव्य भूमि की भाषा अवधी को विशेष महत्ता दी।

आचार्य कवि—केशवदास

रीतिकाल की पृष्ठभूमि—हार की मनोवृत्ति को दूर करने का एक चौथा उपाय भी था, वह था हास-विलास के मधु में अपने दुख को भुला देना। कुछ राजा लोग तो मुसलमानों से लोहा लेते रहे और कुछ उनके आश्रित रह कर उनके विलास-वैभव में योगदेने लग गये। रीतिकाल के कवि ऐसे ही राजाओं के आश्रित रहने लगे। जहाँ भक्त-कवियों ने राज्याश्रय को ठुकराया था वहाँ रीतिकालीन कवियों ने राज्याश्रय को अपनाया। उस समय लक्ष्य ग्रन्थ काफी बन चुके थे। अब लक्षण ग्रन्थों की बारी आई। संस्कृत में लक्षण ग्रन्थों की कमी न थी। उन्हीं के अनुकरण में हिन्दी कवियों ने भी लक्षण ग्रन्थ लिखे। रीतिकाल के कवियों ने लक्षणों का उतना गूढ़ विवेचन तो नहीं किया क्योंकि पद्य में लिखने के कारण संस्कृत के आचार्यों की सी बारीकी वे न ला सके और उन्होंने पंडितों के लिए नहीं वरन् राजाओं के लिए लिखा था, किन्तु उदाहरण बड़े सुन्दर उपस्थित किये। उस काल के कवि आचार्य और कवि दोनों थे। इनमें देव, मतिराम, भूषण, पद्माकर प्रमुख हैं। बिहारी ने लक्षण नहीं लिखे किन्तु उन ग्रन्थों की पृष्ठभूमि में उदाहरण उपस्थित किये। काव्य की प्रवृत्ति मुक्तक की ओर रही।

परिचय—आचार्य केशवदास 'जाति सनाढ्य' कुलोद्भव शीघ्रबोध के कर्ता पंडित काशीनाथ के पुत्र थे। ये 'धरणीतल धन्य' ओड़छा नगर के रहने वाले थे और नृपमणि मधुकरशाह के पुत्र दूलहराय के भाई इन्द्रजीत के आश्रित थे।

इनका जन्म संवत् १६१२ में और मृत्यु १६७४ में बतलाई जाती है। ये संस्कृत के अच्छे पंडित थे और आर्थिक चिन्ता न होने के कारण अध्ययन के लिए इनको समय भी यथेष्ट मिला होगा। संस्कृत का ज्ञान इनकी पैतृक संपत्ति थी, इनको इस बात का खेद था कि कुल की परम्परा के विरुद्ध इन्होंने हिन्दी में कविता की, देखिए:—

भाषा बोलि न जानही, जिनके कुल के दास।
तिन भाषा कबिता करी, जड़मति केशवदास॥

इनको इन्द्रजीत की ओर से बाईस ग्रामों की जागीर थी अतः यह एक प्रकार के छोटे-मोटे राजा ही थे। देखिए:—

भूतल को इन्द्र इन्द्रजीत राजै युग-युग।
केशोदास जाके राज राज सो करत है॥

इनकी राज्याश्रयता इन्द्रजीत के दरबार तक ही सीमित न थी। इन्द्रजीत का जुरमाना माफ कराने के लिए अकबर के दरबार में भी गये थे। वहाँ बीरवल की शिफारिश से उन्होंने अपने आश्रयदाता का जुर्माना माफ कराया। इन्होंने बीरवल को अपने कवित्व से मोहित कर लिया था और उनसे विपुल धन भी प्राप्त किया। केशवदासजी काफी स्वाभिमानी थे (उन्होंने बीरवल से यही माँगा था कि उनके दरबार में उनको कोई न रोके और इन्द्रजीत से भी यही माँगा था कि उनकी कृपा एकसी बनी रहे) किन्तु इन्द्रजीत के प्रतिद्वन्द्वी और पराजित करने वाले महाराज वीरसिंह का यशगान करके केशव ने अपनी स्वामिभक्ति के गौरव के विरुद्ध कार्य किया।

केशव के ग्रन्थ—(१) रसिक-प्रिया (संवत् १६४२) इसमें रस-निरूपण विशेष कर शृङ्गार रस और नायिका भेद है। (२) रामचन्द्रिका (कार्तिक सुदी १६५२)। (३) कवि-प्रिया

(फागुन सुदी पंचमी संवत् १६५२) इसमें कवि के वर्ण्य विषयों तथा अलङ्कारों का वर्णन है। यह एक प्रकार से कवि-शिक्षा का ग्रन्थ है। (४) विज्ञान-गीता (यह ग्रन्थ प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक की रीति पर लिखा गया है) इनके दो ग्रन्थ और हैं—जहाँगीर-जस-चन्द्रिका और वीरसिंहदेव-चरित्र।

केशव का दृष्टिकोण—हिन्दी साहित्य में जिन कवियों के ऊपर आलोचकों के अंकुश का नियत प्रहार होता रहता है उनमें से केशव भी एक प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। इसमें संदेह नहीं कि अनेक आलोचकों ने आपके नाना छन्द-विधान, सफल-संवाद, अपूर्व अलंकारिक चमत्कार तथा ओज गुण आदि की प्रशंसा की है किन्तु अधिकतर लोग इनके कवित्व को सुपाच्य नहीं समझते रहे हैं। किसी ने इनको 'कठिन काव्य का प्रेत' कहा है तो किसी ने 'हृदय हीन'; किसी ने इनके काव्य को 'छन्दों का अजायबघर' कहा है तो किसी ने 'कवि को दैन न चहै विदाई, पूछै केशव की कविताई' कह कर केशव की दुरुहता प्रकट की है। इस सम्बन्ध में यह समझ लेना आवश्यक है कि ये सभी आलोचनाएँ कवि के दृष्टिकोण को न समझ सकने के कारण हुई हैं; अस्तु सर्वप्रथम हम इसी पर विचार करते हैं।

यह हमारा सौभाग्य ही है कि केशव ने स्वयं अपने और अपनी कविता के विषय में अपने ग्रन्थों के आरम्भ में थोड़ा बहुत कह सुन दिया है। केशव के जीवन-वृत्त से प्रकट होता है कि वे एक परम-संस्कृत कुटुम्ब की संतान थे और उनको अपनी कुलीनता पर बड़ा अभिमान था। वे भाषा में कविता करने को अपनी हीनता समझते थे; फलस्वरूप उन्होंने स्वयं भी इस बात का प्रयत्न किया है कि उनकी कविता

में उनका संस्कृत का ज्ञान छिपा न रहे और वे अपनी कुल की प्रतिष्ठा को यथापूर्व बनाये रक्खें। संस्कृत का एक पण्डित यदि केशव के काव्य का अध्ययन करे तो उसे ज्ञात होगा कि उनकी रचनाओं में पग-पग पर कादंबरी, हर्षचरित, रघुवंश, माघ, नैषध, रामायण आदि काव्यों की छाया ही नहीं वरन उसको यत्र-तत्र उनकी सौष्ठव-वृद्धि करने वाले स्थल भी मिलेंगे।

दूसरी विशेषता है—कवि की परिस्थितियों से उत्पन्न एक आत्माभिमान। केशव ने 'प्राकृत-जन-गुन-गाना' तो किया ही है, साथ ही उनकी कविता में अपने कुटुम्ब आदि का सगर्व उल्लेख भी मिलेगा। वे न तो 'माता-पिता जग जाहि जन्यो, विधिहू न लिखी कछु भाल भलाई' वाले लोगों में से थे और न उनको सूर की भाँति 'नैननहू की हानि' जैसी शिकायत थी। पाण्डित्य-प्रदर्शन और अलङ्कार-प्रियता उनके लिए स्वभाविक ही थी। वे तो एक ऐसे कवि थे जिनके लिए 'राज सो करतु' सार्थक होता था। उनका सुभाव कोमलता की ओर न होकर प्रचण्डता की ओर था, दीनता की ओर न होकर अभिमान की ओर था, भावुकता की ओर न होकर पाण्डित्य की ओर था। उनका तो आदर्श वाक्य था—'भूषन बिन न राजई कविता बनिता, मित्त' कविता की दुरूहता का एक कारण यह चमत्कार प्रियता भी है।

केशव के समय तक संस्कृत में साहित्य-शास्त्र का पूर्ण विकास हो चुका था। विद्वानों के अनेक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए थे। अलंकार-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय, ध्वनि-सम्प्रदाय, रस-सम्प्रदाय इत्यादि सभी ने अनेक तर्कों के उपरांत यह निश्चय कर लिया था कि काव्य में सारभूत आन्तरिक वस्तु रस है और अलङ्कार, रीति और ध्वनि अपनी शक्ति के अनुसार उसके

सहायक हैं, विरोधी नहीं; तथा इन सभी वस्तुओं की काव्य में आवश्यकता होती है। पीछे के लोग कवि-शिक्षा के ऊपर भी लिखने लगे। केशव ने अपनी विशेष परिस्थिति के कारण अलङ्कार सम्प्रदाय को महत्व दिया है किन्तु उन्होंने रस-सम्प्रदाय की भी उपेक्षा नहीं की। उन्होंने अपनी रसिक-प्रिया में रसों का स्वरूपानुरूप वर्णन किया है और सब रसों को शृङ्गार के अन्तर्गत रखने का प्रयत्न किया है यद्यपि उसमें उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली है।

केशव ने 'अलङ्कार' शब्द का प्रयोग एक विलक्षण और विस्तृत अर्थ में किया है। वे 'अलङ्कार' के तीन भेद करते हैं— वर्णालङ्कार, वर्ण्यालङ्कार तथा विशेषालङ्कार। वर्णन के सम्पूर्ण विषयों को दो भागों में बाँटा गया है। एक तो काव्य के भिन्न-भिन्न रंग और दूसरे शेष वर्णनीय विषय, प्रथम को वर्णालङ्कार तथा दूसरे को वर्ण्यालङ्कार कहा गया है। शास्त्रीय शब्द 'अलङ्कार' के लिए उन्होंने 'विशेषालङ्कार' शब्द का प्रयोग किया है।

विशेषालङ्कारों या काव्यालङ्कारों के विषय में केशव दण्डी और रुय्यक का अनुकरण करते हैं। रस को अलङ्कारों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी, वह स्वयं "रसवत्" अलङ्कार बन गया। केशव ने उपमा के २२ भेद किये हैं और श्लेष के १३। कई अलङ्कार—जैसे प्रेमालङ्कार तथा ऊर्जालङ्कार तो केवल संख्या बढ़ाने वाले ही हैं।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं "रसिक-प्रिया" में भी सूक्ष्म-भेद विधान की प्रवृत्ति है। रस, नायिकाभेद, वृत्ति आदि का परम्परायुक्त वर्णन है। पद्मिनी, चित्रणी आदि स्त्रियों के अनावश्यक भेद किये गये हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि केशव के ग्रन्थों में अलङ्कारों का बहुत शक्तिवान प्रयत्न निहित है। कुछ विद्वानों ने केशव को रीतिकाल का प्रवर्त्तक न मान कर भक्ति-काल के फुटकर कवियों में स्थान दिया है किन्तु हम उनसे सहमत नहीं। यद्यपि यह सत्य है कि रीति-काल की सम्बद्ध धारा केशव से कुछ वर्ष उपरांत चिन्तामणि से रस-प्राधान्य के आदर्श को लेकर चली और यह भी सत्य है कि केशव से पहले भी साहित्य-शास्त्र के ऊपर लेखनी उठाने वाले कई कवि पाये जाते हैं, फिर भी जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, अन्य पूर्ववर्ती हिन्दी आचार्यों की अपेक्षा केशव का प्रयत्न गम्भीर तथा विस्तृत है। जहाँ तक आदर्शों का सम्बन्ध है केवश अनेक कवियों से भिन्न अवश्य हैं। यह साम्प्रदायिक भेदमात्र हैं; इससे उनके स्थान पर कोई आँच नहीं आती। आचार्य के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह रस-सम्प्रदाय को ही माने। केशव की रसिक प्रिया को देख कर काई यह भी नहीं कह सकता कि वे रस-सम्प्रदाय के विरोधी हैं। रीति-काल की मूल प्रवृत्ति लक्षण ग्रन्थों को लिखने और लक्षणों के अनकूल उदाहरण उपस्थित करने में थी। इस प्रवृत्ति का पूर्ण परिपाक केशव में मिलता है। वस्तुत: केशव को ही रीत-काल का प्रवर्त्तक मानना चाहिए।

भक्ति भावना—जहाँ सूर और तुलसी के लिए कविता साधन मात्र थी और हरि-भक्ति के प्रचार का सफल माध्यम होने के कारण अपनाया गया था वहाँ केशव के लिए कवित्व ही चरम साध्य था। भक्ति उनकी कविता में चाहे थोड़ी पवित्रता प्रदान करदे किन्तु वह साध्य न थी। केशव को अपनी कला पर गर्व था। वे तुलसी की भाँति अपनी रचना को इस लिए गौरव नहीं देते कि 'इहि में रघुपति नाम उदारा' वरन् वे उसमें छन्दों के बाहुल्य को प्रधानता देते हैं। 'रामचन्द्र की चन्द्रिका वर्णति हैं,

बहु छन्द'। केशव ने रामचन्द्रिका लिखने में महर्षि वाल्मीकि से प्रेरणा ग्रहण की थी। वाल्मीकि ने ही तो उन्हें स्वप्न में रामचन्द्रिका लिखने का परामर्श दिया था।

यद्यपि केशव के राम परम ब्रह्म और अवतारी 'अवतार मणि' हैं तथापि वे वाल्मीकि के अनुकूल आदर्श पुरुष अधिक हैं। केशव ने उनका नारायणत्व और ब्रह्मत्व अनेक स्थानों पर मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है (जैसे परशुराम से भेंट होने के प्रसङ्ग में—जगगुरू जायों) किन्तु वह तुलसी की भाँति उसके प्रचारक न थे। यद्यपि केशवदासजी प्राकृतजन के गुणगान के लिए सरस्वती देवी को कष्ट देने में संकोच न करते थे फिर भी रघुनाथजी की भक्ति उनके अन्तस्तल में निवास करती थी। अग्निपरीक्षा के समय जगज्जननी सीताजी की अपनी भक्ति से तुलना करते हुए वे लिखते हैं :—

है मणि-दर्पण में प्रतिबिंब कि प्रीति हिये अनुरक्त अभीता।
पुञ्ज प्रताप में कीरति सी तप तेजन में मनु सिद्धि विनीता॥
ज्यों रघुनाथ तिहारिय भक्ति लसै उर केशव के शुभ गीता।
त्यों अवलोकिय आनँदकंद हुतासन मध्य सबासिन सीता॥

केशव को इस दृश्य से मार्मिक वेदना हुई मालूम पड़ती है। रसिक-प्रिया में भी कृष्ण के शृङ्गार वर्णन में स्मृति रूप से इस दृश्य का उल्लेख हुआ है।

भाषा—केशव की भाषा व्रज-भाषा है जो शुद्ध साहित्यिक है और जिसमें स्थान-स्थान पर बुन्देलखण्डी आदि के शब्द भी पाये जाते हैं। 'साहित्यिक' शब्द के कहने से हमारा तात्पर्य यह है कि उसमें जो सौन्दर्य है वह न तो सूर की भाषा के समान ब्रजभाषा के स्वाभाविक स्वरूप का है और न बिहारी की भाषा के समान माधुर्य का। पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति के कारण

केशव की भाषा संस्कृतबहुला हो गयी है; उसमें ऐसे संस्कृत शब्द देखने में आते हैं जिन्हें संस्कृत का पंडित ही समझ सकें। सूर्य के अर्थ में 'मित्र' शब्द, अग्नि के अर्थ में 'हुताशन' शब्द' माघवा (इन्द्र),शिवा (गीदड़ी),सरोजासना (लक्ष्मी) शब्दों का प्रयोग हिन्दी वालों को अभीष्ट नहीं है। इसी प्रकार बुंदेलखंडी शब्द गौरमदायन भी प्रान्तीय होने के कारण दुरूह है।

'धनु है यह गौर मदायन नहीं'

केशव की भाषा प्रायः व्याकरण की दृष्टि से भी शुद्ध है। कहीं-कहीं च्युत-संस्कृति दोष भी है जो तुकान्त आदि के निमित्त ही ज्ञात होता है नहीं तो लिंग-दोष का और क्या कारण होगा?:—

'पीछे मघवा मोहि शाप दई'

'शाप' शब्द पुलिंग है इस हेतु 'दई' के स्थान पर 'दयो' होना चाहिए। इसी भाँति:—

'अंगद रक्षा रघुपति कीन्हो'

में 'कीन्हो' के स्थान पर 'कीन्हीं' होना चाहिए।

अलङ्कार—केशवदास अलंकारवादी थे और उन्होंने 'कवि-प्रिया' में स्पष्ट कह दिया कि—

'भूषन बिनु न राजई कविता-बनिता-मित्र'

अतः यह स्वाभाविक ही था कि वह चमत्कार का साधन बाह्य अलङ्कारों को ही बनाते। अलङ्कार कोई बुरी वस्तु नहीं होती किन्तु वह अनुचित प्रयोग से स्वाभाविक-सौन्दर्य को भी छिपा सकती है। अत्यधिक अलङ्कार भी कभी-कभी शरीर पर भारस्वरूप जान पड़ते हैं।

अपने पाण्डित्य के कारण केशव ने श्लेष का बड़ा सुन्दर तथा सफल प्रयोग किया है किन्तु कहीं-कहीं यह प्रवृत्ति केवल

इतने ऊपरी शब्द-साम्य का आधार लेकर उपमाओं पर टिकी रहती है कि भाव को निर्जीव कर देती है। 'धाय' वृक्ष का भी नाम है और उपमाता को भी कहते हैं, केशव ने प्रवर्षण-गिरि का वर्णन करते हुए इस शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया है:—

'सिसु सो लसै संग धाय'

पहाड़ की शोभा उसकी महत्ता में है, शिशुता में नहीं। इसी प्रकार 'शिवा' के दो अर्थ हैं—पार्वती और गीदड़ी, इन दोनों का एक साथ ध्यान में आना कितना हास्यस्पद हो जाता है। उसी पर्वत के सम्बन्ध में केशव कहते हैं:—

'संग सिवा विराजै, गजमुख गाजै,
परभृत बोलै, चित्त हरै।'

परिसंख्या अलङ्कार में केशव का यह पांडित्य खूब निखर आया है। 'विधवा बनी न नारि' में 'विधवा' शब्द का श्लेष भी बुरा नहीं है, किन्तु निम्नलिखित छन्द तो अद्वितीय है:—

'मूलन ही की जहाँ अधोगति केशव गाइय।
होम हुतासन धूम नगर एकै मलिनाइय॥'

नीचे के उदाहरण में 'विरोधाभास' का शाब्दिक चमत्कार यदि दुरूह न हो तो परम रमणीय मालूम पड़ता है:—

'विषमय यह गोदावरी अमृत को फल देत'

बहुत थोड़े लोग जानते होंगे कि 'विष' का अर्थ जल भी होता है।

किन्तु अलङ्कार का चमत्कार दिखाने के लिए भी श्री रामचन्द्रजी को परदार-प्रिय कहने में पाप लगता है:—

'परदार-प्रिय साधु मन बच काय के'

परदार शब्द लक्ष्मी और पृथ्वी तथा दूसरी स्त्री को भी कहते हैं। विरोधाभास दूसरे की स्त्री अर्थ लगाने में ही ठीक बैठता है। 'संदेह' अलङ्कार की कल्पना में केशव कहीं-कहीं बहक भी जाते हैं:—

'अरुण गात अति प्रात पद्मिनी-प्राणनाथ भय।
मानहु केशवदास कोकनद कोक प्रेम मय॥
परिपूरण सिंदूरपुर कैंध्यौं मंगल घट।
किधौं शक्र को छत्र मढ्यौ माणिक-मयूख पट॥'

तक तो अत्यन्त शुभ और मंगलमय वर्णन है, किन्तु—

"के शोणित कलित कपाल यह
किल कापालिक काल को।"

के कहते ही जुगुप्सा उत्पन्न हो जाती है। इसके पश्चात्—

यह ललिल लाल कैधों लसत
दिगभामिनि के भाल को।

को जोड़कर कवि ने फिर बिगड़ी बात बनाली है। दोनों पंक्तियों को एक साथ पढ़ने से ऐसा ज्ञात होता है मानो टूटे इक्के पर बैठ कर सड़क का एक दुकड़ा पार किया गया हो।

उपमानों की खोज में भी केशव ने कोई-कोई भूल की है। जैसे रामचन्द्रजी को उलूक के समान गुण वाला कहना—

बासर की सम्पदा उलूक ज्यौं न चितवत।

यद्यपि शुद्ध साहित्यिक को ग्राह्य हो जायगा तथापि भक्तों को

पांडव की प्रतिम सम लेखौ।
अर्जुन भीम महामति देखौ॥

में शब्द साम्य की बिडम्बना लाला भगवानदीन जैसे केशव के भक्तों को भी खटकती है। रामचन्द्रजी के मुख से पाण्डवों का

उल्लेख कराना काल-विरुद्ध दूषण है। अस्तु, कुछ उपमाएँ अपूर्व बन पड़ी हैं—

लीक सी लिखत नभ पाहन के अङ्क सो।

में तेज गति की उपमा वास्तव में अद्वितीय है।

केशव के रूपक बड़े ही चमत्कारपूर्ण हैं—

शोक की आग लगी परिपूरण
आइ गये घनश्याम बिहाने।
जानकि के जनकादिक के सब
फूलि उठे तरु पुण्य पुराने॥

इसमें घनश्याम पर श्लेष भी अति सुन्दर और सार्थक है। 'अपन्हुति' भी समयानुकूल है—

भट, चातक, दादुर मोर न बोले।
चपला चमकै न, फिरै खँग खोले॥
दुतिवन्तन कौं विपदा बहु कीन्हीं।
धरनी कहँ चन्द्रबधू धरि दीन्ही॥

अन्तिम दो पंक्तियों में द्युतिवन्तों की दुर्गति से अपनी ओर और चन्द्रवधू द्वारा सीता की ओर इशारा किया है।

इस प्रकार आरम्भ से अन्त तक यद्यपि केशव में चमत्कार ही चमत्कार है (अतः अलंकार कहीं-कहीं भद्दे भी लगने लगते हैं) किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उनका अलंकारों पर असाधारण अधिकार नहीं है। परिसंख्या आदि के उदाहरण तो इनके समान कोई लिख ही न सका। कहीं-कहीं अत्यन्त सुन्दर तुलनात्मक विरोध भी बड़े स्वाभाविक रूप से आये हैं—

सिन्धु तरयो उनको बनरा तुमपै धनु रेख गई न तरी।
बाँदर बाँधत सो न बँध्यो, उन बारिधि बाँधि के बाट करी।

शब्दालङ्कारों तथा अर्थालङ्कारों की पूर्ण भरमार इनके आचार्यत्व को परिचायिका है। (विशेष ज्ञान के लिए देखिए 'साहित्य सन्देश' जुलाई १६४५ में मेरा निबन्ध 'केशव की अलंकार-योजना')।

संवाद—जिन समालोचकों ने केशव की कविता में केवल दोष ही दोष देखे हैं उनको भी यह स्वीकार करना पड़ा है कि केशव के से संवाद हिन्दी का कोई भी दूसरा कवि नहीं लिख सका है। उनके संवादों में कई अपने गुण हैं। एक तो यह है कि कवि ने अपने संवादों में पात्र-निर्देश को काव्य का अङ्ग नहीं बनाया, प्रत्युत बाहर से पात्रों के नाम लिख दिये गये हैं। कहीं-कहीं तो एक ही छन्द में तीन पात्र आ गये हैं। यह बात कुछ खटकती है क्योंकि पात्र-परिवर्तन व्यर्थ का एक विघ्न है।

दूसरी विशेषता है कि पात्रोचित शिष्टाचार का निर्वाह पूर्णता से हुआ है। परशुराम-संवाद तथा रावण-संवाद दोनों ही स्थानों पर केशव ने इस बात का ध्यान रखा है किन्तु तुलसी इसे कहीं-कहीं भूल से गये हैं। महाराज जनक और विश्वामित्र के वार्तालाप में शिष्टाचार की मर्यादा अपनी चरम सीमा को पहुँची हुई दिखाई देती है।

इन संवादों की तीसरी विशेषता है प्रत्युत्पन्नमतित्व तथा व्यंग्य की प्रवृत्ति। यह भी केशव ने राजसभा से ही सीखी होगी। परशुराम-संवाद में परशुराम का विश्वामित्र से वार्तालाप देखिए—

यह कौन को दल देखिए।
यह राम को प्रभु लेखिए॥
कहि कौन राम? न जानियो।
सर ताड़का जिन मारियो॥

इत्यादि में कितने संयत वाक्यों का प्रयोग है किन्तु थोड़े ही शब्दों में रामचन्द्रजी की महत्ता का उल्लेख हो गया है। लव-कुश का रामचन्द्र के वीरों के साथ जो वार्तालाप हुआ है वह परम रमणीय, विदग्धतापूर्ण तथा मनोरञ्जक है।

प्रकृति चित्रण—केशव ने प्रकृति का संश्लिष्ट चित्र नहीं खींचा, वह केवल अधिकतर स्थानों में गिनती गिनने तक ही रह गये हैं। साधारण वर्णनों का आधिक्य होने से प्राकृतिक चित्रों का भी आधिक्य हो गया है किन्तु उसमें केशव की वृत्ति रमती हुई नहीं जान पड़ती।

केशवदासजी प्रकृति के वर्णन में देश-विरुद्ध दूषण भी काफी किये हैं। विश्वामित्र के तपोवन के वर्णन में एला, लवंग और पुङ्गीफल का वर्णन किया है जो बिहार में नहीं होते।

एला ललित लवंग संग पुङ्गीफल।

इसी प्रकार हनूमानजी का सीताजी से रामचन्द्रजी का विरह-वर्णन करते हुए यह बतलाना कि वे केशर की क्यारियों से ऐसे ही डरते हैं जैसे कि केशरी (सिंह) से हाथी। इस श्लेष के मोह से काश्मीर की वस्तु वह दक्षिण के जङ्गलों में ले आये, देखिए—

केसरी को देखि बन करी ज्यों कँपत हैं।

दण्डकारण्य के वर्णन में भी वे अपनी नृपसेवा को न भूल सके—

सेब बड़े नृप की जनु लसै। श्रीफल भूरि भयो जहँ बसै॥

श्रीफल का बन के सम्बन्ध में बेल का अर्थ है और नृप के सम्बन्ध में इसका अर्थ धन-वैभव है। केशवदासजी को सेब और बेर के नाम से अवश्य प्रेम था। नीचे के छन्द में वह अर्क (धतूरे) और अर्क (सूर्य) के साम्य के आधार पर प्रलय-

काल की भयानक बेला (समय—जबकि बारहों सूर्य का उदय होता है) उपस्थित कर देते हैं—

बेर भयानक सी अति लगै। अर्क समूह जहँ जगमगै॥

इस सम्बन्ध में बिहारी ने अपनी सुरुचि का अच्छा परिचय दिया है, देखिए—

गुनी गुनी सब कोउ कहत, निगुनी गुनी न होत।
सुन्यो कहूँ तरु अर्क ते, अर्क समान उदोत॥

केशव का हृदयपक्ष—केशवदासजी के लिए कुछ आलोचकों का कहना है कि उनमें रस की खोज करना ऐसा ही निरर्थक है जैसा कि मरुभूमि में जल का। किन्तु मरुभूमि में भी 'ओसिस' नाम के जलपूर्ण स्थल मिलते हैं, फिर तो केशव कवि थे। यद्यपि केशव की रामचन्द्रिका में सभी रस मिलते हैं फिर भी उनका शृङ्गार और वीर रस में अधिक सफलता मिली है। रसिक-प्रिया में भी शृङ्गार के वर्णन में ही वे अधिक सफल हुए हैं।

राम-सीता के मर्यादापूर्ण जीवन में रसिकता के लिए कम गुञ्जाइश है, फिर भी दो एक स्थलों में केशव ने अपनी रसिकता का परिचय दे ही दिया है। वन गमन समय के दो वर्णन देखिए:—

'मग को श्रम श्रीपति दूरि करै,
सिय को, शुभ बाकल अँचल सों।
श्रम तेउ हरैं तिनको कहि केशव,
चंचल चारु दृगंचल सों॥

नीचे के वर्णन में यद्यपि तुलसीदासजी की मर्यादा परक भाव-सुकुमारता नहीं है (क्योंकि तुलसीदासजी की सीता रामचन्द्र पद अङ्कों को बचा कर चलती हैं) तथापि शृङ्गार की दृष्टि से यह सूक्ति काफी सरस है, देखिए:—

'मारग की रज तापित है अति, केशव सीतंहि सीतल लागति।
त्यौ पद-पंकज ऊपर पायनि, दै जु चले तेहि ते सुखदायनि ॥'

केशवदासजी ने सीता और राम के वियोग का अच्छा वर्णन किया है किन्तु वह परम्परा-भुक्त हो गया है। सीताजी की निम्नोल्लिखित उक्ति उनके हृदय की वेदनामयी चिन्ता का परिचय देती है:—

'श्री पुर में, बन मध्य हौं, तू मग करी अनीति।
कहि मुदरी अब तियनि की को करिहै परतीति ॥

श्री (लक्ष्मीजी) ने तो उनको नगर में त्याग दिया, मैंने वन में त्याग दिया और तूने उन्हें रास्ते में त्याग दिया। हे मुद्रिके अब स्त्रियों का कौन विश्वास करेगा? इसमें राम के अकेलेपन की व्यञ्जना है।

लवकुश की वीरता सम्बन्धी कुछ गर्वोक्तियाँ बड़ी मार्मिक हैं:-

कछु बात बड़ी न कहौं मुख थोरे।
लव सों न जुरो लवणासुर भोरे ॥
द्विज-दोषन ही बल ताहि सँहारयो।
मरहो जु रहो सु कहा तुम मारयो ॥

यद्यपि केशव के लिए यह कहा जाता है कि वे करुणा के दृश्यों के वर्णन में अधिक सफल नहीं हुए तथापि वास्तव में बात ऐसी नहीं है। उन्होंने करुणा के स्थलों को अधिक विस्तार नहीं दिया है किन्तु जहाँ करुणा का वर्णन किया है वहाँ वह बड़ा मार्मिक है। वात्सल्य-सम्बन्धी करुणा का निम्नोल्लिखित दृश्य बड़ा हृदयस्पर्शी है—विश्वामित्र जब रामचन्द्रजी को अपने साथ ले जाते हैं उस समय का वर्णन केशव की सहृदयता का परिचायक है, देखिए:—

'राम चलत नृप के युग लोचन।
वारि भरित भये वारिद रोचन॥
पायन परि ऋषि के सजि मौनहिं।
केशव उठि गये भीतर भौनहिं॥'

दशरथ की मौन ही उनके हृदयगत भावों का वाचाल रूप से द्योतन कर रही थी। केशव ने उस समय भी शिष्टाचार का ध्यान रक्खा है।

लक्ष्मणजी के शक्ति लगते समय भी केशव ने अपने सूक्ष्म निरीक्षण और वर्णन-कौशल का परिचय दिया है :—

हौं सुमरौं गुण केतिक तेरे। सोदर पुत्र सहायक मेरे॥
मोहि रही इतनी मन शंका। दैन न पाई विभीषण लंका॥
बोलि उठो प्रभु को पन पारौ। नातरु होत है मो मुख कारौ॥'
'बारक लक्ष्मण मोहि बिलोको। मोकहँ प्राण चले तजि, रोको॥

इस विलाप में बड़ी मार्मिक वेदना है। पुत्र शब्द में रामजी ने अपना सारा स्नेह भर दिया है। सहायक कह कर अपनी हीन अवस्था की ओर संकेत किया है और यह बतलाया है कि लक्ष्मण के बिना वे अपने प्रण (विभीषण को लंका देने का) पालन न कर सकेंगे। रामचन्द्रजी ने तीन सम्बन्ध तो अपनी ओर के बतलाये और चौथा सम्बन्ध प्रभु का कहा जिसे स्वयं लक्ष्मण मानते थे। उसी नाते वे लक्ष्मणजी से 'अपील' करते हैं कि कम से कम अपने 'प्रभु' के इस प्रण पालन में तो सहायता करो। प्रभु शब्द में सारी करुणा उड़ेल दी गयी है।

प्रबन्ध-निर्वाह—रामचन्द्रिका यद्यपि एक प्रबन्ध काव्य के रूप में लिखा गया है फिर भी उसमें मुक्तक की स्फुटता विद्यमान है। कथा के तारतम्य की अपेक्षा अलंकरण एवं पांडित्य-प्रदर्शन की ओर रुचि अधिक है, कथाओं में न तारतम्य

है, न अनुपात। राम-वनवास की सारी बात कितने संक्षेप में चलती की है—

'यह बात भरत्थ की मातु सुनी।
पठऊँ बन रामहिं बुद्धि गुनी।
तेहि मंदिर मों नृप सों बिनयो।
वर देहु हुतो हमको जु दियो।
नृप बात कही हँस हेरि हियो।
बर माँगि सुलोचनि मैं जु दियो।

मंथरा को इस दृश्य से बाहर रखने के कारण सारा उत्तरदायित्व कैकेयी पर ही आ जाता है। अस्तु।

वनगमन समय रामचद्रजी द्वारा माता कौशल्या को वैधव्य धर्म का उपदेश दिलाना अप्रासंगिक-सा हो जाता है। घटना के पूर्व ही ऐसी अशुभ कल्पना उपदेश देने का उतावलापन ही कहा जा सकता है। श्री रामचन्द्रजी को भविष्य का ज्ञान चाहे हो किन्तु अवसर के पूर्व एक ऐसी अशुभ बात की ओर संकेत अनुचित था, विशेषकर पुत्र के मुख से। पहले तो कौशल्या जैसी सती-साध्वी के लिए यह व्यर्थ सा था किन्तु यदि उपदेश की आवश्यकता ही थी तो उसके अधिकारी गुरु वशिष्ठ जी थे और वह भी मृत्यु के पश्चात् ही; किन्तु केशव ने मृत्यु के पश्चात् तो किसी से दो शब्द भी नहीं कहलाये।

ब्रह्म रंध्र फोरि जीव यौं मिल्यों जुलोक जाय।
गेह तूरि ज्यों चकोर चन्द्र में मिलै उड़ाय॥
(जुलोक = द्यु लोक = सुरलोक। गेह = पिंजड़ा)

इसके आगे ही रामचन्द्रजी की वनगवन की शोभा का वर्णन होने लगता है। एक प्रसङ्ग से दूसरे प्रसङ्ग तक जाने में कुछ तारतम्य चाहिए इसका केशव में नितान्त अभाव है।

केशव को प्रसङ्ग-निर्वाह की अपेक्षा सूक्तियों की अधिक चिंता रहती है। उसमें वे कहने वाले की पात्रता का भी ध्यान नहीं रखते। ग्रामीण स्त्रियों द्वारा सीताजी के मुख की चन्द्रमा से जो श्लेष-प्रधान तुलना करायी है वह केशव जैसे पंडितों के ही योग्य है भोली-माली स्त्रियों के योग्य नहीं। (इस सम्बन्ध में केशव-दासजो की कमजोरी का पहले ही उल्लेख कर चुके हैं।

'बासौं मृग अङ्क कहैं तो सों मृगनैनी सब,
वह सुधाधर तुहूँ सुधाधर मानिये।
वह द्विजराज, तेरे द्विजराजि राजै,
वह कलानिधि तुहूँ कलाकलित बखानिये॥'

(मृग अङ्क = मृग है गोद में जिसके, चन्द्रमा का विशेषण है। चन्द्रमा के पक्ष में सुधाधर सुधा को धारण करने वाला अर्थ लगेगा 'सुधा है, जिसके अधर में' यह अर्थ सीता के पक्ष में लगेगा। द्विजराज-चन्द्रमा को द्विजराज कहते हैं क्योंकि उसका दो बार जन्म हुआ था। सीता के पक्ष में—द्विजराजि = दाँतों की पंक्ति। द्विज दाँत को भी कहते हैं क्योंकि उनका दो बार जन्म होता है। चन्द्रमा कलानिधि है और सीता कला-विद हैं।)

केशवदासजी भरतजी के चित्रकूट गमन के प्रसङ्ग में गुह का वर्णन करते हैं: 'तरि गङ्ग गये गुह संग लिए' किन्तु इसका परिचय कहीं नहीं आता।

उत्तरार्द्ध की कथा में, विशेकर अश्वमेध यज्ञ तथा लवकुश के साथ युद्ध के वर्णन में प्रबन्ध-निर्वाह अच्छा हुआ है। उत्तरार्द्ध में भी कहीं-कहीं वर्णन में उन्होंने मर्यादा का ध्यान नहीं रक्खा है। दासियों के नख-शिख के वर्णन में चाहे सीताजी की अलौकिक सुन्दरता की क्षीण व्यञ्जना हो किन्तु वह वर्णन

रामचन्द्रजी की मर्यादा के विरुद्ध है। केशवदासजी ने हमको सूक्तियों के बिखरे हुए मोती ही अधिक दिये उनमें तारतम्य-सूत्र का अपेक्षाकृत अभाव सा ही मिलता है।

चरित्र-चित्रण—केशवदासजी का चरित्र-चित्रण इतना सदोष नहीं है जितना उनका प्रबन्ध-निर्वाह। रामचन्द्रजी के शील और उनकी धर्म-परायणता का हमको शुरू से ही परिचय मिल जाता है। ताड़का वध के समय उन्होंने विश्वामित्र से पर्याप्त तर्क किया है। केशव के राम इस अपराध से मुक्त रहते हैं। रावण-बाणासुर वार्तालाप प्रबन्ध की दृष्टि से निरर्थक हो किन्तु उसमें रावण के चरित्र पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। केशव के चरित्र-चित्रण का कौशल उस समय मालूम होता है जब कि लक्ष्मणजी की मूर्छा छूटने पर वे उनसे पहली बात यही कहलाते हैं 'लंकेश न जीवत जाय घरैं।'

केशवदासजी को यदि साहित्य के उडगनों में स्थान दिया गया है तो वे साधारण नहीं है, वरन् शुक्र की भाँति परम उज्ज्वल और प्रभावपूर्ण हैं।

रीति काल की कुछ विशेषताएँ—

१—लक्षण ग्रन्थ लिखे गये। कविता स्वतन्त्र रूप से कम हुई लक्षणों के उदाहरण स्वरूप अधिक रही

२—शृङ्गार रस का प्राधान्य रहा। भूषण को छोड़कर प्रायः सभी ने शृङ्गार रस को अपनाया शृङ्गारके आलम्बन और आश्रय राधा-कृष्ण ही रहे किन्तु भक्ति-काल की सी तन्मयता और निजी उल्लास न रहा

३—कविता राज्याश्रित हो गई और उसकी प्रवृत्ति मुक्तक की ओर अधिक रही। दोहा, कवित्त, सवैया आदि का अधिक प्रचार हुआ

४—भाव की अपेक्षा कला का प्राधान्य हो गया। अलङ्कारों की प्रमुखता मिली

५—सामाजिक विलास वैभव का वर्णन अच्छा हुआ, देव बिहारी, पद्माकर आदि में इसके अच्छे उदाहरण मिलते हैं।

केशव में भी ये ही प्रवृत्तियाँ थी। इनके अतिरिक्त उनमें कुछ निजी विशेषताएँ थीं। वे इस प्रकार गिनाई जा सकती हैं:—

१—केशव के काव्य पर संस्कृत साहित्य का अधिक प्रभाव था। बहुत से प्रसङ्ग संस्कृत ग्रन्थों से अनूदित हैं।

२—केशव की भाषा संस्कृत गर्भित व्रजभाषा है जिसमें यत्र-तत्र बुन्देलखंडी का भी पुट है।

३—केशव ने छन्दों का बाहुल्य रक्खा है किन्तु तुक में कहीं-कहीं शैथिल्य आ गया है।

४—केशव ने रस परिपाक की अपेक्षा अलङ्कारिक चमत्कार और सूक्तियों की ओर अधिक ध्यान रक्खा है। इसी कारण प्रबन्ध-निर्वाह भी कुछ शिथिल हो गया है।

५—केशव के संवाद बड़े शिष्ट और प्रत्युत्पन्न-मति पूर्ण हैं।

६—केशवदास जी कवि पहले थे भक्त पीछे थे।

———

रसिक कवि—बिहारीलाल

सतसैया के दोहरा, ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगें, घाव करैं गम्भीर॥

जीवनवृत्त—कविवर बिहारीलाल के जीवन वृत्त पर प्रकाश डालने वाले कुछ दोहे उनकी सतसई में मिलते हैं। उनके ही अन्तर्साक्ष्य के आधार पर हम उनके जीवन-चरित के सम्बन्ध में कुछ कह सकते हैं।

बिहारीलालजी का जन्म संवत् १६६० में बतलाया जाता है। उनकी सतसई की समाप्ति की तिथि निश्चित है तथा उनके आश्रय दाता मिर्जा राजा जयशाह का शासनकाल संवत् १६७६ से १७२९ तक रहा। इन दोनों बातों के आधार पर यह संवत् प्रामाणिक मालूम होता है। उन्सठ वर्ष की अवस्था ऐसी नहीं जिसमें कि कोई श्रृङ्गारिक कविता न कर सके। वह दोहा इस प्रकार है:—

संवत ग्रह शशि जलधि छिति, तिथि छठ बासर चंद।
चैत मास पख कृष्ण में, पूरन आनँद कंद॥

ग्रह = ९, शशि = १, जलधि = ७, छिति = १, अङ्कानां वामतो गतिः। इस हिसाब से यह तिथि १७१९ बैठती है। नीचे के दोहों से उनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ तथ्य निकाले जा सकते हैं।

क— प्रगट भये द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरो हरौ कलेस सब, केसो केसो राइ॥

ख– जनम ग्वालियर जानिये, खंड बुंदेले बाल।
तरुनाई आई सुखद, मथुरा बसि ससुराल॥

ग– आवत जात न जानिये, तेजहि तजि सियरानु।
घरहिं जमाई लौं घट्यौ, खरौ पूस दिन मानु॥

(क) से यह तथ्य निकलता है कि बिहारीलालजी ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम केशवराय था और केशव भगवान कृष्ण के समान वे अपनी इच्छा से ब्रज में आकर बसे थे। इसके आधार पर कोई-कोई आलोचक उन्हें प्रसिद्ध केशवदास का पुत्र मानते हैं और कोई राय शब्द के आधार पर ब्रह्मभट्ट बतलाते हैं। केशव के जीवनकाल के सन-संवत् से यह बात असम्भव नहीं किन्तु बिहारी के पिता केशवदास न थे क्योंकि वे तो ओड़छा में रहते थे। न कि ब्रज में।

(ख) से यह प्रकट होता है कि उनका जन्म ग्वालियर में हुआ और तरुनाई उनकी सुसराल (मथुरा) में बीती। (ग से यह अनुमान होता है कि शायद उनका सुसराल में अनादृत होना पड़ा। उसी के पश्चात् वे जयपुर पहुँचे और वहाँ नीचे के दोहे के आधार पर उन्होंने दरबार में अपनी पहुँच कर ली। कहा जाता है महाराज जयसिंह ने बिहारी को एक-एक दोहे पर एक-एक अशर्फी प्रदान की थी।

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं बिकास इहि काल,
अली कली ही सौं बिंध्यौ, आगे कौन हवाल।

इस दोहे ने जादू का सा काम किया। नवागत रानी के प्रेम में प्रजा की सुध भूले हुए राजा जयशाह ने अपना राज-काज देखना आरम्भ कर दिया। यद्यपि इस दोहे में नीचे की गाथा की छाया है तथापि उसका उचित अवसर पर प्रयोग करने में

बिहारी की सूझ सराहनीय है। इसी को कहते हैं 'कान्ता-सम्मिततयोपदेशयुजे' काव्य कान्ता का सा मधुर उपदेश देने का काम करता है। उस गाथा का संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार है :—

ईषद् कोषविकासंयावन्नाप्नोति मालती कलिका।
मकरन्दपानलोलुप मधुकर किं तावदेव मर्दयसि॥

बिहारी ने इसकी छाया अवश्य ली किन्तु इस छाया में उन्होंने अपने रंग भर कर उसे सुरम्य बना दिया है। बिंध्यो में जो सौष्ठव, शिष्टता और प्रसङ्गानुकूलता आगई है वह मर्दयसि में नहीं। भौंरा रस पान ही करता है मर्दन नहीं करता है। बिंध्यो में घर से बाहर न आने की व्यञ्जना भी है और आगे कौन हवाल में वह व्यञ्जना और भी गहरी हो गई है।

रीति-काल और भक्ति-काल—भक्ति काल में जहाँ राज्याश्रय को ठुकराने की प्रवृत्ति थी ('सन्तन कहा सीकरी सों काम' या 'कीन्हे प्राकृत नर गुन गाना गिरा सिर धुन लगति पछताना') वहाँ रीति काल में कविता राज्याश्रय में पहुँच गयी थी। यद्यपि उस समय भी अच्छे कवि स्वान्तः सुखाय कविता लिखते थे तथापि उसमें आश्रयदाता की प्रसन्नता के अर्थ की भी भावना अधिक रहती थी। जहाँ भक्ति-काल में भगवान के आश्रय में अथवा अपनी जातीय श्रेष्ठता की अव्यक्त चेतना में हार की मनोवृत्ति के निराकरण की भावना थी वहाँ रीति काल में हारी हुई मनोवृत्ति को विलासिता के मधु में भुला देने की ओर झुकाउ था।

इसलिए उस काल में शृङ्गारिकता का प्राधान्य हो गया था। उन दिनों संघर्ष की भावना कुछ कमी पर थी। कवि लोगों में राजसी ठाठ-वाट से रह कर अपने आश्रयदाताओं का सा

जीवन व्यतीत करने की प्रवृति आगई थी। संस्कृत में लक्षण ग्रन्थों की परम्परा जोर से चल पड़ी थी। अनुकरण के लिए प्रचुर सामग्री मिल जाती थी और कवि लोग सहज में ही आचार्यत्व का भी श्रेय पा लेते थे। उस काल में कविता स्वतः स्फूर्ति का विषय न रह कर बँधे-बँधाये साँचों में ढलने लगी थी और वह लक्षणों के उदाहरण स्वरूप होने लगी। काव्य की प्रवृत्ति मुक्तक की ओर हो गयी थी। भक्ति काल की सी प्रबन्धात्मकता न थी। राजा लोगों का ध्यान किसी एक ही वस्तु में अधिक काल तक नहीं रमता। मुक्तक काव्य उनकी इस मनोवृत्ति के अनुकूल था। शृङ्गार और नीति के मुक्तकों के लिए कवित्त-सवैये और दोहे ही अधिक उपयुक्त थे। दोहों की परम्परा बहुत पुरानी थी उसमें ध्वनि और व्यञ्जना के लिए अधिक गुञ्जाइश रहती है। सतसई की परम्परा प्राचीन थी प्राकृत की हालकृत गाथा सप्तशती बहुत प्रसिद्ध है। बिहारी उससे प्रभावित भी थे। तुलसी की भी एक सतसई कही जाती है।

रीति-काल के कवियों के आलम्बन तो प्रायः कृष्ण भगवान ही रहे क्योंकि प्रत्येक सहृदय के हृदय-मन्दिर में कृष्ण काव्य के रसाभिषेक से उनकी प्रतिष्ठा हो चुकी थी किन्तु रीति-काल में वह भक्ति-भावना और इष्ट देव के लीला-वर्णन का निजीपन तथा उत्साह न रहा जो कृष्ण-काव्य में था। कृष्ण का काव्य-सौरभ जहाँ जीवन के रस और सौन्दर्य से लहलहाते सद्यःप्रस्फुटित पाटल पुष्पों का सा था वहाँ रीति काल की महक तीव्र होते हुए भी गन्धी के इत्र की भाँति कृत्रिम थी। कृष्ण काव्य में शृङ्गार जीवन-विटप में विकसित पुष्पराशि की भाँति था जिसमें फूलों के साथ पत्तियों का भी महत्व था किन्तु रीति काल की कविता में उन पत्तियों का महत्व कम रह गया। रीति काल में जीवन

का चित्रण है अवश्य किन्तु वह श्रृङ्गार रस के आश्रित है। भक्ति काल में श्रृङ्गार जीवन के आश्रित था। इसका यह अर्थ न समझा जाय कि रीति-काल के कवि नितान्त अभक्त होते थे या नितान्त अव्यवहारिक थे। बिहारी ने तो बड़े सुन्दर-शान्त रस के और नीति के दोहे लिखे हैं। यद्यपि वे अनुपात में श्रृङ्गार की अपेक्षा बहुत ही नगण्य हैं तथापि वे गुण में उत्कृष्ट हैं।

बिहारी का स्थान—रीति-काल के समय के कवियों में कला का प्राधान्य था। भाव कला के आश्रित हो गया था। कला भाव के प्रसार में सहायक न थी वरन् कला के उद्घाटन के लिए भावों का अस्तित्व था। उस समय के कवियों में प्रायः कवित्व और आचार्यत्व साथ-साथ चलता था। कुछ ऐसे भी कवि थे जिनमें आचार्यत्व स्वतन्त्र रूप से तो न था वरन् उनका कवित्व आचार्यत्व की पृष्ठ भूमि पर पोषित और पल्लवित हुआ था। बिहरी उसी प्रकार के कवि थे। उनमें काव्याङ्गों के लक्षण तो नहीं हैं किन्तु श्रृङ्गार सम्बन्धी काव्य के सभी उपादान (सञ्चारी और अनुभाव, हाव-भाव आदि) अलङ्कारों के सूत्र में गुँथे हुए मिल जाते हैं। यदि लक्षण लिखने को आचार्यत्व की कसौटी माना जाय तो बिहारी आचार्य नहीं थे किन्तु यदि शास्त्र ज्ञान को आचार्यत्व का निर्णायक माना जाय तो बिहारी के आचार्यत्व में किसी प्रकार की कमी न थी।

शब्दालङ्कार—शायद शब्दालङ्कार सम्बन्धी दोहों से प्रभावित होकर कुछ आलोचकों ने जैसे एडविन ग्रीव्ज ने बिहारी को शब्दों का कलाबाज Clever manipulator of words कहा है किन्तु बिहारी के शब्दालङ्कार भी भावगर्भित हैं, यद्यपि उनमें इतना अर्थगाम्भीर्य नहीं जितना कि उनके और दोहों में है यहाँ पर ऐसे दोहों के दो उदाहरण दिये जाते हैं :—

अज्यों तरयोना ही रह्यो, श्रुति सेवत इक अङ्ग।
नाक बास बेसर लह्यो बसि मुक्तन के सङ्ग॥
बर जीते सर मैन के ऐसे देखे मैं न।
हरनी के नैनान तैं, हरि नीके ये नैन॥

(तरयोना = (१) कान का आभूषण, (२) तरयो ना = तरा नहीं; श्रुति = (१) कान, (२) वेद, शास्त्र; नाक = (१) नासिका, (२) स्वर्ग; मुक्तन = (१) मोतियों, (२) मुक्त लोग, पहले श्लेष का चमत्कार है और दूसरे में यमक का, किन्तु ये भी कुछ तथ्य को लेकर चले हैं। पहले में केवल शास्त्रज्ञान की निरर्थकता काव्यमय ढङ्ग से प्रमाणित की है। सच्चे साधक अनुभव और सत्संग को अधिक महत्व देते हैं। दूसरे में नेत्रों की प्रशंसा के साथ काव्यलिङ्ग का भी चमत्कार है। हरनी तो विजित हो शर का शिकार बन जाती है, किन्तु ये नैन अपने कार्य-सौष्ठव में पंचशर के तीखे बानों को भी जीत लेते हैं। कहीं-कहीं तो शाब्दिक चमत्कार द्वारा बिहारी ने बड़ा शिष्ट हास्य भी उपस्थित किया है, देखिए—

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि, ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥

(वृषभानुजा = (१) वृहभ = बैल, अनुजा = बहन, (२) राधा, वृषभानु की पुत्री। हलधर = (१) बैल, (२) बलरामजी; वीर = भाई।)

अर्थालङ्कारों की सार्थकता—यद्यपि बिहारी ने अपनी नायिकाओं के स्वाभाविक सौन्दर्य के आगे अलङ्कारों का तिरस्कार-सा किया है और उनको दृग-पग पौंछन को पाइन्दाज तथा दर्पन के-से मोर्चे कहा है, तथापि उनकी कविता-कामिनी देह में सुगठित, एवं अङ्ग-अङ्ग छवि की लपट से दीप्त होती हुई भी अल-

ङ्कारों से भी सुसम्पन्न है। उसके अलङ्कार भी करण के कवच और कुण्डलों की भाँति उसके शरीर का अङ्ग बन गये हैं। जब अलङ्कारों में रस का समन्वय हो जाता है तब वे भी सप्राण दिखाई देने लगते हैं और मृतमण्डन नहीं रह जाते। वैसे तो किमिव हि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम्' और 'सरसिजमनुविद्ध' शैवलेनापि रम्यम्' की बात ठीक है किन्तु जहाँ ईश्वरदत्त सौन्दर्य के साथ शृङ्गार भी हो वहाँ सोने में सुगन्ध आने लगती है। बिहारी के दोहों में यही बात है। नीचे का दोहा लीजिए—

मृगनैनी दृग को फरक, उर उछाह तन फूल।
बिन ही पिय-आगम उमँगि, पलटन लगी दुकूल॥

इस दोहे में सिंहाकारीजी ने दस अलङ्कार दिखाये हैं। इसमें परिकरांकुर (मृगनैनी में साभिप्राय विशेष होने के कारण), प्रथम विभावना (बिना कारण के कार्य होना), द्वितीय समुच्चय (एक कारण के कई कारण) प्रमाण आदि अलंकार स्पष्ट हैं किन्तु उससे अधिक आगमिष्यति पतिका के हर्ष, अभिलाषा, उत्कण्ठा, मति (मन का निश्चय) आदि सञ्चारियां का चमत्कार है। इसमें पति की अनुपस्थिति में उसकी मलिन दशा को भी व्यञ्जना है।

बिहारी ने असङ्गति, विभावना विशेषोक्ति, विरोधाभास अलङ्कारों द्वारा यह भी व्यञ्जित किया है कि 'प्रेम के पंथ को पैंडो ही न्यारो है' नीचे के उदाहरण में देखिए—

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठ दुर्जन हिये, दई नई यह रीति॥

इस दोहे में सभी क्रियाएँ सूत के रूपक में अनस्यूत हैं और उनमें लक्षणा शक्ति का भी सुन्दर उपयोग हुआ है। सूत में वे सब क्रियाएँ एक ही स्थान में होती हैं किन्तु प्रेम में भिन्न-भिन्न

स्थानों में। कारण और कार्य के भिन्न अधिकरण होने के कारण इसमें असङ्गति है और कार्यों की अनेकता के कारण समुच्चय। इस दोहे में हम को थोड़े में बहुत सी बात कहने का भी चमत्कार मिलता है।

अलङ्कारों के दो एक उदाहरण और लीजिए:—

अपन्हुति —

धुरवा होंहि न अलि उठै धुआँ धरनि चहुँ कोद।
जारत आवत जगत कौं पावस प्रथम पयोद॥

मीलित—

जुवति जोन्ह में मिलि गई, नैक न होति लखाइ।
सोंधे के डोरन लगी, अली चली सँग जाइ॥

(सौंधे = सुगन्ध खुशबूदार तेल आदि को)

प्रतिवस्तूपमा—

चटक न छाँड़त घटतु हू, सज्जन-नेहु गँभीरु।
फीकौ परै न बरु घट, रँग्यो चोल रँग चीर॥

बिहारी ने एक से एक बढ़िया अन्योक्तियाँ लिखी हैं। एक अन्योक्ति द्वारा मुसलमानों के आश्रय में हिन्दुओं पर चढ़ाई करने के लिए अपने आश्रयदाता को बड़ी करारी फटकार लगाई है, देखिए —

स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा देखि विहंग विचारि।
बाज, पराए पानि पर, तू पंछीनु न मारि॥

समास गुण—आचार्य शुक्लजी की शब्दावली का प्रयोग करते हुए हम कह सकते हैं कि सफल मुक्तककार के लिए जो कल्पना की समाहार शक्ति और भाषा की समास शक्ति वाञ्छनीय है, वह बिहारी में पूरी तौर से वर्तमान थी। बिहारी की

यह विशेषता है कि वे कल्पना के सहारे बहुत से चित्रों को एक साथ उपस्थित कर भाषा की समास शक्ति के कारण दोहे जैसे छोटे छन्द में उन्हें गुम्फित कर देते हैं। इसके दिखलाने के लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा।

[illegible]च लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै, भौंहन हँसै, दैन कहै नटि जाय॥

इसके द्वारा कवि ने नायिका की सजीवता, फालतू उमंग, चापल्य, विनोदप्रियता का चित्र अंकित कर दिया है। सिनेमा की रील सी खुलने लगती है। इसमें संयोग शृङ्गार के स्थायी भाव रति की दीप्ति पूर्ण रूपेण प्रस्फुटित हो रही है और शृङ्गार का सहायक होकर हास्य सञ्चारी रूप से मिला हुआ है। 'विलास' हाव की भी सुन्दर छटा है।

भाषा-माधुर्य—शब्द और अर्थ काव्य के शरीर माने गये है। वास्तव में शरीरत्व धर्म शब्दों में ही घटित होता है, अर्थ तो हृदय और मस्तिष्क की भाँति आत्मा और शरीर का मिलन केन्द्र है। बिहारी के शब्द रविबाबू की चित्राङ्गदा की भाँति (किन्तु उनका सौन्दर्य माँगा हुआ नहीं है) अपने सौन्दर्य के बल पर हृदय द्वार में प्रवेश पा जाते हैं और फिर अर्थ गाम्भीर्य गुण से उस पर अपना अटल साम्राज्य स्थापित कर लेते हैं। बाहरी सौन्दर्य बुरी चीज नहीं यदि उसमें आन्तरिक सौन्दर्य की भी दीप्ति हो। बिहारी ने भाषा के सहज माधुर्य का पूरा लाभ उठाया है। वह कला की प्रेषणीयता को द्विगुणित कर देता है। कुछ दोहे तो ऐसे हैं कि जिनको सुनते ही भाषा का न जानने वाला भी चमत्कृत हो उठता है, देखिए:—

रस सिंगार मंजनु किये कंजन भंजन दैन।
अंजन रंजन हू बिना खंजन गंजन नैन॥

रुनति भृंग घंटावली, झरत दान मधु नीर।
मन्द मन्द आवत चल्यौ, कुंजर कुंज समीर॥
नभ-लाली चाली निसा, चटकाली धुन कीन॥
रति पाली, आली अनत, आए बनमाली न॥

दूसरे दोहे में तो हाथी की मस्त चाल का चित्र-सा उपस्थित हो जाता है। हम यह मानेंगे कि इन दोहों में अर्थ-गाम्भीर्य की अपेक्षा शब्द-माधुर्य अधिक है किन्तु वे बहुत उत्कृष्ट हैं। ये दोहे माधुर्य गुण और वैदर्भी रीति के अच्छे नमूने हैं।

शब्द-चयन-चातुर्य—नीचे के उदाहरण में विशेषोक्ति के चमत्कार के साथ बिहारी के शब्दचयन का भी चातुर्य देखिए:—

त्यौं त्यौं प्यासेई रहत, ज्यों ज्यों पियत अघाइ।
सगुन सलौने रूप की, जु न चख-तृषा बुझाइ॥

इसमें रूप की क्षण-क्षण में नवीन होने वाली अपारता और प्रेम-तृषा की अमरता एक साथ व्यञ्जित कर दी गयी है। सगुन विशेषण देकर रूप में केवल ऐन्द्रिकता होने का भो दोष मिटा दिया गया है। साथ ही सलोनेपन से केवल लावण्य का ही बोध नहीं कराया वरन् प्यास न बुझने की भो सार्थकता दिखादी है। अघाय शब्द से विशेषोक्ति के लिए जो कारण की असमर्थता आवश्यक है वही द्योतित नहीं होती वरन् प्रेम-पिपासा की तीव्रता और रूप की रोचकता भी व्यञ्जित हो जाती है। अघा कर वही चीज ग्रहण की जाती है जो सुस्वादु हो।

भावापहरण—इसी शब्द-चयन चातुर्य के कारण बिहारी आपने पूर्ववर्ती और अनुवर्ती कवियों से बढ़े हुए हैं। बिहारी ने भाव की चोरी अवश्य की है किन्तु अपनी भाषा के चमत्कार से उसमें नई जान फूँक दी है और इस कारण वे साहित्यिक चोरी

के अभियोग से बच जाते हैं। पं० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी की इस विशेषता के उद्घाटन का स्तुत्य कार्य किया है। शर्माजी के उदाहरणों में से यहाँ पर एक दिया जाता है। स्वेद के सात्विक भाव दिखाने के सम्बन्ध में बिहारी का एक दोहा लीजिए—

नैंक उतै उठ बैठिये, कहा रहे गहि गेहु।
छुटी जाति नँहदी छनकु, मंहदी सूखन देहु॥

इस दोहे में नीचे के श्लोक की छाया है—

सुभग व्यजनविचालनशिथिल भुजाभूदियं व्यस्यापि,
उद्वर्तनं न सख्याः समाप्यते किञ्चिदपगच्छ।

इस श्लोक का भाव यह है कि किसी नायिका का उबटना हो रहा है और नायक पास बठा है। इस कारण नायिका के शरीर में पसीना आ गया है। एक सखी पंखा झलते-झलते थक गई है तो दूसरी सखी कहती है कि आप जरा दूसरी जगह चले जाइए जिससे सखी का उबटन समाप्त हो सके।

बिहारी ने उबटन के स्थान में मँहदी की बात कही है क्योंकि उबटन के समय नायक का पास बैठना शिष्टाचार के विरुद्ध है। मँहदी की बात और वह भी नँहदी अर्थात् नाखूनों की (इसमें अनुप्रास का भी चमत्कार आ गया है) अधिक विदग्धतापूर्ण है 'किञ्चिदपगच्छ' की बात 'नैक उतै उठ बैठिये' में आ गयी है किन्तु इसमें नायिका की सखी का रोष पूरा नहीं होता। 'कहा रहे गहि गेह' में मुहावरे का भी प्रयोग हो जाता है और नायक की मुग्धता भी व्यञ्जित हो जाती है। 'छनक' शब्द 'कहा रहे गहि गेह' की बात को और भी बल दे देता है। उसमें व्यञ्जना यह है कि नायक एक क्षण को भी नायिका के पास से नहीं हटना चाहता है। दूसरों ने जो बिहारी का अनुकरण किया है वे उनके शब्द-योजना-चातुर्य को नहीं पा सके हैं।

इसका भी एक उदाहरण शर्माजी की भूमिका से दिया जाता है—

लिखन बैठि जाकी सविहि गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥

इस भाव को शृङ्गार-सतसईकार ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

सगरब गरब खींचै सदा, चतुर चितेरे आय।
पर वाकी बाँकी अदा, नेकु न खींचो जाय॥

बिहारी के दोहों में कूर शब्द को लाकर बात को स्पष्ट रूप से न कहने का जो चमत्कार है वह इस दोहे में नहीं। सगरब गरब और खींचै खींची में पुनरुक्ति सी दिखाई देती है। दूसरे दोहे में बात को स्पष्ट कह कर अर्थ को संकुचित कर दिया है। बिहारी के दोहे में चित्र न खिंच सकने के कारण नायिका सम्बन्धी और चित्रकार सम्बन्धी दोनों हो सकते हैं। नायिका का 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति' वाला सौन्दर्य देख कर वह स्तम्भित हो जाता है, उसकी अँगुलियाँ नहीं चलतीं। क्षण-क्षण में बदलने के कारण वह सौन्दर्य को स्थिर रेखाओं में अंकित भी नहीं कर पाता। 'गहि गहि गरब गरूर' में अनुप्रास का प्रयोग दोहे को चमत्कार-पूर्ण बना देता है।

रस सामग्री—यह तो रही शरीर की बात। यदि काव्य की आत्मा रस की ओर दृष्टि डालें तो भी बिहारी के दोहे रस से लबालब भरपूर मिलेंगे। बिहारी ने यद्यपि कोई लक्षण-ग्रन्थ नहीं लिखा तथापि उनके दोहों की पृष्ठभूमि में उस समय के रीति ग्रन्थों का पूरा विधान परिलक्षित होता है। शृङ्गार रस के उभय पक्षों के अन्तर्गत हाव, भाव, अनुभाव, नायिका-भेद, दूती, षटऋतु आदि सभी के वर्णन उपस्थित किये गये हैं।

यद्यपि विषय के विस्तार और सामूहिक प्रभाव के कारण प्रबन्ध काव्य में मुक्तक की अपेक्षा रस-परिपाक के अच्छे अवसर मिलते हैं तथापि कुशल कलाकार के हाथ में दोहा जैसा छोटा छन्द रस से भरपूर हो जाता है।

रस-सामग्री में प्रायः सभी भाव अपना महत्व रखते हैं किन्तु विभावों का और अनुभावों का जैसा सीधा वर्णन हो सकता है वैसा स्थायी और सहचारियों का नहीं। ये अधिकतर अनुभावों द्वारा अनुमेय ही रहते हैं। किसी मानसिक अवस्था को उसके नाम से बतलाने में तो स्वशब्दवाच्यत्व दोष आ जाता है। यह कहने की अपेक्षा कि लक्ष्मण को 'रोष आया' 'भ्रकुटि भई टेढ़ी' में अधिक बल है। अनुभावों के अन्तर्गत सात्विक भाव भी आते हैं। बिहारी ने स्वेद, कम्प, रोमाञ्च आदि के बड़े सुन्दर वर्णन किये हैं। स्वेद के दो उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। सात्विक भावों द्वारा पाणिग्रहण के वैवाहिक कृत्य को कवि ने कितनी सजीवता देदी है।

सेद सलिल रोमाञ्च कुश, गहि दुलही अरु नाथ।
हियो दियो सँग हाथ के हथलेवा ही हाथ॥

इस दोहे में रस की सामग्री उपस्थित है। दूल्हा और दुल्हिन आलम्बन और आश्रय है। रोमाञ्च और स्वेद अनुभाव हैं। हृदय देने में रति भाव आ जाता है। हर्ष आदि सञ्चारी अनुमेय है। रोमाञ्च का एक और वर्णन देखिए—

मैं यह तोही में लखी, भगति अपूरव बाल।
लहि प्रसाद-माला जु भौ तनु कदम्ब की माल॥

बिहारी ने केवल शास्त्रागत अनुभावों का ही वर्णन नहीं किया है वरन् अपने निरीक्षण से भी कई अनुभाव दिये हैं। व्याकुलता के अनुभाव नीचे के दोहे में देखिए—

कहा लड़ैते दृग करैं, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली कहुँ पीत पट, कहूँ मुकट बनमाल॥

हाव भी अनुभावों में माने गये हैं। आचार्य शुक्लजी ने इनको आलम्बन की चेष्टा होने के कारण उद्दीपन के अन्तर्गत माना है। नायिका की कुछ चेष्टाएँ साधारण होती हैं, वे तो उद्दीपन में ही आयेंगी और कुछ भाव-प्रेरित होती हैं। उनमें नायिका के हृदय की रति द्योतित रहती है और उसके कारण जो कार्य घटित होते हैं वे सब हाव के अन्तर्गत आयेंगे। भाव-प्रेरित होने के कारण नायिका के दृष्टिकोण से वे अनुभाव हैं। मोहक प्रभाव के कारण नायक के दृष्टिकोण से वे उद्दीपन हैं। सञ्चारियों से मिश्रित विलास हाव का एक उदाहरण लीजिए—

समरस समर सकोच बस, बिबस न ठिक ठहराइ।
फिर-फिर उझकति फिरि दुरति, दुरि-दुरि झमकति जाइ॥

इसमें आवेग, अवहित्था (लज्जा के कारण भाव को छिपाना), क्रीड़ा, चपलता चार सञ्चारी भाव हैं। विलास हाव भी है।

इस प्रकार बिहारी में हमको रस की सभी सामग्री मिलती है। विरह की दशों दशाओं के अन्तर्गत जड़ता का वर्णन देखिए—

चकी-जकी सी ह्वै रही, बूझैं बोलत नीठि।
कहूँ डीठि लागी, लगी कै काहू की डीठि॥

बिहारी की बहुज्ञता—ये महाकवि प्रतिभाशाली कवि तो थे ही, इसके अतिरिक्त प्रत्येक विषय के प्रकाण्ड पण्डित भी थे। इन्होंने अपनी सतसई में प्रायः सभी विषयों की जानकारी का परिचय दिया है। बिहारी ने शृङ्गार में श्लेष के आधार पर अपने वैद्यक के ज्ञान का बड़े सौष्ठव के साथ समावेश किया है।

ज्वर में सुदर्शन चूर्ण दिया जाता है। विरह के विषम ताप से सन्तप्त नायिका को बड़ी विदग्धता के साथ उन्होंने दूती द्वारा नायक से सुदर्शन देने की प्रार्थना कराई है।

यह बिनसतु नगु राखि कै जगत बड़ौ जसु लेहु।
जरी विषम जुर जाइये, आय सुदरसनु देहु॥

कवि को सांख्य और वेदान्त-शास्त्र का भी अच्छा ज्ञान था।

जगत् जनायौ जेहिं सकलु, सो हरि जान्यौ नाँहिं।
ज्यों आँखिनु सब देखिये, आँखि न देखी जाँहिं॥

सांख्य-शास्त्र के प्रमुख ग्रन्थ 'सांख्य-तत्त्व-कौमुदी' में बतलाया गया है कि अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु, अति निकट वाली वस्तु जैसे आँख की स्याही और अत्यन्त दूर की चीज इत्यादि दिखाई नहीं पड़ती है। यहाँ पर उसी कारिका की झलक है। वेदान्त के कीट-भृङ्गी आदि दृष्टान्तों को कवि ने अपनाया है। वेदान्त के सिद्धान्तों का नीचे के सोरठे में बहुत उत्तम वर्णन है।

"मैं समझ्यौ निरधार, यह जग काँच्यों काँचु सो।
एकै रूप अपार, प्रतिबिम्बत लखियतु जहाँ॥"

इसमें वेदान्त के सार स्वरूप "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः" की छाया दिखलाई पड़ती है। ये महाकवि अपने समय के विज्ञान से भी परिचित थे। नल की पानी से उपमा देते हुए दो स्थानों पर बिहारी ने बतलाया है कि पानी जितने ऊँचे से डाला जाता है, उतना ही ऊपर चढ़ता है और फिर वह नीचे ही गिरता है। पानी अपनी सतह तक पहुँचता है (Water finds its own level) इस सिद्धान्त को वे जानते थे, और इसका काव्य में वर्णन भी अच्छा किया है:—

नर की अरु नल-नीर की, गति एकै कर जोइ।
जेतो नीचौ ह्वै चलै, तेतौ ऊँचौ होइ॥

किबलनुमा, गेंद के उछालने, गिरने आदि की उपमाएँ भी कवि की वैज्ञानिक रुचि का परिचय देती हैं। दो शीशों के बीच में जब कोई चीज रखदी जाती है तब उसके अनेक प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं। इस सिद्धान्त को बहु-प्रतिबिम्ब-वाद (Multiple-images) कहते हैं। इस सिद्धान्त को ध्यान में रख कर बिहारी ने नायिका के शरीर की द्युति का बड़ा चमत्कार-पूर्ण वर्णन किया है।

अङ्ग-अङ्ग प्रतिबिम्ब परि दर्पन से सब गात।
दुहरे, तिहरे, चौहरे, भूषन जाने जात॥

बिहारी रँगों के मिश्रण की कला में दक्ष थे। उनका मङ्गलाचरण इसका प्रमाण है :—

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँइँ परैं, स्याम हरित दुति होइ॥

पीले और श्याम रंग के मिलने से हरा रंग हो जाता है, रंग के चमत्कार के साथ हरित शब्द में श्लेष भी है और वह शब्द लक्षणा से प्रसन्नता का द्योतक बन जाता है। हरा रंग प्रकाश में चाहे मूल रंग माना जाता है किन्तु चित्रकला में मिश्रित रंग ही माना गया है। इस बात को प्रमाणित करने के लिए एक कला की पुस्तक से (The Outline of Art—Edited b Sir William Opem पृष्ठ ५६४) छोटा सा उद्धरण देना अनुपयुक्त न होगा—

On the other hand green a secondary colour in paint because it can be produced by mixing yellow with blue pigment, is a primary in light.

बिहारी की अतिशयोक्तियाँ—बिहारी ने विरह वर्णन में कुछ अतिशयोक्तियाँ की है जिनके कारण वे आलोचकों के उपहास के भाजन बने है। उनके दो एक उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

क—सुनत पथिक-मुँह, माह-निसि लुवैं चलत उहिं गाम।
बिनु बूझैं, बिनु हीं कहैं, जियति विचारी बाम॥
ख—आड़े दै आले बसन, जाड़े हूँ की राति।
साहसु ककै सनेह-बस सखी सबै ढिंग जाति॥

मानसिक परिस्थिति के कारण प्रकृति के प्रभाव में अन्तर अवश्य पड़ जाता है। वह अन्तर विशेष मानसिक परिस्थिति वाले के लिए ही होता है, अन्य किसी के लिए नहीं होता और न वस्तु में ही परिवर्तन होता है। मानसिक दशा के कारण परिवर्तन के आभास के उदाहरण बिहारी में भी मिल जाते हैं उनके कारण कवि हास्यास्पद नहीं बनता है, देखिए:—

हौं ही बौरी बिरह-बस, कै बौरी सब गाँउ।
कहा जानि ये कहत हैं, ससिहिं सीतकर नाउँ॥

ऐसे वर्णनों में तो किसी को आपत्ति न होगी परन्तु ऊपर के (क) दोहे में आपत्ति होना स्वाभाविक है। इसका यही परिहार है कि इन प्रयोगों को हमें शाब्दिक अर्थ में न लेना चाहिए वरन् इनका लाक्षणिक अर्थ ही लगाना चाहिए। कवि विरहिणी नायिका के विरह के प्रभाव को बतलाता है। आचार्य शुक्लजी ने ऐसे प्रयोगों के आधार पर बिहारी के विरह-वर्णन को जायसी की अपेक्षा हास्यास्पद कहा है। जायसी भी इस तरह की अत्युक्तियों से खाली नहीं हैं। जो पक्षी नागमती की चिट्ठी लेकर जाता है उसके पास कोई पक्षी नहीं जाता है। यहाँ तो स्वयं नायिका ही है। इन वर्णनों में लाक्षणिकता भी कहीं-कहीं मर्यादा से बाहर हो गई है। सौन्दर्य वर्णन में तो उन्होंने बात

का जरा और स्पष्ट करके लाक्षणिकता के लिए भी गुञ्जाइश नहीं रक्खी है—

पत्रा ही तिथि पाइये, वा घर कैं चहुँ पास।
नितिप्रित पून्यौई रहै, आनन-ओप-उजास॥

इस सम्बन्ध में तो हम यही कहेंगे कि अतिशयता को बल देने के लिए ही बिहारी ने ऐसा कहा है। ऐसे प्रयोगों में बिहारी की बात का शाब्दिक अर्थ लगाकर उनकी आलोचना करना उनके प्रति अन्याय होगा। अब ज़माना वस्तुवाद का आगया है। अतिशयता उतनी ही ग्राह्य होती है जितनी कि व्यङ्गय-चित्रों में।

बिहारी के सौन्दर्य-वर्णन की विशेषता—यद्यपि बिहारी ने अन्य कवियों की भाँति नख-शिख-मय सौन्दर्य का वर्णन किया है तथापि उनके सौन्दर्य-वर्णन की कुछ विशेषता है वह यह कि उन्होंने शरीर के स्वाभाविक सौन्दर्य के आगे आभूषणों को विशेष महत्व नहीं दिया है। उन्हें 'दरपन के से मोर्चे,' 'दृगपग पौंछन को किए पायन्दाज' कह कर उनका तिरस्कार किया है। बिहारी ने व्यापक सौन्दर्य का भी वर्णन कर उसमें क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेवरूपं रमणीयतायाः के आदर्श का निर्वाह किया है। नायिका के चित्र न खिच सकने का कारण उसके रूप की क्षण-क्षण में बदलने वाली नवीन छटा ही थी। 'अंग-अंग छवि की लपट उपटत जाति अछेह' में भी यही बात है। बिहारी ने सौन्दर्य को विषयीगत माना है और विषयगत भी। अर्थात् सौन्दर्य सुन्दर वस्तु में भी है और द्रष्टा की रुचि में भी। बिहारी ने द्रष्टा की रुचि को अधिक महत्व दिया है:—

समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होई॥

इसके मानी यह नहीं थे कि बिहारी वस्तुगत सौन्दर्य को न स्वीकार करते हों। वे वैयक्तिक रुचि को विकृति की हद तक नहीं पहूँचाना चाहते। नाक के रोग से यदि कोई कपूर को शोरा समझ कर छोड़ दे तो कपूर की शीतलता और सुवास की महिमा नहीं घटती, देखिए:—

सीतलता अरु सुबास कौ घटै न महिमा मूर।
पीनस वारे ज्यों तज्यौ सोरा जानि कपूर॥

सौन्दर्य तो मूल धन (मूर) है। रुचि से जो शोभा की बढ़ती होती है, वह ब्याज की वस्तु है।

बिहारी की भाषा—बिहारी की भाषा के माधुर्य के हम कुछ उदाहरण दे चुके हैं। बिहारी की भाषा है तो ब्रज भाषा ही किन्तु उससे कहीं-कहीं थोड़ा-बहुत पूर्वी प्रभाव भी आ गया है। जैसे लीन्ह, कीन्ह, जौन, आदि आदि। यत्र-तत्र बुन्देलखण्डी के भी (जैसे करवी, पायबी, गीधे, बीधे कोद, गुहार लाने आदि) प्रयोग मिलते हैं। इनकी भाषा में कुछ प्राकृत के भी शब्द जैसे लोयन, समर आदि जो साहित्यिक ब्रज-भाषा में प्रचलित थे, आ गये हैं। कुछ प्रान्तीय और अप्रयुक्त शब्दों के प्रयोग का भी इन पर दोष लगाया जाता है (देखिए हिन्दी नव-रत्न पृष्ठ ३८४, ३६५) किन्तु यह प्रश्न सापेक्ष है जो एक ब्रजवासी को साधारण लगता है वह एक पूर्वी प्रान्त के निवासी को असाधारण प्रतीत होता है, नीठि, चिलक, गाँस आदि ऐसे ही शब्द हैं। रोज का अर्थ भी ब्रज में रोना या मातम है, रोजा नहीं।

बिहारी की भाषा का सबसे मुख्य गुण समास गुण है। गागर में सागर भरने की कला उन्होंने सिद्ध करली थी। जो बात उनके टीकाकार कुण्डली जैसे बड़े छन्द में भी नहीं व्यक्त

कर सके हैं उन्होंने दोहे में कर दी है। उनके दोहों में बड़े सुन्दर शब्द-चित्र भी उपस्थित हो जाते हैं, देखिए—

वत रस लालच लाल की, मुरली, धरी लुकाय।
सौह करै, मौहनु हँसै, देन कहै नटि जाय॥
नहि अन्हाय नहि जाइ घर, चित चहुँट्यों तक तीर।
परसि फुरैरी लै फिरति, विहसति धँसति न नीर॥

इन चित्रों में गतिमय चित्रों का तारतम्य सा बँध जाता है।

बिहारी में मुहावरों का भी प्रयोग है, जैसे 'छैवे छिगुनी पहुँचो गहत', 'सूधे पाँय न परत', 'रहे गहि गेहु' 'सौंहे करत न नैन' 'मूठि सी मारि'। मन बाँधना, बूड़े बहे हजार, चाली निसा, हिए गढ़े आदि लाक्षणिक प्रयोगों ने भाषा की सजीवता बढ़ादी है। बिहारी में बहुत से प्रयोगों में पौराणिक अन्तर्कथाओं की ओर भी संकेत है। जैसे बलि बावन का बौंत, छाया ग्राहिणी (सुरसा) बाढ़त बिरह ज्यों पांचाली को चीर, दुर्योधन की जल थंभ विधि आदि भाषा की सम्पन्नता एवं साहित्यिकता बढ़ा कर बिहारी के शास्त्र-ज्ञान का भी परिचय देते हैं। बिहारी के दोहों का बड़ा भारी प्रभाव है। यथा सम्भव उन्होंने बड़े-बड़े समास बचाये हैं। (दोहे में इनकी गुञ्जाइश भी नहीं रहती) किन्तु जहाँ कहीं वे आये हैं, जैसे 'समरस समर सकोच-वस-विबस,' ब्रजकेलि-निकुंज मग आदि वहाँ वे प्रवाह में बाधक नहीं हुए हैं। बिहारी सतसई अपनी भाषा तथा भाव दोनों ही के कारण शृङ्गार रस का भी शृङ्गार है।

विहारी की कुछ विशेषताएँ—

१—बिहारी ने लक्षण नहीं लिखे किन्तु रीति ग्रन्थों की पृष्ठ-भूमि में सुन्दर उदाहरण दिये हैं।

२—बिहारी ने अपने दोहे में गागर में सागर भरने की उक्ति की चरितार्थ किया है।

३—बिहारी में समास गुण तो विशेष रूप से है ही किन्तु वे कल्पना, भाव-सुकुमारना और शब्द-चयन-चातुर्य में भी किसी से कम न थे।

४—बिहारी ने श्रृङ्गार-रस के सभी अङ्गों को अपनाया है और अपने दोहों में प्रायः सभी प्रमुख अलङ्कारों का समावेश किया है।

५—बिहारी ने भक्ति और नीति के भी सुन्दर दोहे लिखे हैं।

६—बिहारी के दोहों में ब्रज-भाषा का पूरा माधुर्य प्रस्फुटित हुआ है।

७—बिहारी ने अपने समय की विलाममयी समाज का अच्छा वर्णन किया है।

८—बिहारी ने सिवाय दो एक स्थलों के प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है।

नवयुग के वैतालिक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

परम-प्रेम-निधि रसिकवर, अति उदार गुन खान।
जग-जन-रञ्जन आशु कवि को हरिचन्द समान॥

—चन्द्रावली नाटिका

तत्कालीन परिस्थिति—रीतिकाल में काव्य का मार्ग विलसमय बन गया था और कविता का वातावरण कुछ अवरुद्ध हो गया था। कविता के रूप विशेष परिपाटी से आबद्ध हो जाने के कारण उस क्षेत्र में नवीनता और मौलिकता के लिए गुञ्जाइश न रही थी। इधर अँग्रेजी राज्य के स्थापित हो जाने के कारण विशेष कर महारानी विक्टोरिया द्वारा शासन की बागडोर हाथ में लिए जाने के बाद एक नया बुद्धि-प्रधान वातावरण उपस्थित हो गया था। खस के मवासों में गुलगुली गिल्मों पर बैठने वाले कवीन्द्र वास्तविकता की कठोर भूमि पर उतर आये थे और उनकी शृङ्गारिक मादकता का खुमार धीरे-धीरे उतरने लगा था। यद्यपि कविता के प्राचीन संस्कारों से पीछा छुड़ाना सहज न था तथापि कविता के लिए नये-नये द्वार खुलने लगे। सन् ५७ के विप्लव की विफलता के पश्चात् ब्रिटिश राज्य के प्रति असन्तोष की अग्नि बुझी तो नहीं किन्तु महारानी विक्टोरिया के उदारता पूर्ण घोषणा-पत्र के कारण कुछ दब अवश्य गयी थी। लोग कल्याण का मार्ग अपने दोषों के सुधार और ब्रिटिश राज्य के सहारे उन्नति पथ में अग्रसर होने को समझने लगे। फिर भी शासन की अपेक्षाकृत सुव्यवस्था ने लोगों को विदेशी राज्य की

बुराइयों के प्रति उदासीन नहीं बना दिया था। वे सतर्क थे, वह समय देश-भक्ति पूर्ण राज-भक्ति का था। देश-भक्ति ही उसका मूल स्वर था। देश-भक्ति के नाते जनता में जाग्रति बढ़ाना साहित्यिक अपना कर्तव्य समझने लगे। ऐसे ही वातावरण में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का हिन्दी के रङ्गमञ्च पर अवतरण हुआ।

जीवन-वृत्त – भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म काशी के सुप्रसिद्ध सेठ अमीरचन्द्र के वंशज ला० गोपलचन्द्र उपनाम गिरधरदास के घर भाद्रपद शुक्ला ७ संवत् १६०७ को हुआ। बाबू गोकुलचन्द्रजी इनके छोटे भाई थे उनके अतिरिक्त इनके दो बहिनें और थीं। ये बालकपन से बड़े चञ्चल और प्रतिभाशाली भी थे। 'हौनहार विरवान के होत चीकने पात।' इन्होंने पाँच वर्ष की अवस्था में निम्नलिखित दोहा बना कर अपने पिता को, जो एक सुकवि थे। सुना कर प्रसन्न किया—

लै ब्यौड़ा ठाड़े भए श्री अनिरुद्ध सुजान।
बानासुर की सैन को, हनन लगे बलबान॥

इनमें तर्क और बुद्धिवाद की मात्रा भी बालकपन से ही थी। इन्होंने अपने पिता को तर्पण करते देख कर कहा था 'बाबूजी पानी में पानी मिलने से क्या लाभ ?

पाँच वर्ष की अवस्था से उनको माता के स्नेह से वञ्चित होना पड़ा। और दस वर्ष की अवस्था में उनके पिताजी का भी गोलोकवास हो गया। इसी अवस्था में ये एक विपुल सम्पत्ति के मालिक बन गये। ग्यारह वर्ष की अवस्था में इनकी स्कूली शिक्षा समाप्त हो गयी (ये राजा शिवप्रसाद सितारए हिन्द के घर पर स्थापित एक स्कूल में पढ़े थे। इसलिए वे उनको गुरुवत मानते थे)। उसके पश्चात् ये पर्यटन और तीर्थ-यात्रा को निकल

गये। इसी अवसर में इन्होंने मराठी, गुजराती, बङ्गला का ज्ञान प्राप्त कर लिया। चौदह वर्ष की अवस्था में इनका विवाह हो गया। ये स्वभाव के बड़े उदार और शाहखर्च थे। इन्होंने अपने धन को दोनों हाथों से उलीचा। काशिराज के यह कहने पर कि बबुआ घर को देख कर काम करो उन्होंने कहा था—'हजूर, यह धन मेरे बहुत से बुजुर्गों को खा गया था, मैं इसे खा डालूँगा।' (संवत् १९२७ में अपने भाई से वे अलग रहने लगे थे।)

ये बड़े स्वदेश-प्रेमी थे और स्वदेश प्रेम के नाते इन्होंने कई सार्वजनिक संस्थाएँ खोलीं और पत्र-पत्रिकाओं की स्थापना की। हरिश्चन्द्र स्कूल, जो पीछे उनके नाम से सम्बद्ध हो गया, और हरिश्चन्द्र चन्द्रिका उनमें प्रमुख हैं। आप बड़े सजीव और हास्य प्रिय थे। जिन्दादिली उस युग का विशेष गुण था और इसका हिस्सा इनको सबसे ज्यादा नहीं तो किसी से कम न मिला था। इन्होंने अपने स्वभाव का परिचय स्वयं ही नीचे के छन्द में दिया है —

सेवक गुनीजन के, चाकर चतुर के हैं,
कविन के मीत, चित हित गन गुनी के;
सीधेन सौं सीधे, महा बाँके हम बाँकेन सों,
हरीचंद नगद दमाद अभिमानी के।
चाहिबे की चाह, काहू की न परवाह, नेही
नेह के दिवाने सदा सूरत निसानी के;
सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के।

संवत् १९४२ में भारत का इन्दु सदा के लिए अस्त हो गया।

प्रभाव और प्रवृत्तियां—भारतेन्दु पर उस युग का तो प्रभाव पूरी तौर से था ही, ये अपने युग के सब से सजग कलाकार

थे किन्तु इनके कुछ व्यक्तिगत संस्कार भी थे जिनका मिश्रित प्रतिफलन इनकी कविता में दिखाई पड़ता है। (१) उस युग में देशभक्ति पूर्ण राजभक्ति का प्रचार था। राजभक्ति पतृक-संस्कारों से और भी दृढ़ हो गयी थी किन्तु वह देश-भक्ति को दबा न पायी थी। (२) अंग्रेजी राज्य के बुद्धिवादी प्रभावों से सम्मिश्रित वैष्णवता और भक्तिभावना—बुद्धिवाद कुछ निजी था और कुछ युग प्रभाव से प्राप्त था। वैष्णवता पैतृक थी, वे वल्लभ-कुल के शिष्य थे (तभी तो उन्होंने अपने को कृष्ण का सखा कहा है) और भक्ति पर उनके प्रेमी स्वभाव के कारण कुछ गहरा रंग चढ़ा हुआ था। उनके पितामह और पिता भी परम कृष्ण भक्त थे। उन्होंने अपने पितामह के सम्बन्ध में लिखा है—

श्री गिरधर गुरु सेइ के, घर सेवा पधराइ।
तारे निज कुल जीव सब, हरि पद भक्ति दृढ़ाई॥

इसके अतिरिक्त भक्तिकाल से चली आती हुई कृष्ण काव्य की परम्परा का भी प्रभाव था ही। (३) जिन्दादिली युगकालीन तो थी ही (वास्तव में वे युग-निर्माता थे) किन्तु उनके स्वभाव में खेल और विनोद की प्रवृत्ति रक्तगत हो गयी थी। (४) हिन्दी प्रेम जो राजा शिवप्रसाद के उर्दू प्रेम की प्रतिक्रिया में कुछ गहरा हो गया था। यह देश-भक्ति का ही अंग था। तब साहित्य की सृष्टि के लिए हिन्दी का पक्ष आवश्यक भी था। (५) समाज-सुधार—यह भी देश-भक्ति का ही अंग था। देश-भक्ति में उन्होंने अंग्रेजी राज की बुराई नहीं की वरन अपने सामाजिक रोगों की ओर भी दृष्टिपात किया है और उनके दूर करने के लिए वे प्रयत्नशील रहे हैं, तभी तो वे राधा रानी के गुलाम होते हुए भी छुआछूत के विरोधी और समाज-सुधारक बन सके थे। (६) देश-भक्ति के नाते उनकी प्रवृत्ति

जनसाहित्य की ओर हुई। उनके साहित्य में नाटकों के बाहुल्य का एक यह भी कारण है। (७) यद्यपि भारतेन्दुजी उर्दू के विरोधी थे तथापि उसका भी प्रभाव उन पर था और उसके कारण उनके प्रेम में वेदना और कसक की मात्रा कुछ बढ़ गयी थी।

इस प्रकार हम भारतेन्दुजी की चार मूल-प्रवृत्तियाँ देखते हैं। (क) साहित्य का जन-समाज से सम्पर्क, (ख) प्रेम और भक्ति जो रीतिकाल और भक्तिकाल की मिश्रित प्रवृत्ति थी और जो निजी स्वभाव और पैतृक संस्कारों से पुष्ट हुई थी। किंतु उनकी वैष्णवता बुद्धिवाद से खाली न थी और उनकी रीतिकाल से प्रभावित शृङ्गारिक कविताओं में न तो उस काल की सी अमर्यादितता थी और न उदाहरणों को खाना पूरी करने वाली निर्जीवता। उनमें सूर और नन्ददास की सी भक्तिभावना प्रेरित सजीवता अधिक थी। (ग) देश-भक्ति प्रेरित राज-भक्ति (घ) हास्य-व्यङ्गय के सहारे चलने वाला समाज-सुधार।

ग्रन्थ—भारतेन्दुजी की प्रतिभा बहुमुखी थी, इसलिए उनके ग्रन्थों की संख्या भी बढ़ी हुई है। पेंतीस वर्ष की अवस्था में वे जितना कार्य कर सके उतना साधारण मनुष्य नहीं कर सकते हैं। वे कवि, नाटककार, इतिहासज्ञ और निबन्धकार इन चार रूपों में हमारे सामने आते हैं। भारतेन्दु बाबू ने चौदह नाटक लिखे हैं, जिनमें पाँच अनुवादित और शेष नौ मौलिक हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं— (१) विद्या सुन्दर (बंगला से अनुवादित) (२) पाखण्ड बिडम्बन (प्रबोध चन्द्रोदय के एक अंश का अनुवाद), (३) धनञ्जय-विजय (संस्कृत से अनुवादित) (४) कर्पूर मञ्जरी (राज शेखर के प्राकृत नाटक से अनुवादित), (५) मुद्राराक्षस (यह विशाखदत्त के संस्कृत नाटक से अनु-

वादित है), (६) वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति (७) सत्य हरिश्चन्द्र (८) श्री चन्द्रावली (९) विषस्य विषमौषधम् (१०) भारत दुर्दशा (११) नीलदेवी (१२) अन्धेर नगरी (१३) प्रेम योगिनी (१४) सती प्रताप। भारतेन्दुजी ने काश्मीर, उदयपुर आदि के छोटे-पूरे इतिहास भी लिखे। इनकी कविताओं का संग्रह भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग दो में निकल गया है। उसमें प्रेम मालिका, विनय-प्रेम-पचासा, प्रेम फुलवारी, मधुमुकुल, राग संग्रह आदि के अतिरिक्त नवीन भक्तमाल, गीत-गोविन्द का अनुवाद आदि छोटे-छोटे ग्रन्थ भी हैं।

भारतेन्दुजी के कुछ ग्रन्थों में जैसे 'वर्षा विनोद' और 'फूलों का गुच्छा' में उर्दू की गजलें भी मिलती हैं। 'लब पर जाँ है अब तो प्यारे मिलते जाओ' आदि छन्द उर्दू से प्रभावित हैं। भारतेन्दुजी ने बिहारी के पचासी दोहों पर टीका स्वरूप ढोला छन्द लिखे हैं। इस संग्रह का नाम है सतसई शृङ्गार।

काव्य-समीक्षा—कवि के लिए जो गुण—निरीक्षण-शक्ति, कल्पना, व्यापक सहानुभूति तथा तीव्र अनुभूति और कुशल अभिव्यक्ति अपेक्षित है वे सब गुण उनमें वर्तमान थे। उनकी कविता कविता के लिए न थी, वरन् हृदय प्रेरित थी। कृष्ण-भक्ति और देश-भक्ति ने उनके भाव-पक्ष को बड़ा सबल कर दिया था। पर्यटन के विस्तृत अनुभव ने उनके काव्य के क्षेत्र को बड़ा व्यापक बना दिया था। उनकी निरीक्षण-शक्ति एवं वर्णन-शक्ति का परिचय हमको उनके नाटकों में मिल जाता है। उनकी कविता के जन-समाज के साथ सम्पर्क के विषय में हम शैली के सम्बन्ध में कहेंगे। उनके नाटकों में तथा उनके काव्य में उनकी उपर्युक्त तीनों मूल प्रवृत्तियों की प्रेरणा परिलक्षित होती है—हम उनके काव्य का इन प्रवृत्तियों के अनुकूल विवेचन करेंगे। वैसे यह विवेचन विभिन्न रसों के अनुकूल

भी हो सकता है। भारतेन्दु के काव्य में काव्य की आत्मा रस का अच्छा परिपाक है। वैसे तो उनके सत्य हरिश्चन्द्र में सभी रस आ गये हैं और अन्यत्र भी दूसरे रसों का अच्छा परिपाक है किन्तु उनमें शृङ्गार, भक्ति या शान्त रस और हास्य का प्राधान्य है। वीर और करुण भी यथा स्थान आये हैं।

प्रेम और भक्ति—प्रेम और भक्ति का सबसे अच्छा उदाहरण उनकी चन्द्रावली नाटिका है। उसमें अष्टछाप की ही वाणी प्रतिध्वनित नहीं हो रही है वरन् उसमें उनके हृदय की भी छाया है। उसमें भक्ति आश्रित शृङ्गार का विशेषकर वियोग का पूर्ण परिपाक हुआ है। वियोग की सभी दशाओं का उसमें वर्णन है। तुलसी के राम की भाँति विरहोन्माद में चन्द्रावली भी पूछती फिरती है:—

अहो कदंब अहो अंब-निंब अहो बकुल-तमाला।
तुम देख्यौ कहुँ मन मोहन सुन्दर नँदलाला॥
अहो कुञ्ज बन लता विरुध तृन पूछत तोसों।
तुम देखे कहुँ श्याम मनोहर कहहु न मोसों॥

वह अपने विरह में प्रत्येक वस्तु से सहायता की प्रार्थना करती है, डूबते को तिनके का सहारा।

अर पौन सुख-भौन सबै थल गौन तुम्हारो।
क्यों न कहौ राधिका रौन सों मौन निवारो॥

× × × ×

हे सारस! तुम नीके बिछुरन वेदन जानौ।
तो क्यों पीतम सों नहिं मेरी दसा बखानों॥

उद्दीपनों का भी सादृश्य के सहारे बड़ा मार्मिक वर्णन हुआ है, उसमें स्मरण अलंकार की ध्वनि भी मिश्रित है।

देखि घनस्याम घनस्याम की सुरति करि
जिय में विरह छटा घहरि-घहरि उठै।
× × × ×
देखि-देखि दामिन दुगुन दमक पीत,
पट छोरे मेरे हिय फहर-फहरि उठै॥

विरह की जड़ता और उन्माद दशा का चित्रण देखिए:—

छरी सो छकी सी जड़ भई सी जकी सी घर,
हारी सी बिकी सी सो तो सब ही घरी रहै।
बोले तें न बोलै दृग खोलै ना हिंडोले बैठि,
एकटक देखै सो खिलौना सी धरी रहै॥
हरीचन्द औरौ घबरात समुझाएँ हाय,
हिचकि हिचकि रोवै जीवति मरी रहै।

काव्य-शास्त्र में मरण को विरह की अन्तिम दशा माना है किन्तु वास्तविक मरण का वर्णन नहीं होता। हरिश्चन्द्रजी ने भी 'जीवति मरी रहै' कहकर वास्तविक मरण को बचा दिया है।

हरिश्चन्द्र के काव्य में यत्र-तत्र सर्वत्र प्रेम के वर्णन भरे पड़े हैं। विद्यासुन्दर और कर्पूरमञ्जरी में भी शृङ्गार का अच्छा परिपाक है किन्तु वे अनुवाद ग्रन्थ हैं। शुद्ध प्रेम के वर्णन बड़े सुन्दर हैं, देखिए:—

जिह लहि फिर कछु लहन की आस न चित में होय।
जयति जगत पावन करन प्रेम बरन यह दोय॥
काम क्रोध भय लोभ यह सबन करत लय जौन।
महा मोह हू सों परे प्रेम भाखियत तौन॥

हरिश्चन्द्र-भक्ति भावना में वल्लभ कुल में दीक्षित थे 'हम तो श्री वल्लभ ही को जानें। सेवत वल्लभ पद पंकज को वल्लभ ही

ध्यावें'। इन पर अष्टछाप के कवियों की पूरी-पूरी छाप है। उनकी सी ही अभिलाषाएँ उनके हृदय में उठी हैं, देखिए—

अहो हरि वेहू दिन कब ऐहैं।
जा दिन मैं तजि और संग सब हम ब्रज बास बसैहैं।
संग करत नित हरिभक्तिन कौ हम नेकहु न अघैहैं॥
सुनत श्रवन हरि कथा सुधारस महामत्त ह्वै जैहैं॥
कब इन दोउ नैनन सों निसि दिन नीर निरंतर बहिहैं।
हरीचन्द श्री राधे राधे कृष्ण कृष्ण कब कहिहैं॥

× × × ×

ब्रज की लता पता मोहिं कीजै।
गोपी पद-पंकज पावन की रज जामैं सिर भीजै॥

हरिश्चन्द्र की भक्ति में दोषों की स्वीकृति, पश्चाताप, आर्तता और अक्खड़पन सभी कुछ है। भक्ति सम्बन्धी एक बङ्गाली पद में उनकी आर्तता देखिए :—

आमार जैशा नाथ आसिया है देख ना।
हरिश्चन्द्र नाथ जार, केन हेन दशा तार,
बल ओहे गुन-मनि आमार है बलो ना
सदा मन उचाटन, दहिते छे जीवन धन,
असह्य चन्द्रिका जीवो सहे ना यातना॥

शान्त रस में जो वैराग्य, तृष्णा-क्षय की अभिलाषा तथा भगवत्कृपा की एकाश्रयता वाञ्छनीय है, उन सब भावनाओं की अभिव्यक्ति हरिश्चन्द्र के काव्य में मिलती है।

मिटत नहिं या तन के अभिलाख।
पुजवत एक जबै विधि तनतै होत और तन लाख॥
दिन प्रति एक मनोरथ बाढ़त तृष्णा उठन अपार॥

जोग ज्ञान जप तीरथ आदिक साधन ते नहिं जात।
हरीचन्द्र बिन कृष्ण कृपा रस पाए नाहन अघात॥

अन्तिम पंक्ति में कृष्ण के अनुग्रह की पुष्टिमार्गी भावना की चाह पूर्णतया पुष्ट हो रही है।

नीचे के सवैये में मार्मिक वेदना के साथ, अपने पापों की आत्म-स्वीकृति करते हुए भगवान से अन्त समय में अपनाये जाने की जो प्रार्थना की है वह बड़ी मार्मिक है। उसमें जो लोक-व्यवहार की दुहाई है उससे उनको दीनता और आर्त्तता द्रवित हो रही है।

आजुलौं जो न मिले तो कहा,
हम तो तुमरे सब भाँति कहावैं।
मेरे उराहनो है कछु नाँहि,
सबै फल आपने भाग कौ पावैं।
जो हरिचन्द भई सो भई,
अब प्रान चले चहैं तासौं सुनावैं।
प्यारे जू है जग की यह रीति,
विदा के समै सब कण्ठ लगावैं।

हरिश्चन्द्र की भक्ति-भावना अनन्य होते हुए भी उदार थी। कबीर हिन्दू-मुसलमानों की एकता कराने में प्रयत्नशील रहे। तुलसी ने वैष्णव शैवों की एकता कराने का उद्योग किया, उसी तरह ये वैष्णव, जैनों तथा हिन्दू-मुसमानों में प्रेम भाव स्थापना के लिए उत्सुक थे। उन्होंने 'जै जै पद्मावति महारानी', 'जय जय जयति ऋषभ भगवान', तथा जैन धर्म सम्बन्धी और पद लिख कर 'न गच्छेत जैन मन्दिरं हस्तिना पीड्ययानोऽपि' का निषेध किया। उन्होंने अपने भगवान को बहुरूपिया बतलाया, जो जब जैसा अवसर पड़ता है वैसा रूप धारण कर लेते हैं—

'जब जब जैसौ काम परै तब तैसौ भेख करौं। कहुँ ईश्वर कहुँ बनत अनीश्वर नाम अनेक धरौं !' सच्ची राष्ट्रीयता में भेद-भाव और धार्मिक कट्टरता नहीं रह सकती है। भारतेन्दुजी धर्म के नाम पर एक दूसरे को नीचा दिखाना बहुत बुरा समझते थे। इस प्रकार के धर्म की उन्होंने घोर निन्दा की है :—

धरम सब अटक्यो याही बीच।
अपनी आप आप प्रसंसा करनी, दूजेन कहनौ नीच॥
यहै बात सबने सीखी है का वैदिक का जैन।
अपनी-अपनी ओर खींचिबो एक लैन नहिं दैन॥

हरिश्चन्द्रजी तो पूरे समता-भाव के उपासक थे। प्रेमी-हृदय काले गोरे और मन्दिर मसजिद में अन्तर नहीं कर सकता है, देखिए :—

कुछ भले बुरे में फर्क न जी से रक्खे।
काले गोरे का एक रङ्ग बस सूझे॥
दुश्मन को दोस्त को एक नजर से देखे।
मैखाना मसजिद मन्दिर एकहि समझे॥
दो की गिनती भूले न जबाँ पर लावे।
अपने को खोए तब अपने को पावे॥

यह हिन्दुस्तानी का भी बहुत अच्छा उदाहरण है।

देशभक्ति और राजभक्ति—देशभक्ति हरिश्चन्द्र के काव्य का प्रधान स्वर है। उनकी शृङ्गारिक रचनाओं के अन्त में देशभक्ति का पुट आ गया है। उनके नाटकों के भरत-वाक्य देशभक्ति और भारतीयता के गौरव से भरपूर हैं। देखिए कर्पूर-मञ्जरी का भरत-वाक्य—

उन्नत चित ह्वै आर्य परस्पर प्रीति बढ़ावैं।
कपट नेह तजि सहज सत्य ब्योहार चलावैं॥

जवन संसरग जात दोसगन इनसों छूटें।
सबै सुपथ पथ चलैं नितहि सुख सम्पति लूटैं॥

इसी प्रकार का सत्य हरिश्चन्द्र का भी भरत-वाक्य है :—

खलगनन सों सज्जन दुखी मत होइ हरिपद रति रहै।
उपधर्म छूटैं सत्व निज भारत गहै, कर दुख बहै॥
बुध तजहिं मत्सर, नारि नर सम होंहिं सब जग सुख लहै।
तजि ग्राम-कविता सुकवि जन की अमृत बानी सब कहैं॥

इन भरत-वाक्यों की यह विशेषता है कि इनमें हरिभक्ति, देशभक्ति, विश्व प्रेम क्योंकि कभी-कभी देशभक्ति विश्व प्रेम में बाधक होती है सदाचार और नागरिकता सभी का समावेश रहता है। उनकी देश-भक्ति हमको विशेष रूपमें भारत-दुर्दशा और नीलदेवी में दिखाई देती है।

नीलदेवी में रमणी वीरता और स्वातन्त्र्य की गूँज है। डाक्टर श्यामसुन्दरदासजी ने नीलदेवी के गायिका बनकर बदला लेने पर आपत्ति की है किन्तु इसमें हम उनके साथ सहमत नहीं हैं। पद्मावती ने भी तो ऐसे ही छल से काम लिया था।

वीर-गाथा-काल में तो राष्ट्रीयता का अभाव ही रहा। उस समय तो छोटे राज्य ही राष्ट्र थे। भूषण के समय में राष्ट्रीयता की भावना हिन्दुत्व का पर्याय बनी। भारत-दुर्दशा नाटक में हमको कुछ-कुछ राष्ट्रीयता के दर्शन होते हैं। बङ्गाली और महाराष्ट्र और देशी लोग सब भारत की दशा पर विचार करते हैं। भारतेन्दु भी हिन्दुत्व से ऊँचे नहीं उठे मालूम देते किन्तु फिर भी हिन्दी हिन्दू के साथ हिन्दुस्तान की भी उन्होंने दुहाई दी है। भारत-दुर्दशा में भारत के प्राचीन गौरव का गुण-गान, उसके रोग का निदान और क्षीण आशा की झलक मिलती है।

आशा और निर्लज्जता उसे मरने नहीं देती फिर भी उसके अन्त में एक निराशा की ध्वनि झंकृत होती रहती है। यह निराशावाद देशहित से प्रेरित है। यह अकर्मण्यता का प्रोत्साहक नहीं है, वरन् भारतेन्दु के हृदय की वेदना का द्योतक है।

हरिश्चन्द्रजी की कुछ विशेषताएँ —

१—भक्ति और रीतिकाल के प्रभावों के साथ उन्होंने देश-भक्ति और समाज-सेवा के नये वातायन खोले।

२—उनके काव्य में प्रेम का स्वातन्त्र्य और समता-भाव है।

३—उनकी देश-भक्ति राजभक्ति से समन्वित थी।

४—भारतेन्दुजी ने पद्य के साथ गद्य को पर्याप्त रूप में अपनाया और अपने विचार के प्रचार के लिए नाटकों का सृजन किया।

५—भारतेन्दुजी ने अधिकांश में साहित्यिक ब्रज-भाषा में ही कविता की किन्तु कुछ कविता उर्दू और खड़ी बोली में भी की।

६—भारतेन्दु के काव्य में संगीत का सुन्दर समावेश हुआ है।

७—भारतेन्दुजी का ध्यान शब्द-वैचित्र्य की ओर अधिक रहा। उनको उर्दू की जबाँदानी से भी प्रेम था।

———

रामोपासक राष्ट्रीय कवि—श्री मैथिलीशरण गुप्त

द्विवेदी युग—वर्तमान कविता का अरुणोदय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में हुआ था किन्तु उस समय रीतिकालीन प्रभावों से पूर्णतया छुटकारा नहीं मिला था। शृङ्गारिकता से अवरुद्ध वातावरण में समाज-सुधार और देश-भक्ति के वातायन खुल गये थे और उषाकालीन सद्यःसमीरण का सञ्चार होने लगा था। आत्म-सुधार के लिए सामाजिक दोषों की स्वीकृति मुखरित हो उठी थी किन्तु राजनीतिक उन्नति के अर्थ ब्रिटिश राज्य के वरद करुणा हस्त की अपेक्षा की जाती थी। राजनीतिक सत्वों की माँग हास्य-व्यङ्ग्य के सहारे ही दबी जबान से की जा सकती थी। उस गम्भीर हास्य के साथ उस युग में शैशवकालीन सुलभ सजीवता भी थी।

द्विवेदी युग में राष्ट्रीय चेतना के बीज अनुकूल वातावरण पाकर अङ्कुरित हो उठे थे। स्वामी दयानन्द के सामाजिक समता मूलक धर्म-प्रचार और अङ्गरेजी साहित्य के बढ़ते हुए सम्पर्क ने राष्ट्रीय चेतना और स्वातन्त्र्य भावना को विशेष बल दिया। सामाजिक विषमता पर से धर्म के आवरण के उठजाने पर राजनीतिक विषमता के आडम्बरमय हवाई महल को भी ठेस पहुँची। उधर सन १९०५ के लगभग वङ्ग-भङ्ग के आन्दोलन ने राष्ट्रीय चेतना में प्राण-प्रतिष्ठा कर दी। 'हिन्दू-मुसलिम भाई-भाई' की चारों ओर पुकार होने लगी। सत्वों की भिक्षावृत्ति में सार न देखकर स्वदेशी का अस्त्र धारण किया गया।

गोखले के अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र के पाण्डित्य पूर्ण तर्क तिलक के केशरी-गर्जन से पुष्ट हो कर देश में गूँज उठे। उसके पश्चात् राजनीतिक आन्दोलनों की बागडोर को महात्मा गाँधी ने सम्हाला। उन्होंने राजनीति को धार्मिक रूप प्रदान कर देश को सत्याग्रह का अमोघ अस्त्र दिया। सत्वों की माँग साधिकार आध्यात्मिक बल के साथ अग्रसर की जाने लगी। इसी माँग को साकेत की सुमित्रा को वाणी में काव्यमय रूप मिला। 'सत्वों की भिक्षा कैसी ? .... पाकर वंशोचित शिक्षा माँगें भी हम क्यों भिक्षा' महात्मा गाँधी के हरिजन आन्दोलन ने समता की पुकार को सामाजिक न्याय का रूप दिया। जब तक हम स्वयं न्याय नहीं करते दूसरों से न्याय की आशा नहीं कर सकते। दलितों के उद्धार के साथ स्त्रियों के अधिकारों की चर्चा होने लगी। उपेक्षिताओं की ओर भी ध्यान गया।

राष्ट्रीय चेतना ने ही हमारा ध्यान प्राचीन गौरव-गाथा की ओर आकर्षित किया। गौरवमय अतीत के सहारे ही गौरवमय भविष्य के निर्माण की आशा की जा सकती थी। गुप्तजी की भारत-भारती इसी प्रेरणा का फल थी (हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी) चरित्र-निर्माण राष्ट्रीय उत्थान का एक आवश्यक अङ्ग समझा जाने लगा। आर्य समाज की चारित्रिक विशुद्धता से प्रेरित होकर और राष्ट्रीय व्यक्तित्व को नैतिक सबलता प्रदान करने के निमित्त रीतिकालीन शृङ्गारिकता को विदा दी गई और देश के सबल महिमामय चरित्रों का इति-वृत्तात्मक गुण-गान होने लगा।

अङ्गरेजी राज्य के बढ़ते हुए बुद्धिवाद और ज्ञान-विज्ञान के विस्तार ने खड़ी बोली गद्य की प्रतिष्ठा की और लाघव के नाते कविता में भी खड़ी बोली की पुकार होने लगी। द्विवेदी युग

के इसी वातावरण में कविवर मैथिली शरणजी गुप्त साहित्य क्षेत्र में अवतारित हुए। तुलसी की भांति राम-भक्त गुप्तजी भी महावीर के प्रसाद से ही अमर साकेत की सृष्टि कर सकें।

करते तुलसी भी कैसे मानस-नाद
महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद

संक्षिप्त-परिचय—जन्म संवत १९४३। निवास स्थान-चिरगाँव जिला झाँसी। रामोपासक वैष्णव कुल में श्री रामचरणजी के यहाँ कवि का जन्म हुआ। राम-भक्ति और कवित्व दोनों ही उन्होंने अपने पिता से पैतृक सम्पत्ति के रूपमें प्राप्त की और समय की आवश्यकताओं के साथ गुप्तजी की प्रतिभा का विकास होता रहा। रामानन्य होते हुए भी राष्ट्रीय भावनाओं के अनुकूल उनमें पर्याप्त धार्मिक उदारता और परमत-सहिष्णुता है जिसके कारण उन्होंने सभी धर्मों से सम्बन्धित ग्रन्थों की रचना की। कृष्ण और बुद्ध को भी उन्होंने राम रूप में देखा है :—

धनुर्वाण या बेणु लो, श्याम रूप के संग।
मुझ पर चढ़ने से रहा, राम दूसरा रंग॥

ग्रन्थ—(१) भारत-भारती (प्राचीन-गौरव-गाथा और भविष्य के लिए उद्बोधन) (२) जयद्रथवध (महाभारत पर आश्रित देशभक्ति के भावों से समन्वित आख्यान काव्य) (३) अनघ (बौद्ध जातक कथा के आधार पर गाँधीवाद का मूर्तिमान चरित जिसमें अत्याचार के प्रति निशस्त्र विनत विद्रोह दिखाया गया है।) (४) त्रिपथगा (पाँडवों के तीन मार्मिक चित्र) (५) गुरु कुल (सिख गुरुओं का वर्णन) (६) पञ्चवटी (रामचरित का आंशिक खण्ड-काव्य) (७) द्वापर (कृष्ण चरित की विविध झाँकियाँ जिसमें नारी स्वातन्त्र्य की विघृता के रूप में झलक है) (८) नहुष (मनुष्य के सत्कर्म द्वारा उत्थान

और काम-लोलुपता वश पतन एवं पुनरुत्थान के दृढ़ सङ्कल्प की कथा है) (६) कुणाल गीत (अशोक के पुत्र की कष्ट-सहिष्णुता और त्यागमय जीवन की झाँकी) (१०) काबा-कर्बला (इस में हुसेन और उसके परिवार के कष्टों की करुणा पूर्ण कहानी के सहारे मुसलिम संस्कृति का उद्घाटन है) (११) झङ्कार (भक्ति-प्रधान रहस्यवादी भावनाओं की झंकृति है)। १२) अर्जन और विसर्जन (ईसाई संस्कृति से सम्बन्धित है) (१३) मेघनाद वध (बङ्गाली से अनूदित) (१४) चन्द्रहास (नाटक) इनके अतिरिक्त और भी बहुत से छोटे-छोटे ग्रन्थ हैं। गुप्तजी की प्रतिभा का पूर्ण प्रकाश हमको साकेत और यशोधरा में देखने को मिलता है।

गुप्तजी की विचार-धारा—गुप्तजी परम वैष्णव हैं। उनकी वैष्णवता का मूल रूप करुणा पूर्ण उदारता है—'वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीर पराई जाणे रे' यही करुणा बुद्ध धर्म का भी आधार-स्तम्भ है। इसी के सहारे गुप्तजी ने कुणाल गीत में विश्वबन्धुत्व का प्रचार किया है :—

आकृतिवर्ण और बहु वेष,
ये सब निज वैचित्र्य विशेष।
डालो अन्तर्दृष्टि निमेष॥
देखो अहा! एक ही प्राण
विश्व-बन्धुता में ही त्राण

वाद विनोद बने प्रत्यत्त,
रहे विभिन्न हमारे पत्त।
एक मोत्त हो सब का लत्त॥
करो उसी की ओर प्रयाण
विश्व-बन्धुता में ही त्राण

गुप्तजी पर गाँधीवाद का पूर्ण प्रभाव है जिस प्रकार मुन्शी प्रेमचन्द्रजी ने अपने उपन्यासों द्वारा गाँधीवाद का प्रचार किया है। उसी प्रकार गुप्तजी ने अपनी कविता में गाँधीवाद का उद्घाटन किया है। गुप्तजी के अनघ में हमको गाँधीवाद की सहिष्णुता पूर्ण वीरता के दर्शन होते हैं।

पापी का उपकार करो, हाँ
पापों का प्रतिकार करो

× × × × ×

उत्पीड़न अन्याय कहीं हो
दृढ़ता सहित विरोध करो
किन्तु विरोधी पर भी अपने
करुणा करो, न क्रोध करो

गुप्तजी सादा जीवन के पक्षपाती हैं। ग्रामीण जीवन की उन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। सीताजी द्वारा उन्होंने जो वन के सरल जीवन पर आत्म-सन्तोष प्रकट कराया है उस पर भी गाँधीवाद का प्रभाव है। सीताजी के 'मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया' में गाँधीवाद के सन्तोषमय सरल जीवन की पुकार है। उसमें कातने-बुनने के लिए भी आह्वाहन है, देखिए—

निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया
मेरी कुटिया में राज भवन मन भाया

× × × × ×

औरों के हाथों यहाँ नहीं पलती हूँ
अपने पैरों पर आप खड़ी चलती हूँ
श्रम वारिविन्दु फल स्वास्थ्य शुक्ति फलती है
अपने अंचल से व्यञ्जन आप झलती है

× × × × ×

सब ओर लाभ ही लाभ बोध-विनिमय में,
उत्साह मुझे है विविध वृत्त-सञ्चय में।
तुम अर्द्ध नग्न क्यों रहो अशेष समय में,
आओ हम कातें-बुनें गान की लय में।
निकले फूलों का रङ्ग, ढङ्ग से ताया,
मेरी कुटिया में राज भवन मन भाया।

गुप्तजी निवृत्ति के नहीं निस्वाथ प्रवृत्ति के पक्ष में हैं। वे सहज मुक्ति नहीं चाहते हैं। वे सिद्धि को साधन के ही मूल्य में चाहते हैं—

सखे मेरे बन्धन मत खोल
आप बन्ध्य हूँ, आप खुलूँ मैं
तू न बीच में बोल।
सिद्धि का साधन ही मोल.

गुप्तजी ने द्वैत की तन्मयता को अद्वैतता मानी है। दासोऽहम् ही तन्मयता के कारण सोऽहम् में परिवर्तित हो जाता है, देखिए :—

अब भी एक प्रश्न था कोऽहं
कहूँ कहूँ जब तक दासोऽहं
तन्मयता कह उठी सोऽहं।

गुप्तजी कला को अभिव्यक्ति मानते हैं किन्तु वे उसमें वास्तविकता के साथ आदर्श और दिशा-निर्देश भी चाहते हैं, देखिए :—

जो अपूर्ण कला उसकी पूर्त्ति है।
हो रहा है जो जहाँ, सो हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?
किन्तु होना चाहिए कब क्या, कहा,

व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।
मानते हैं जो कला के अर्थ ही
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।

गुप्तजी पूर्णतया मानव-गौरव के पक्षपाती हैं और आशावादी भी हैं। स्वर्ग से गिरा हुआ नहुष भी आत्म-गौरव नहीं खोता है और आशा भरे स्वरों में कहता है।

चलना मुझे है, बस अन्त तक चलना,
गिरना ही मुख्य नहीं, मुख्य है सँभलना।
फिर भी उठूँगा और बढ़के रहूँगा मैं,
नर हूँ, पुरुष हूँ, चढ़ के रहूँगा मैं।

साकेत

प्रेरणा—अपने शैशव काल में खड़ी बोली की प्रवृत्ति मुक्तक की ओर रही। खड़ी बोली को प्रबन्ध-काव्य देने वालों में काल-क्रम से सबसे पहले उपाध्यायजी का नाम आता है, उसके पश्चात् गुप्तजी का और फिर प्रसादजी आते हैं। उपाध्यायजी और गुप्तजी दोनों पर द्विवेदीजी का प्रभाव है। द्विवेदीजी वैसे तो कुछ न कुछ सुझाव दिया करते ही थे किन्तु उनके सुझावों में से दो विशेष महत्व के थे; एक हिन्दी में संस्कृत छन्दों का प्रयोग करना और दूसरा साहित्य की उपेक्षिताओं (उर्मिला और यशोधरा) की ओर कवियों का ध्यान आकर्षित करने का। उर्मिला की ओर सबसे पहले कवीन्द्र रवीन्द्र का ध्यान गया था। द्विवेदी ने उर्मिला के पक्ष को विशेष बल दिया। उपाध्यायजी ने प्रिय-प्रवास में संस्कृत छन्दों के प्रयोग के सुझाव को चरितार्थ किया और गुप्तजी ने उपेक्षिताओं का पक्ष लिया।

नामकरण—साकेत का नामकरण सकारण है। लक्ष्मण और उर्मिला की कथा राम कथा से अनस्यूत है। उनको महत्ता

देकर राम की कथा की महत्ता कम नहीं की जा सकती है। नाम में उर्मिला को महत्ता देना राम-सीता की महत्ता को कम करना होता। साकेत में राम, सीता, लक्ष्मण, उर्मिला सभी का समावेश हो जाता है। दूसरा कारण यह है कि इस काव्य का घटना-क्रम साकेत में ही घटा है। कवि साकेत से बाहर नहीं गया है। विवाह से पूर्व की घटनाएँ उर्मिला द्वारा स्मृति रूप से कहला दी गई है और साकेत से बाहर बनबास और युद्ध का कथा कुछ तो हनूमानजी से कहला दी गई है और कुछ वशिष्ठजी प्रदत्त दिव्य दृष्टि द्वारा साकेत वासियों को प्रत्यक्ष रूप से दिखा दी गई है। एक बार अवश्य साकेत से बाहर चित्रकूट राम समाज के विचार-विमर्श का घटना-स्थल रहा है किन्तु वहाँ सारा साकेत समाज था और उर्मिला भी वहीं थी। यद्यपि उस वार्तालाप में भरत और कैकेयी की प्रधानता रही फिर भी कवि ने बड़े कौशल से उर्मिला लक्ष्मण का क्षणिक मिलन करा कर उनको मञ्च पर आगे कर दिया है। इस प्रकार सारी कथा उर्मिला-केन्द्रित हो जाती है। कथा सूत्र उर्मिला और साकेत में केन्द्रित रहता है। इसके अतिरिक्त सीता कैकेयी आदि सभी ने उर्मिला को महत्ता दी है और उसके साथ सहानुभूति प्रकट की है। वन-गमन समय सीताजी कहती हैं :—

सास सुसर की स्नेहलता,
बहन उर्मिला महा व्रता
सिद्ध करेगी वही यहाँ
जो मैं भी कर सकी कहाँ ?

\+ \+ \+ \+

आज भाग्य जो है मेरा,
वह भी हुआ नहीं तेरा !

कैकेयी ने भी उर्मिला को सबसे अधिक दुखिनी कहा है क्योंकि 'मिला न बन ही न भवन ही तुझको' अन्त में स्वयं रामचन्द्रजी ने भी उसके त्याग की सराहना की :—

'तूने सह धर्म चारिणी के भी ऊपर धर्म स्थापन किया भाग्य-शालिन इस भू पर' इन सब साधु-वादों के अतिरिक्त उर्मिला को अपनी आत्माभिव्यक्ति का पूर्ण अवसर मिल जाता है। इस प्रकार उर्मिला राम-कथा एक अङ्ग मात्र रह कर भी पर्याप्त महत्ता प्राप्त कर लेती है। सारी राम-कथा साकेत में ही घटित या वर्णित होने के कारण ग्रन्थ का साकेत नाम सार्थक हो जाता है।

दृष्टिकोण में अन्तर—साकेत और राम-चरित-मानस के दृष्टिकोण में एक मौलिक अन्तर है। गुप्तजी श्री राम जी के अनन्य-भक्त हैं; राम के पूर्ण ईश्वरत्व में गुप्तजी विश्वास करते हैं—वे लिखते हैं :—

राम, तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या ?
तब मैं निरीश्वर हूँ ईश्वर क्षमा करे;
न रमो तो मन तुम में रमा करे।

गोस्वामीजी तो शायद यह प्रश्न भी पूँछना मर्यादा के विरुद्ध समझते किन्तु गुप्तजी के कथन में भी पर्याप्त दृढ़ता है। फिर भी गुप्तजी के दृष्टिकोण में कुछ अन्तर है। तुलसी के राम मनुष्य रूप होते हुए भी 'विधि हरि शम्भु नचावनहारे' ब्रह्म हैं और गुप्तजी के राम ब्रह्म और ईश्वर होते हुए भी मानव हैं। गोस्वामीजी में ईश्वर-भावना का आधिक्य है। गुप्तजी में ईश्वर-भावना की पृष्ठभूमि में मानवता का प्राधान्य है। रामचन्द्रजी अपने ईश्वरावतार की ओर संकेत करते हैं 'जो नाम मात्र ही

स्मरण मदीय करेंगे, वे भी भवसागर बिना प्रयास तरेंगे' किन्तु फिर पीछे से मानवता का दृष्टिकोण प्रधान हो जाता है—'पर जो मेरा गुण, कर्म, स्वभाव धरेंगे, वे औरों को भी तार पार उतरेंगे' यहाँ तुलसी की नामोपासना नहीं रहती।

गुप्तजी साधारण लोक की भावभूमि में आकर पारिवारिक जीवन का सफल चित्रण कर सके हैं उनके पात्र मर्यादा में बँधे रह कर वार्तालाप में स्वतन्त्र है। मर्यादा वार्तालाप की सरसता में बाधक नहीं हुई है। देवर भाभी का सम्बन्ध लौकिक धरा-तल से ऊँचा अवश्य है किन्तु बहुत दूर नहीं है। राम सीता के वनवास को जीवन में पर्याप्त पारिवारिक सरसता है और वाक-पटुता पूर्ण बौद्धिक स्वतन्त्र विचार-विनमय है जो सहवास के सुख को द्विगुणित कर देता है।

नई उद्भावनाएँ—गुप्तज ने साकेत के कथानक में कुछ हेर-फेर किया है और कुछ नई उद्भावनाएँ भी की हैं। कथानक, लक्ष्मण और उर्मिला के प्रेमालाप से आरम्भ होता है। यह प्रेमालाप पर्याप्त मात्रा में सरस और सजीव है और कहीं-कहीं अश्लीलता का तटस्पर्शी बन जाता है। प्रेमालाप मर्यादा का उल्लङ्घन करता हुआ भी लक्ष्मण-उर्मिला के त्याग को महत्ता प्रदान करता है। प्रेम-प्रमोद की तीव्रता त्याग का मापदण्ड बन जाती है। साकेत को मन्थरा यद्यपि रामचरित मानस की मंथरा की छाया हो है तथापि वह इतनी वाचाल नहीं है जितनी मानस की दासी। वह सौ चोट सुनार की नहीं करती वरन् लुहार की सी एक गहरी मनोवैज्ञानिक चोट करती है— 'भरत से सुत पर भी सन्देह' यही बात कैकेयी के मन में काँटे को तरह चुभ जाती है।

दशरथजी के कैकेयी को वरदान देने के पश्चात् राम-लक्ष्मण बुलाये नहीं जाते हैं वरन् वे वहाँ नित्य नियम के अनुसार

पितृवन्दना को जाते हैं। चित्रकूट में उर्मिला-लक्ष्मण का क्षणिक मिलन भी गुप्तजी की नई सूझ है। साकेत में हनूमानजी बूटी लेने को हिमालय तक नहीं जाते हैं वरन् वह बूटी उनको अयोध्या में ही मिल जाती है। वह बूटी भरत को किसी साधु ने दी थी। इस युक्ति से हनूमानजी को लङ्का-वृतान्त के बताने का अधिक अवसर मिल जाता है। हनूमानजी द्वारा ही लक्ष्मणजी के शक्ति लगने का हाल सुनकर अयोध्या-वासियों का चुप रह जाना एक खटकने वाली बात थी। गीतावली में गोस्वामीजी ने भी सैन्य भेजने की आवश्यकता का अनुभव सा किया है किन्तु किसी कारण से उस बात को विस्तार नहीं दिया है। गुप्तजी ने अयोध्या में एक सुन्दर फौज तैयार करादी है। उस वर्णन में केवल कल्पना की मौलिकता ही नहीं है वरन् सजीवता भी। वह दृश्य बड़ा गतिमय है।

करके ध्वनि-संकेत शूर ने शंख बजाया,
अन्तर का आह्वान वेग से बाहर आया।
निकल उठा उच्छ्वास वक्ष से उभर उभर के,
हुआ कम्बु कृतकृत्य कण्ठ की अनुकृति करके।

× × ×

उठी क्षुब्ध-सी अहा! अयोध्या की नर-सत्ता,
सजग हुआ साकेत पुरी का पत्ता पत्ता।
भय-विस्मय को शूर दर्प ने दूर भगाया,
किसने सोता हुआ यहाँ का सर्प जगाया!
प्रिया-कण्ठ से छूट सुभट-कर शस्त्रों पर थे,
त्रस्त-बधू-जन-हस्त स्रस्त-से वस्त्रों पर थे।

इस वर्णन में वीरोत्साह मूर्तिमान हो जाता है। इस सैन्य के बढ़ते हुए उत्साह को तभी विराम मिलता है जब कि वशिष्ठजी

दिव्य दृष्टि के बल से उनको प्रत्यक्ष रूप से दिखा देते हैं कि लक्ष्मणजी मूर्छा से जाग उठे हैं और लङ्का विजित प्रायः हो गई है।

चरित्र-चित्रण में भी गुप्तजी ने कैकेयी द्वारा पश्चाताप कराकर उसको बहुत ऊँचा उठा दिया है। गोस्वामीजी ने भी कुटिल रानी के पछतावे का उल्लेख किया है किन्तु साकेत में वह कुछ विस्तार और स्पष्टा से मुखरित हुआ है, देखिए—

युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी
रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी

इस सात्विक आत्मग्लानि के कारण ही उसको सारी सभा से भूरि-भूरि साधुवाद मिला। उसका कलङ्क धुल गया।

पागलसी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई
"सौ भाग धन्य वह एक लाल की माई।

पारिवारिक विषमता इस पश्चाताप से शान्त हो गई (इस अवसर पर राम के शैशवकाल के जो चित्र कैकेयी ने उपस्थित किये हैं वे बड़े मार्मिक और भावपूर्ण हैं) कैकेयी राम के प्रेम पूर्ण व्यवहार से आत्म-गौरव प्राप्त कर लेती है। गिरे को उठाना सच्ची वैष्णवी क्षमा है।

कवि अपने मन के अनकूल वास्तविकता में हेर-फेर कर लेता है उसके लिए संभाव्य और उचित ही सत्य होता है और फिर 'हरि अनन्त हरिकथा अनन्ता' की बात तो है ही। उसमें साकेत की कथा को भी स्थान मिल सकता है।

उर्मिला का विरह विरह निवेदन भारतीय कवियों का रुचिकर विषय रहा है गुप्तजी ने अपने साकेत में उर्मिला को महत्ता देने के कारण उसके विरह को विशेष स्थान दिया है।

उर्मिला के विरह के दोनों ही पक्ष हैं—ऐन्द्रिक पक्ष भी और मानसिक पक्ष भी। विरह की यही महत्ता है कि उसमें ऐन्द्रिकता विलीन हो कर मानसिक पक्ष आगे आजाता है। इसीसे विरह अधिक निस्वार्थ है। गुप्तजी ऐन्द्रिकता को पीछे हटा कर मानसिक पक्ष को बड़े सुन्दर ढङ्ग से आगे लाये हैं—

पहले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे,
छीटे वही उड़े थे, बड़े बड़े अश्रु वे कब थे।

इसमें श्लेष और अपह्नुति के अलङ्कारिक चमत्कार के साथ गुप्तजी एक सजीव चित्र द्वारा आसुओं की व्याख्या कर देते हैं। इसमें आँखों के सामने जल में कूदते हुए मनुष्य का चित्र सामने आ जाता है। विरह के कारण हृदय में एक विशेष कोमलता आजाती है। दुखी ही दूसरों के दुख से सहानुभूति कर सकता है। उर्मिला का हृदय इतना कोमल हो जाता है कि वह वृक्षों और पौदों तक की काट-छाँट को सहन नहीं कर सकती है—'सीचे ही बस मालिने, कलश ले, कोई न ले कर्तरी।' दुखी जन को दुखी ही सुखी बना सकते हैं। सुखी तो तुलना और वैषम्य से दुख को द्विगुणित कर देते हैं। इसी लिए उर्मिला प्रोषित पतिकाओं को निमन्त्रण भेजती है, देखिए—

प्रोषित पतिकाएँ हों
जितनी भी सखि, उन्हें निमंत्रण दे आ,
सम दुःखिनी मिलें तो
दुख बँटे जा, प्रणयपुरस्सर ले आ।

मन बहलाने के लिए वह चित्र-कला के अनुशीलन की सोचती है और अपनी कल्पना में वनस्थ परिवार का एक सुखद चित्र सामने ले आती है। वह लक्ष्मण को अकेले नहीं देखती वरन् भाई और भाभी के साथ देखना चाहती है। उर्मिला का

मन आशा और निराशा दोनों के बीच में आन्दोलित होता है वह कोक-शोक की रखवाली करने वाले तारों को देख कर निराश होती है (चकवा रात को अपने जोड़े से वियुक्त रहता है; तारे मानों उस शोक को कम होने से सुरक्षित रखते हैं) लेकिन वह उसी के साथ प्रभात की भी आशा करती है।

प्रियजन से सम्बन्धि सभी चीजें उद्दीपन रूप से प्रियजन की स्मृति जाग्रत करती है और विरह वेदना को दीप्त करती है।

सुन शठ शुक-वाणी-हाय ! रूठो न रानी।
खग, जनकपुरी की ब्याह दूँ सारिका मैं ?
तदपि यह वहीं की त्यक्त हूँ द रिका मैं !

वास्तव में लक्ष्मण का विनोद स्मृति रूप से विषाद बन जाता है—उर्मिला संयोग समय की विनोद-वार्ताओं का स्मरण करके अन्त में यही कहती है—'विधि के प्रमाद से विनोद भी विषाद है।' उर्मिला अपने विरह में सारी प्रकृति से संवेदना प्राप्त करने की इच्छा रखती है और स्वयं कोक जैसे समदुखी-जनों को संवेदना और आश्वासन प्रदान करती है: –

कोक, शोक मत कर हे तात,
कोकि, कष्ट में हूँ मैं भी तो, सुन तू मेरी बात।
धीरज धर, अवसर आने दे, सह ले यह उत्पात,
मेरा सुप्रभात वह तेरी सुख-सुहाग की रात !

उर्मिला के लिए प्रभात मिलन की आशा का प्रतीक होगा और कोक के लिए वास्तविक मिलन होगा। इस प्रकार दिन और रात जैसी दो विरोधी वस्तुएँ मिल जायंगी। कोक के लिए प्रभात ही सुहाग की रात है।

ऋतुओं का चक्र अवश्य उर्मिला में ऐन्द्रिकता की क्षीण झलक ले आता है और वह करुणा का शृङ्गारिक रूप बनाये रखने के लिए आवश्यक था।

ब्याज-सहित ऋण भर दूँगी मैं,
आने दे उनको हे मीत
आया यह हेमन्त दया कर,
देख हमें सन्तप्त सभीत।

विरह में सभी सुखद वस्तुएँ दुखद बन जाती हैं; इसी लिए वह सुरभि को दूर से ही लौटा देती है।

अरी, सुरभि, जा, लौट जा, अपने अङ्ग सहेज,
तू है फूलों में पली, यह काँटो की सेज!

उर्मिला ताल वृन्त से हवा करने का भी निषेध करती है। हवा भी विरह की दशा में बुरी लगती है किन्तु गुप्तजी बड़े कौशल से हवा को विरहाग्नि उद्दीप्त करने वाली बताते है। अग्नि को उद्दीप्त करना हवा का काम ही है:—

ठहर अरी इस हृदय में लगी विरह की आग,
ताल वृन्त से और भी धधक उठेगी आग।

इसमें अग्नि भी लाक्षणिक है और हवा से उसका जगना भी लाक्षणिक है। किन्तु यहाँ अभिधा भी लक्षणा का बल देती है। पंखे का काम आग का उद्दीप्त करना तो है ही। इसी तरह से विरहिणी मलयानिल का लौटा देती है, क्योंकि उसके सम्पर्क में आने से वह स्वयं लू बनकर अपने को ही सन्तप्त करेगी।

जा मलयानिल लौट जा, यहाँ अवधि का शाप।
लगे न लू होकर कहीं तू अपने को आप॥

यहाँ पर बिहारी और जायसी की सी अत्युक्ति की झलक आ जाती है किन्तु फिर भी बहुत अन्तर रहता है। वस्तु स्थिति बदलती नहीं, औंधाई सीसी सूख नहीं जाती और न कोई मनुष्य या पक्षी जलने लगता है। यह तो केवल सती के तेज की धमकी मात्र है। वह किसी सुहावनी चीज को अपने पास नहीं चाहती। भोजन भी करती है तो केवल प्रियतम के दर्शनों के अर्थ जीवित रहने के लिए। यह बात भी वह उन्माद की सी अवस्था में कहती है—

पिऊँ ला, खाऊँ ला, सखि, पहनलूँ ला, सब करूँ;
जिऊँ मैं जैसे हो, यह अवधि का अर्णव तरूँ।
कहे जो, मानूँ सो, किस विधि बता, धीरज धरूँ?
अरी, कैसे भी तो पकड़ प्रिय के वे पद मरूँ॥

इसमें मिलन की उत्कट अभिलाषा के साथ दैन्य और आवेग भी व्यञ्जित हो रहा है। उसके धैर्य का बाँध टूटा जाता है। अवधि का अर्णव पार करने के लिए तो वह स्वयं भी मिट जाना चाहती है। अपने को मिटा कर भी प्रियतम को पा सके तो वह सुखी होगी।

आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ,
मैं अपने को आप मिटाकर जाकर उनको लाऊँ।

उर्मिला आप स्वयं अवधि न बन सकी तो अवधि की शिला को उसने रो-रोकर काट ही दिया।

अवधि शिला का उर पर था गुरु भार,
तिल-तिल काट रही थी दृगजल-धार।

गुप्तजी में रोने के नये-नये प्रयोग मिलते हैं, जो लोग उर्दू के कवियों की सूक्तियों पर मुग्ध हैं वे गुप्तजी की उक्तियों को भी देखें—'दृष्टि में दर्शनार्थ धोती' यह उक्ति हमको बिहारी के

'दृगपग पौंछन किये पायन्दाज' की याद दिला देती है। उर्मिला में रोने और गाने का संघर्ष है जो उसे उन्माद की दशा में ले जाता है।

मेरा रोदन मचल रहा है, कहता है, कुछ गाऊँ,
उधर गान कहता है, रोना आवे तो मैं आऊँ।
इधर अनल है और उधर जल, हाय! किधर मैं जाऊँ,
प्रबल वाष्प, फट जाय न यह घट, कह तो हा हा खाऊँ?

उन्माद में तो आधि-व्याधि की क्या मरण तक की सम्भावना तो हो ही जाती है। वास्तविक मरण तो वैसे भी साहित्य में वर्जित है। उर्मिला का उन्माद अधिक देर तक नहीं रहता है। उन्माद का ता वह स्वागत करने को तैयार रहती है क्योंकि वह भी प्रसादजी की भाँति विस्मृति चाहती है। उन्माद में मनुष्य व्यक्तित्व खो बैठता है। जब मरीज ही नहीं तो मर्ज कहाँ? पति के लौट आने पर उसे विश्वास है कि वह उन्माद जाता रहेगा। देखिए:—

स्वजनि, पागल भी यदि हो सकूँ,
कुशल तो, अपनापन खो सकूँ
\+ \+ \+ \+
अहह! पागल हो यदि उर्मिला,
विरह-सर्प स्वयं फिर तो किला।

उर्मिला अपने विरह में भी तर्क को नहीं खो बैठती है किन्तु वह ऐसी दशा को पहुँच जाती है जहाँ उन्माद का आभास सा उसे मिलने लगता है। इस लिए जब तक चेतना है तब तक वह सखियों को सचेत भी कर देती है:—

अभय छोड़ मुझे तुम दीजियो,
हसन-रोदन से न पसीजियो।

सखि, न मृत्यु न आधि, न व्याधि ही,
समझियो तुम स्वप्न-समाधि ही।

रीतिकालीन विरह-दशाओं का निराकरण कर वह तन्मयता की एक मात्र दशा, स्वप्न-सामाधि को जो जाग्रत और स्वप्न अथवा मृत्यु और जीवन के बीच की अवस्था है, स्थित रखती है। वह अवस्था आ ही जाती है। तर्क और कल्पना करते-करते तन्मयता वश उसकी कल्पना का वाह्य प्रेक्षण (Projection) हो ही जाता है। लक्ष्मणजी स्वयं सामने आजाते हैं, जैसे नन्ददासजी की गोपियों के सामने कृष्ण आगये थे और वे आर्त हो कर विनय करने लगीं थीं :—

ऐसे में नन्दलाल रूप नैनन के आगे।
आय गये छवि।छाय बने पियरे उर बागे॥

उर्मिला पहले तो यह कल्पना करती है कि वे आगये। उस अवस्था में जो उसकी दशा होती है उसका भी वह मनोवैज्ञानिक चित्रण कर लेती है। बहुत दिनों के मिलन के पश्चात संकोच भी होता है और वह व्यक्ति नया-नया सा लगता है, देखिए :—

सखि, विचार कभी उठता यही—
अवधि पूर्ण हुई, प्रिय आगये।
तदपि मैं मिलते सकुचा रही,
वह वही, पर आज नये नये।

फिर धीरे-धीरे कल्पना पुष्ट होती है और उसे कान्त दिखाई देने लगते हैं :—

सुभग आगये, कान्त आगये!
निकल हंस-से वे कुञ्ज से,
निरख वे खड़े पुण्डय-पुञ्ज से

रुचिर चन्द्रकी चान्द्रिका खिली
निज अशोक से माधवी मिली।

नन्ददास की गपियों को तो सामूहिक रूप से कृष्ण का भान हुआ था। यहाँ केवल उर्मिला ही उनको देखती है किन्तु जब लक्ष्मण आगे नहीं बढ़ते तब उसे सन्देह होता है, फिर उसका समाधान वह अपनी हीनता से कर लेती है। यहाँ तर्क सञ्चारी का कुछ आभास सा मिलता है, देखिए :—

प्रिय, प्रविष्ट हो, द्वार मुक्त है,
मिलन-योग तो नित्य युक्त है।
तुम महान हो और हीन मैं,
तदपि, धूलि-सी अंध्रि-लीन मैं
दयित, देखते देव भक्ति को,
निरखते नहीं नाथ, व्यक्ति को।

थोड़ी ही देर में जिस प्रकार स्वप्न में भी कभी तर्क हो उठता है उसी प्रकार उर्मिला सचेत हो जाती हैं और उसकी कर्तव्य बुद्धि जाग्रत हो उठती है। वैयक्तिक अभिलाषा और कर्तव्य का द्वन्द्व उपस्थित हो जाता है जिसमें कर्तव्य की विजय होती है—

प्रभु कहाँ, कहाँ किन्तु अग्रजा,
कि जिनके लिए था मुझे तजा?

× × ×

प्रिय, फिरो, फिरो, हा! फिरो, फिरो!
न इस मोह को घूम से घिरो
विकल मैं यहाँ किन्तु गर्विणी
न करदो मुझे नष्टपर्विणी।

यही कर्तव्य बुद्धि उर्मिला को साधारण विरहिणी से ऊँचा उठा देती है। वासना के साथ उसमें पर्याप्त संयम है। वह

लक्ष्मण के कर्तव्यच्-युत रूप के देखने से बचना चाहती है, पीठ फेर लेती है किन्तु फिर भी वे ही वे दिखाई देते हैं। यह तन्मयता की पराकाष्टा है किन्तु इसमें उर्मिला का दुहरा व्यक्तित्व (Double Personality) हो जाता है। एक तो उन्माद ग्रस्त भ्रान्त विरहिणी का और दूसरा उसी के साथ उससे ऊपर उठा हुआ कर्तव्य-परायणा गर्विणी उर्मिला का।

जिधर पीठ दे दीठ फेरती,
उधर मैं तुम्हें ढीठ, हेरती।
तुम मुझे, मिलो धर्म छोड़ के,
फिर मरू न क्यों मुण्ड फोड़के?

नन्ददास की गोपियों में यह वाह्य प्रेक्षण तो होता है किन्तु उनका व्यक्तित्व एक ही रहता है। उर्मिला की इस भ्रान्त अवस्था को सखी यह कहकर कि 'वे यहाँ कहाँ' दूर करती है। उर्मिला अपनी भ्रान्ति को स्वीकार कर पति को शिक्षा देने के लिए पश्चाताप भी करती है—

अधम उर्मिले, हाय निर्दया!
पतित नाथ हैं? तू सदाशया?
नियम पालती एक मात्र तू,
सब अपात्र हैं, और पात्र तू?

सारा दृश्य बड़ा मनोवैज्ञानिक है और वास्तविक सा जंचता है। उर्मिला की उक्तियाँ रीतिकालीन कवियों की उक्तियों से क्षीण सादृश्य अवश्य रखती है किन्तु वे परम्परा भुक्त नहीं हैं। ऋतु वर्णन में अवश्य कुछ प्राचीन कवियों की छाया है किन्तु गुप्तजी ने उनमें भी नवीनता लाने का प्रयत्न किया है। उर्मिला का विरह रीति की खाना-पूरी अवश्य किसी अंश में करता है किन्तु वह उसके व्यक्तित्व के सर्वथा अनुकूल है।

उर्मिला में दैन्य है वह अपने भाग्य को घूड़े से भी गिरा हुआ कहती है क्योंकि 'दिन बारह वर्षों में घूड़े के भी सुने गये हैं फिरते !' (लोकोक्ति का बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है) उस बेचारी के लिए तो चौदह वर्ष की अवधि थी। उर्मिला का दैन्य अपने प्रियतम के ही सम्बन्ध में है। किन्तु वह दैन्य से दबती नहीं है। वह अपने चरित्र का परिचय इस प्रकार देती है :—

दैन्य से न दबूँ कभी, वह दीन मैं।
अति-अवश हूँ, किन्तु आत्म-अधीन मैं॥

इसी लिए वह स्वयं कन्दर्प को भी चुनौती देने के लिए तैयार हो जाती है और अपने सिंदूर-विंदु को शिव का तीसरा नेत्र बता कर काम को भस्म करने की धमकी भी देती है।

मुझे फूल मत मारो

× × ×

नहीं भोगिनी यह मैं कोई, जो तुम जाल पसारो,
बल हो तो सिन्दूर-बिन्दु यह—यह हर-नेत्र निहारो !

विद्यापति की नायका तो कामदेव से बचने के लिए अपनी सफाई देने लगती है कि उसका सिन्दूर-बिन्दु शिव-नेत्र नहीं है, जिसके धोके में वह उसे सता रहा है।

कतन वेदन, मोहि देसि मदना।
हर नहिं बला मोहि जुवति-जना॥

× × × ×

चाँदन क बिन्दु मोरा, नहिं इन्दु से छोटा।
ललाट पावक नहिं सिन्दुरक फोटा॥

ऋतु-वर्णन में पूर्वानुभूत सुखों की स्मृति विरह की वेदना को तीव्र बना देती है। कहीं-तो उसे वर्षा के विनोद की याद आती है तो कहीं शरत के सूचक खञ्जन उसे प्रिय आगमन की

आशा दिलाते हैं। शरत का इस लिए वह स्वागत ही करती है कि वह आशा का प्रतीक है और खंजनों का आना प्रियतम के उस ओर दृष्टि फेरने का सूचक है, देखिए—

निरख सखी, ये खंजन आये,
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये !

शिशिर को तो वह अपने शरीर में ही बसा लेती है। सूर की गोपियों ने भी वर्षा को अपने में चिरवास दिया था, 'निसि दिन बरसत नयन हमारे'। विरह दशा का शिशिर से साम्य हो जाता है, देखिए—

शिशिर, न फिर गिर-बन में,
जितना माँगे, पतझड़ दूँगी मैं इस निज नन्दन में,
कितना कम्पन तुझे चाहिए, ले मेरे इस तन में।

उर्मिला के विरह-वर्णन में कर्तव्य का उच्च आदर्श है किन्तु वैयक्तिक वासाना दबी नहीं है, वह युवती है। उसका यौवन मचलता है किन्तु संयम और अवधि की मर्यादा उसे शान्त कर देती है। देवी होकर भी वह मानवी रही है, देखिए:—

मेरे चपल यौवन-बाल।
अचल अंचल में पड़ा सो, मचल कर मत साल।
बीतने दे रात, होगा सुप्रभात विशाल॥

× × ×

मन पुजारी और तन इस दुखिनी का थाल,
भेंट प्रिय के हेतु उसमें एक तू ही लाल !

तन और मन भौतिक और मानसिक पक्ष का मानवी धरा-तल ही में समन्वय इस विरह-वर्णन की विशेषता है। इसमें वासना है किन्तु वह संयम और मर्यादा से संयत है।

उर्मिला और यशोधरा—गुप्तजी के दोनों ही ग्रन्थों की अधिष्ठातृ देवियाँ, साहित्य में उपेक्षिता नहीं तो भोग्या और 'सहज अपावन' समझी जाने वाली नारी जाति के गौरव की प्रतिनिधि होकर आई हैं। उनमें अपनी जाति के महत्व की चेतना है। दोनों ही पति-वियुक्ता होकर त्यागमयी हैं। दोनों ही 'चार चूड़ियाँ' और सिन्दूर-विन्दु मात्र को अपना अलङ्करण मानती है। दोनों ही के पति कर्तव्यवश घर से बाहर जाते हैं, एक वन में भाई की स्वतःप्रेरित सेवा के लिए, दूसरे जगत् कल्याण के अर्थ। लक्ष्मण कर्तव्य और प्रेम के संघर्ष में दी हुई मौन परन्तु आघातपूर्ण (जिसकी अभिव्यक्ति धड़ाम से गिरने में होती है) सम्मति से जाते हैं और बुद्ध देव चोरी से जाकर अपनी पत्नी के उपालम्भ के विषय बन जाते हैं।

दोनों ही विरहिणी हैं किन्तु दोनों की परिस्थिततियों में अन्तर होने के कारण उनके विरह-वर्णन में अन्तर है। उर्मिला, अकेली है, और यशोधरा के साथ राहुल सा लाल है। उर्मिला केवल पत्नी है और यशोधरा पत्नी और माता दोनों है और नारी के पूर्ण रूप का प्रतिनिधित्व करती है। उर्मिला की आँखों में पानी ही है किन्तु यशोधरा के आँखों के पानी के साथ आँचल में दूध भी है; तभी उसके सम्बन्ध में कहा गया है :—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

उर्मिला के पास केवल आँखों का पानी है, इसी लिए वह रोई अधिक है और उसे अपने रोने पर गर्व भा है 'तुम्हारे हँसने में है फूल हमारे रोने में मोती !' वह 'दृग-जल-धार' से ही अवधि-शिला को तिल-तिल काटती है। रोई यशोधरा भी है किन्तु कम—'देखो, दो दो मेघ बरसते, मैं प्यासी की प्यासी'

(विशेषोक्ति का बड़ा सुन्दर उदाहरण है) यशोधरा का आँचल का दूध, उसका मातृत्व, नारी के आसुओं को किसी मात्रा में कम कर सका है। उसमें नारीत्व इतना मुखरित नहीं है जितना कि उर्मिला में। उर्मिला के विरह में रतिभाव को खोजने नहीं जाना पड़ता—उसे आशा थी कि लक्ष्मण आयँगे और उसे नारी रूप से अपनायँगे—बेचारी गोपा को ऐसी आशा न थी, इसलिए वह मन से भी वैरागिनी हो चुकी थी, फिर भी वह वेदना से खाली नहीं है, वह रोहिणी (नदी) को दूत बनाकर भेजती है और बड़ी मार्मिक वेदना से कहलाती है 'धाय तुम्हारे सुत की गोपा बैठी है बस ध्यान से' 'धाय तुम्हारे सुत की' में के व्यङ्ग्य में पर्याप्त तीव्रता है। विवशता वश नारीत्व के सम्बन्ध को वह दबाये रखती है। यशोधरा में निराशा और आशा दोनों ही हैं, निराशा में वह कहती है :—

आली पुरवाई तो आई पर वह घटा न छाई,
खोल चंचुपुट चातक, तू ने वृथा उठाई

किन्तु स्थान-स्थान पर आशा का भी सञ्चार हो उठता है। उसे अपने प्रेम की शक्ति में विश्वास है।

मुझे मिलोगे भला कहीं तो,
वहीं सही, यदि यहाँ नहीं तो।

यद्यपि यशोधरा में वैराग्य है तथापि वह नारी की दुर्बलता से शून्य नहीं है। वह विरह से उतनी ही व्याकुल है जितनी कि उर्मिला। उसमें गुण-कथन ('किस योधा ने बढ़ कर उनका शौर्य सिन्धु अवगाहा' 'स्वामी के सद्भाव फैल कर फूल फूल में फूटे') से लगा कर व्याधि, आवेग ('मरण सुन्दर बन आया') उन्माद आदि विरह की सभी दशाएँ उपस्थित होती हैं। उसको

सर के बाल भी अच्छे नहीं लगते; वह उनको काटने के लिए तैयार हो जाती है।

जाओ मेरे सिर के बाल
अरी कर्तरी ला मैंने क्या पाले काले व्याल

फिर भी उसमें उर्मिला की अपेक्षा संयम अधिक है। उर्मिला और यशोधरा में उतना ही अन्तर है जितना कि लक्ष्मण और बुद्ध में। एक रागी और त्यागी दोनों हैं तो दूसरे केवल त्यागी है। इसी लिए उर्मिला पूर्वानुभूत सुखों का अधिक उल्लेख करती है और यशोधरा कम। यशोधरा केवल पुलक की ही बात कहती है:—

हेम पुञ्ज हेमन्त काल के
इस आतप पर वारूँ।
प्रिय स्पर्श की पुलकावलि
कैसे आज विसारूँ ?

नारी की दुर्बलताओं के रखते हुए भी यशोधरा—में नारी गौरव की मात्रा पर्याप्त से भी कुछ अधिक है। उसका कारण है। बिना कहे चले जाने में उसका स्वाभिमान अभिहत हो चुका था। उसी की दीप्ति यशोधरा में चारों ओर दिखाई देती है। यशोधरा में नारी जाति का गौरव और पति-परायणा स्त्री का पति-प्रेम दोनों ही संघर्ष के साथ संतुलन चाहते हैं। जहाँ यशोधरा विरह की लम्बी अवधि से दुखी है वहाँ विरह की अनन्तता होते हुए भी वह केवल इसी बात की शिकायत करती है कि—

सखि वे मुझ से कहकर जाते।
कह, तो क्या वे मुझ को अपनी पथ-बाधा ही पाते।

× × ×

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में,
प्रियतम को प्राणों के प्रण में।
हमी भेज देती हैं रण में, क्षात्र धर्म के नाते॥

× × ×

देती उन्हें विदा गाकर।
भार झेलती गौरव पाकर॥
यह निश्वास न उठता हा कर।

यशोधरा की यह कसक इतनी तीव्र है कि वह अन्त तक बनी रहती है और वह एक प्रकार का नारी हठ का रूप धारण कर लेती है। तर्क इसकी सहायता को प्रस्तुत हो जाता है। स्वागत न करने की अविनय का दुख रखते हुए भी वह स्वागत को नहीं जाती और अपने चरित्र की दृढ़ता का परिचय देती है:—

विदा न लेकर स्वागत से भी वञ्चित यहाँ किया है।
हन्त अन्त में यह अविनय भी तुमने मुझे दिया है॥

× × ×

ले न सकेगी तुम्हें वही वढ़ तुम सब कुछ हो जिसके।
यह लज्जा यह क्षोभ भाग्य में लिख गया कब किसके?
अब कठोर हो वज्रादपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी।
आर्य पुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी॥

इस आत्म-गौरव में यशोधरा न विनय खोती और न विश्वास; वह दृढ़ता से कहती है—'भक्त नही जाते कहीं। आते हैं भगवान' वह दो कदम भी आगे नहीं जाना चाहती। गुप्तजी ने यहाँ युग-युग की नारी जाति की उपेक्षा का व्याज सहित बदला चुका लिया है, देखिए:—

यदि वे चल आये हैं इतना ।
तो दो पद उनको है कितना ॥
क्या भारी वह, मुझको जितना ।

भगवान आते हैं और यशोधरा का प्रण पूरा होता है। विजय दोनों की होती है। इधर भगवान यशोधरा से क्षमा याचना करते हुए कहते हैं :—

मानिनि, मान तजो, लो, रही तुम्हारो बान ।
दानिनि आया स्वयं द्वार पर, यह तव तत्रभवान ॥

दूसरी ओर यशोधरा भी अमिताभ की विजय स्वीकार कर लेती है। भक्त का हठ रखने में भी भगवान की महानता है, देखिए :—

नाथ, विजय है, यही तुम्हारी ।
दिया तुच्छ को गौरव भारी ॥
अपनाई मुझ सी नारी ।
होकर महा महान ॥

यशोधरा का मूल स्वर है नारी-गौरव। नारी-प्रवृत्ति की प्रतीक है और बुद्ध निवृत्ति के। यशोधरा ने अपना नारी जाति का प्रतिनिधित्व स्वीकार भी किया है—

तुम्हें न सहना पड़ा दुःख मुझे यही सुख आली ।
वधू वंश की लाज दैव ने आज मुझ पर डाली ॥

नारी के प्रभाव से बुद्ध भी बाहर नहीं जा सकते। मुक्ति और विरक्ति दोनों ही नारी वाचक शब्द हैं—'है नारीत्व भुक्ति में भी तो अहो विरक्ति बिहारी' बार-बार यशोधरा बुद्ध के पलायनवाद के विरुद्ध अवाज उठाती है—'मैं इन्द्रियासक्ति ! पर वे कब थे, विषयों के चेरे ?' वास्तव में जो धीर है उनको भागने

की आवश्यकता नहीं। 'विकार हेतौ सति न विक्रियन्ते येषां चेतांसि त एव धीराः' यशोधरा अपनी तथा अपने साथ नारी जाति की बुद्ध से तुलना करती हुई कहती है कि यदि समता बुद्ध के पास है तो ममता उसके पास है। ममता का ही व्यापक रूप समता है। प्रेम रहित समता जगत का कल्याण नहीं कर सकती है, देखिए—

तुच्छ न समझो मुझको नाथ।
अमृत तुम्हारी अञ्जलि में तो भाजन मेरे हाथ॥
तुल्य दृष्टि यदि तुमने पाई।
तो। हम में ही सृष्टि समाई॥

× × ×

ममता को लेकर ही समता।
ममता में ही मेरी क्षमता॥
फिर क्यों यह विरह-विषमता?
क्यों अपेय इस पथ का पाथ।
तुच्छ न समझो मुझ को नाथ॥

उर्मिला की भाँति यशोधरा को मिट्टी (संसार) पर गर्व है। मिट्टी प्रवृत्ति का प्रतीक है। इस युग में भव में ही स्वर्ग का नव वैभव उत्पन्न कराया जाता है। साकेत के राम भी इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आये थे। उर्मिला भी अन्तरिक्ष की जल-वृष्टि को पृथ्वी का पानी बतलाती है—'मेरी ही पृथिवी का पानी, ले लेकर यह अन्तरिक्ष सखि, आज बना है दानी!' पिछला युग पृथ्वी हेय समझता था किन्तु यह युग पृथ्वी को ही महत्ता देता है। यशोधरा भारतीय नारी का भाँति पति की आवश्यकता स्वीकार करते हुए स्त्री को सब तरह के फल देने के योग्य बतलाती है :—

तेरी करुणा का एक कण
वरस पड़े अब भी कहीं,
तो ऐसा फल है कौन जो
मिट्टी में फलता नहीं ?

यशोधरा उर्मिला की भाँति पति पर एकमात्र अधिकार नहीं रखना चाहती है। वह उनके त्याग और तप का फल सब को देना चाहती है क्योंकि उसके साथ सभी ने दुख सहा है :—

उनके श्रम के फल सब भोगे,
यशोधरा की विनय यही।
मैंने ही क्या सहा, सभी ने,
मेरी बाधा व्यथा सही।

उपाध्यायजी की राधा भी विश्व-प्रेम को महत्व देती हुई यह कहती है।

प्यारे जीवें जगहित करें, गेह चाहे न आवें।

× × ×

मेरे जी में अनुपम-महा विश्व का प्रेम जागा !
मैंने देखा परम परम प्रभु को स्वीय प्राणेश में है॥

उर्मिला का दृष्टिकोण इतना विश्व-व्यापी नहीं है। वह उनका गेह आना तो चाहती है किन्तु अवधि की पूर्ति पर ही। वह अपने से अधिक आराध्य युग्म को महत्ता देती है। वे ही उसके लिए विश्व हैं।

आराध्य युग्म के सोने पर,
निस्तब्ध निशा के होने पर।
तुम याद करोगे मुझे कभी,
तो बस फिर मैं पा चुकी सभी।

उपाध्यायजी की राधा में आधुनिकता का आदर्श अधिक है। वे समाज-सेविका है। प्रिय-प्रवास की राधा वैसी है जैसी कि भ्रमर गीत के ऊधो उन्हें देखना चाहते थे। वे मानवी की अपेक्षा देवी अधिक है। उर्मिला भी थोड़ी समाज-सेवा-परायणा है। वह प्रोषित पतिकाओं को इकट्ठा करना चाहती है, वह इस लिए कि सम-दुखिनियों से कुछ संवेदना मिलेगी और पुर-बाला-शाला खुलवाना चाहती है, वह भी इसलिए कि वह ललित कलाओं को भूल न जावे। यह दृष्टिकोण स्वार्थ-परक है किन्तु वास्तविकता के अधिक निकट है:—

मैं निज ललित कलाएँ भूल न जाऊँ वियोग-वेदन में।
सखि पुरबाला-शाला खुलवा दे क्यों न उपवन में॥

इसमें उर्मिला का ललित कला प्रेम तो व्यञ्जित होता है किन्तु विरह की तीव्रता कुछ कम हो जाती है। उर्मिला के पक्ष में इतना ही कहा जा सकता है कि वह बिचारी करै भी क्या? आखिर किसी तरह दिन काटे। (रीतिकालीन और भक्तिकालीन नायिकाएँ भी वीणा का सहारा लेती थीं) यशोधरा के पास राहुल सा लाल था। वह उसके हँसने किलकने में आनन्द ले सकती थी, उसके दाँतों पर मोती वार सकती थी।

किलक अरे! मैं नेक निहारूँ!
इन दाँतों पर मोती वारूँ॥

तू मेरी अँगुली धर अथवा मैं तेरा कर धारूँ।
लट-पट चरण चाल अटपट सी मन भाई है मेरी।

किन्तु उर्मिला के पास क्या था? इसी कारण उर्मिला के विरह की महत्ता बढ़ जाती है और हमारी सहानुभूति भी बढ़ जाती है। उर्मिला में नारी की सहन-शीलता, दीनता और विवशता है और यशोधरा में सहनशीलता के साथ नारी का स्वाभि-

मान और गर्व अधिक है। उर्मिला प्राचीन आदर्शों के अधिक अनुकूल है; यशोधरा में प्राचीनता के वातावरण और उसकी पृष्ठ-भूमि में नवीनता का पुट है। दोनों का व्यक्तित्व स्पष्ट और व्यक्त है और अपने-अपने व्यक्तित्व और परिस्थिति के अनुकूल ही उनका विरह-वर्णन हुआ है।

साकेत का प्रबन्ध-निर्वाह और महाकाव्यत्व—महाकाव्य प्रबन्ध-काव्य का ही एक भेद है। इस लिए प्रबन्ध-निर्वाह महाकाव्य के लिए पहली आवश्यकता है। साकेत-केन्द्रित होने के कारण इस काव्य में अभिषेक की तैयारी से आरम्भ होकर बनवास और भरत के पादुका लेकर प्रत्यागमन तक की कथा प्रत्यक्ष रूप से घटित हुई है। सीता-हरण से लगाकर लक्ष्मणजी के शक्ति लगने तक का वृत्तान्त हनूमानजी द्वारा सुनाया गया है, युद्ध का परिणाम साकेत वासियों को दिव्य दृष्टि द्वारा दिखाया गया है और विवाह-पूर्व की कथा उर्मिला ने स्मृति रूप से कही है। इन चारों भागों की एक कथा-सूत्र में अन्विति की गई है। यद्यपि जितना रस-परिपाक प्रत्यक्ष में हुआ है उतना परोक्ष में नहीं हो सका तथापि हनूमानजी का वर्णन परिस्थिति के अनुकूल द्रुतिगति का होता हुआ पर्याप्त ओजमय है। (उनको प्रातः काल से पूर्व लङ्का पहुँच जाना था।) उर्मिला द्वारा विवाह पूर्व का वर्णन निजी सरसता और भावुकता से हुआ है। आठवें सर्ग की समाप्ति तक कथा प्रत्यक्ष एवं अविछिन्न रूप से प्रवाहित हुई है यद्यपि अष्टम सर्ग में राम-सीता के विचार और विनोदपूर्ण वार्तालाप और सीताजी के मनोराज्य गायन ने कथा-प्रवाह को कुछ देर के लिए स्थगित कर दिया है (वह वनवास में सहवास का सुख दिखाने के लिए आवश्यक था) नवम सर्ग में भावुकता कथा-प्रवाह को स्थगित कर देती है। दशम सर्ग में भावुकता के

साथ उर्मिला द्वारा विवाह-पूर्व की कथा कही गई है। आगे कुछ परोक्ष रूप से कथा चलती है और कुछ प्रत्यक्ष रूप से, कथा-प्रवाह में एक दो स्थलों पर कुछ रुकावट होते हुए भी कथा के टूटे हुए सूत्र सहज में जुड़ जाते हैं।

गुप्तजी ने बीच-बीच में पिछले वार्तालाप का उल्लेख करा कर तारतम्य को दृढ़ बना दिया है, उदाहरणार्थ उर्मिला का निम्नोल्लिखित कथन लीजिए :—

साल रही सखि, माँ की
झाँकी वह चित्र कूट की मुझको,
बोलीं जब वे मुझ से—
मिला न बन ही, न भवन ही

विरह वर्णन में शुक-सारिका के विनोद का भी उल्लेख है।

यद्यपि इस काव्य में विचार तत्व और प्रगीत तत्व पर्याप्त है तथापि यह युग की प्रवृत्ति है। सभी आधुनिक महाकाव्यों में गीत रहते हैं।

साकेत, कामायनी आदि काव्यों को कुछ विद्वानों ने महाकाव्य न कह कर एकार्थ काव्य कहा है क्योंकि उनमें न पर्याप्त विस्तार है और न आवश्यक मोड़ हैं। विस्तार और मोड़ का प्रश्न सापेक्षित है, अप्रत्याशित मोड़ों के लिए कल्पित कथानकों में अधिक गुञ्जाइश रहती है। राम-कथा इतनी प्रचलित है कि उसमें नई मोड़ों की सम्भावना नहीं रहती, फिर भी गुप्तजी ने कथा में अप्रत्याशित मोड़ दिये हैं। चित्रकूट के वार्तालाप में कथा ने कई मोड़ें ली हैं। राम जब भरत पर निर्णय छोड़ देते हैं, तब जनता और शायद पाठक भी यह समझने लगते है कि अब रामचन्द्रजी को लौटना पड़ेगा किन्तु रामचन्द्रजी और भरतजी

का घातीलाप भरतजी को धर्म-संकट में डाल देता है और सारी सभा निस्तब्ध रह जाती है :—

सन्नाटा-सा छा गया सभा में क्षण भर,
हिल सका न मानो स्वयं काल भी कणभर।

फिर एक साथ जाबालि जरठ मौन भङ्ग करके खड़े होजाते हैं। बातों का आदान-प्रदान होने लगता है और सीताजी से लौट चलने का प्रस्ताव होता है। इसी प्रकार जब लक्ष्मणजी के शक्ति लगने पर साकेत सैना लङ्का जाने को तैयार हो जाती है तब वशिष्ठजी एक साथ हस्तक्षेप करते हैं और दिव्य दृष्टि द्वारा जनता को युद्ध का परिणाम दिखा देते हैं फिर शेष कथा का प्रचलित रामकथा से साम्य हो जाता है। गुप्तजी ने कौतूहल जाग्रत रखने का पर्याप्त प्रयत्न किया है। रामचरित-मानस की कथा संस्कार न भुला सकने पर भी इस कथा में पर्याप्त कौतूहल और रोचकता है। गौण होते हुए भी रामकथा इसमें गौण नहीं हो सकी है और राम-चरित की पूरी अनेक-रूपता इसमें उतर आई है। युद्धादि के वर्णन परोक्ष होकर भी पर्याप्त रूप से सजीव हैं—'दल बादल भिड़ गए धरा धँस चली धमक से'।

साकेत का प्रधान रस करुण-वियोग है। इसमें वियोग की करुणा के साथ शृङ्गार की रति और आशा है। इसका अच्छा परिपाक हुआ है। वीर, रुद्र और करुण रस भी सहायक होकर आये हैं। इसमें महाकाव्य के सभी वर्ण्य विषय आगये हैं और इसका सांस्कृतिक पक्ष भी प्रबल है। महाकाव्य का पाश्चात्य आदर्श जो जातीय संस्कृति का उद्घाटन चाहता है पर्याप्त रूप से विद्यमान हैं। स्वयं भगवान रामचन्द्रजी अपने भूलोक पर आने का लक्ष्य बतलाते हैं। यही भारतीय संस्कृति का मूल पक्ष है, देखिए : —

मैं आर्यों का आदर्श बताने आया,
जन-सन्मुख धन को तुच्छ बताने आया।

× × × ×

संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

जन सम्मुख धन को तुच्छ बताना ही राम-परिवार और आर्य-संस्कृति का मूल-मंत्र है। इस उदात्त-भाव की पूर्ति में साकेत का महाकाव्यत्व सार्थक है।

भाषा और कला—गुप्तजी खड़ी बोली के उन्नायकों में से हैं। उपाध्याय जी तथा गुप्तजी ने खड़ी बोली को महाकाव्य देकर उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाई है। उपाध्यायजी ने प्रिय-प्रवास में संस्कृत छन्दों को अपनाया और उसके अनुकूल उनकी भाषा अधिक संस्कृत गर्भित और कहीं-कहीं संस्कृत प्रायः हो गई है (उनके और ग्रन्थों में बोल-चाल की भी भाषा है) किन्तु गुप्तजी ने हिन्दी छन्दों को अपनाया है। उनकी भाषा में तत्समता की प्रवृत्ति होते हुए भी वह बोल-चाल की भाषा के अधिक निकट है। गुप्तजी पर संस्कृत का काफी प्रभाव है और यथा-स्थान उसकी झलक मिल जाती है—जैसे, 'करुणा-कंजारण्य-रवे ! गुण-रत्नाकर आदि कवे' 'पाकर यह आनन्द-सम्मिलन-लीनता,' 'आभरणावरण-मुक्त लावण्य' 'श्लथ-शिखण्ड, 'गजभुक्त कपित्थ,' 'हिमवाष्प भाराक्रान्त' 'मानस-कोष-विभूति-विहारिणी' आदि-आदि। कहीं-कहीं तुक के आग्रह से भी त्वेष, कल्य, आज्य, जिष्णु, आस्य आदि अप्रचलित शब्द आगये हैं। कहीं-कहीं प्रान्तीय भाषाओं के शब्द, जैसे, झीमना, छींटना, अफर, धड़ास आदि का भी प्रयोग हुआ है। इतना होते हुए भी काव्य का अधिकांश भाग जन-साधारण के बोधगम्य बना रहा है। गुप्तजी ने कहीं लोकोक्तियों की ओर संकेत कर पर्याप्त सजी-

वता उत्पन्न करदी है—जैसे 'दिन बारह वर्षों में घूड़े के भी सुने गये हैं फिरते !' गुप्तजी के शब्द-शक्तियों से पूरा लाभ उठाया है—लक्षणा-व्यञ्जना के सुन्दर प्रयोग मिलते हैं। वैसे तो प्रायः सभी रूपक, और मुहावरे लक्षणा के सहारे अर्थवान होते हैं, फिर भी साकेत में बहुत से लक्षणा के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। 'यह रजनी तो जम बैठी विषम पाले से' पाले से रात्रि के जम जाने और स्थिर हो जाने में विशेष चमत्कार आ गया है।

काव्य के लिए मसि का प्रयोग शुद्धा-लक्षण लक्षणा के अन्तर्गत है—'ढाल लेखनी सफल अन्त में मसि भी तेरी।' कहीं-कहीं एक लक्ष्यार्थ के ऊपर दूसरा अर्थ लगाकर सुन्दर व्यङ्ग्य और परिहास बन जाता है।

बोले तब प्रभु, परम पुण्य पथ के पथी।
"निज कुल की ही कीर्ति प्रिये, भागीरथी"
तुम्ही पार कर रहे हो आज जिसको अहो,
सीता ने हँस कहा – क्यों न देवर कहो ?

भाषा में चमत्कार लाने और सजीव बनाने के प्रायः सभी साधनों को गुप्तजी काम में लाये हैं। कुछ अलङ्कारों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

अलङ्कार

व्यतिरेक—

किन्तु सुर सरिता कहाँ, सरयू कहाँ ?
वह मरों को मात्र पार उतारती ॥
यह यहीं से जीवितों को तारती।

तद्रूप, भ्रान्ति और रूपकातिशयोक्ति—

नाक का मोती अधर की कान्ति से ॥
बीज दाड़िम का समझ कर भ्रान्ति से।

देखकर सहसा हुआ शुक मौन है ॥
सोचता है, अन्य शुक यह कौन है ?

अहृ ति—

इन्द्र बधू आने लगी क्यों निज स्वर्ग विहाय।
नन्ही दूर्वा का हृदय निकल पड़ा है हाय ॥

मुद्रा—

करुणे, क्यों रोती है ? 'उत्तर' में और अधिक तू रोई।
मेरी विभूति है जो, उसको भव-भूति क्यों कहे कोई ॥

श्लेष से पुष्ट साङ्ग रूपक—

उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से,
और पाकर ताप उसके प्रिय-विरह-विक्षेप से।
वर्ण-वर्ण सदैव जिनके हों विभूषण कर्ण के,
क्यों न बनते कविजनों के ताम्र पत्र सुवर्ण के।

रुदन्ती एक रुखड़ी का भी नाम है और विरहिणी का भी विशेषण है। जिस प्रकार रुदन्ती के योग से ताम्बा सोना हो जाता है उसी प्रकार रुदन-रस अर्थात् करुणा के योग से कवियों के ताम्र पत्रों का और भी महत्व बढ़ जाता है। वे स्वर्ण के हो जाते हैं—(गुप्तजी के मङ्गलाप्रसाद पुरस्कार का ताम्र-पत्र सुयश से धवल तो हो ही गया होगा और उसका मूल्य तो स्वर्ण से भी अधिक है, अच्छे वर्णों (अक्षरों) की कमी तो उसमें है ही नहीं) शैली का विशेष वर्णन और नये अलङ्कारों के लिए डाक्टर नगेन्द्र के साकेत एक अध्ययन में शैली के प्रसाधन-शीर्षक अध्याय पढ़िए।

गुप्तजी के काव्य की विशेषताएँ—

१—गुप्तजी की कविता में राष्ट्रीयता और गान्धीवाद की प्रधा-

नता है, और उसके अधीन गौरवमय प्राचीन इतिहास और भारतीय संस्कृति को महत्ता दी गई है।

२—गुप्तजी ने राष्ट्रीय जीवन के साथ पारिवारिक जीवन को भी यथोचित महत्त्व दी है।

३—गुप्तजी रामानन्य होते हुए साम्प्रदायिकता से अछूते हैं। उन्होंने सभी धर्मों से सम्बन्धित कथात्मक ग्रन्थ लिखे।

४—गुप्तजी ने साहित्य की उपेक्षिताओं को ही नहीं वरन् नारी मात्र को विशेष महत्व प्रदान किया है।

५—गुप्तजी ने प्रबन्ध और मुक्तक दोनों ही लिखे और वे समय की गति के साथ कदम मिलाये चले हैं—

६—गुप्तजी की भाषा प्रिय-प्रवास की सी संस्कृत प्रायः नहीं है। संस्कृत गर्भित होते हुए भी प्रसादजी, की कविता की भाँति गुप्तजी की कविता दुरूह नहीं होने पाई है।

७—गुप्तजी ने शब्द-शक्तियों तथा अलङ्कारों से पूरा लाभ उठाया है, कहीं-कहीं मुहावरों की ओर भी काव्य-मय संकेत है।

८—गुप्तजी ने बड़े सुन्दर शब्द-चित्र दिये हैं। नाटक के से टेब्यूलो बना दिये हैं—

चूमता था भूमितल को अर्द्ध-विधु-सा भाल,
बिछ रहे थे प्रेम के दृग-जाल बनकर बाल।
छत्र-सा सिर पर उठा था प्राण पति का हाथ,
हो रही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ

९—गुप्तजी के संवाद बड़े ही सजीव सरस और प्रत्युत्पन्नमति पूर्ण हैं।

———

छायावाद-रहस्यवाद

द्विवेदी युग की प्रतिक्रिया—द्विवेदी युग में उपदेशात्मकता एवं इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता रही। उसमें आर्य-समाजी प्रभाव का कुछ अक्खड़पन भी था और साथ ही खड़ी बोली का खड़ापन ही अधिक सामने आया। शृङ्गार भी वर्ज्य सा रहा। यह रीति-कालीन अत्यधिक शृङ्गारिकता की प्रतिक्रिया थी। छायावाद में द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया हुई। राष्ट्रीयता हृदय की कोमल भावनाओं को न दबा सकी और शृङ्गारिक भावनाएँ एक उन्नत रूप में प्रकाश में आईं। शृङ्गार का मानसिक पक्ष प्रबल हुआ और उसकी सारभूता कोमलता साहित्यिक वातावरण को व्याप्त कर दिया। वह कोमलता हमारे कवियों को बाहर की अपेक्षा भीतर अधिक मिली। मानवी-व्यापारों में संघर्ष, कटुता और विफलता दिखाई दी। सरकार साम्राज्यवाद की रूढ़ियों में ग्रस्त थी और समाज प्राचीन धार्मिक रूढ़ियों का शिकार बनी हुई थी; बेचारे नव युवकों को दोनों ओर से निराशा का सामना करना पड़ा। उनके केवल दो शरण-स्थल थे—प्राकृतिक सौन्दर्य और चराचर में व्याप्त परम सत्ता जो साम्प्रदायिकता की संकुचित रूढ़ियों से परे थी। सरकार और समाज से तिरस्कृत होने के कारण उनकी वैयक्तिकता उभार में आई और स्वातन्त्र्य भावना जाग्रत हुई। उनके भावोद्गार गीत-लहरी में बह उठे और छायावाद और रहस्यवाद के गीतों की सृष्टि हुई। स्वतन्त्रता की भावना उनको छन्द के बन्धन तोड़ने की ओर ले गई। छन्द की अपेक्षा

ताल और लय का मान हुआ। कविता मुक्त सरिता की भांति अपनी गति से प्रवाहित होने लगी। जीवन की बाहरी शुष्कता के अन्तस्तल में बसने वाली सौन्दर्य-सुषमा को बाहर लाकर उसको एक सरस मधुरावेष्टनमयी कोमल-कान्त पदावली में अभिव्यक्त करने की ओर हमारे नव युवक कवि अग्रसर हुए।

नाम—यहाँ छायावाद और रहस्यवाद के शब्दों पर प्रकाश डाल देना अनुपयुक्त न होगा। आचार्य शुक्लजी ने छायावाद को (Phantasmata) अर्थात् छायाभास से निकला हुआ बतलाया है। इसके अनुकूल वास्तविक संसार एक विचार-मय संसार की छाया बन जाता है। सम्भव है प्रकृति में मानवी भावों की छाया देखने से, अथवा उसकी इषत् अस्पष्टता के कारण छायावाद नाम पड़ा हो। कविवर प्रसाद ने छायावाद को छाया (मोती पर की आब) से सम्बन्धित बतलाया है। रहस्यवाद Mysticism का अनुवाद है। अपने यहाँ भी आध्यात्म विषय को रहस्य कहा गया है।

नया दृष्टि-कोण—छायावादी तथा रहस्यवादी गीतों में स्थूल दृश्य की उपेक्षा है। बहिर्मुखी की अपेक्षा वे अन्तर्मुखी अधिक होते हैं। इन गीतों में बाह्य प्रकृति का चित्रण भी आन्तरिक रूप से ही होता है। प्रकृति का एक विशेष मानवीकरण कर उसको मानवी भावों से अनुप्राणित देखा जाता है। इसमें वस्तु को छोटी-छटी सीमाओं में न देखकर उसका वायवीकरण (Etherealization) कर दिया जाता है। झरना पानी का प्रवाह मात्र नहीं रहता है वरन गहरी बात कहता सुनाई पड़ता है और किरण भौतिक आलोक-रेखा न रह कर विकल विश्व-वेदना की दूती बन जाती है। यह प्रकृति और मानव का एकीकरण भारतीय एकात्मवाद की भावना पर आश्रित है। प्रकृति पुरुष का विराट शरीर है तथा पुरुष प्रकृति की आत्मा। मनुष्य

का शरीर प्रकृति का ही अंश है और उसकी आत्मा का व्यापक विश्वात्मा से सम्बन्ध है। कविवर पंत की 'परिवर्तन' नाम की कविता में यह भावना काफी स्पष्ट है—

-'एक ही तो असीम उल्लास
विश्व में पाता विविधाभास,
तरल जलनिधि में हरित विलास,
शान्त अम्बर में नील विकास।"

अन्तर—भारतीय कवि मनुष्य और प्रकृति में आदान-प्रदान मानता आया है। पहले महायुद्ध के बाद भी भौतिकवादी सभ्यता के दिवालियापन ने शिक्षित समुदाय का नेत्रोन्मीलन कर दिया था। लोग आध्यात्म की ओर झुक चले थे। छायावाद की वही अन्तर्मुखी प्रवृत्ति रहस्यवाद में और गहरी तथा मुखरित हो जाती है। प्रकृति में मानवी भावों का आरोप कर जड़-चेतन के एकीकरण की प्रवृत्ति छायावाद की एक विशेषता है जो उसके मूर्त की अमूर्त से तुलना करने वाले अलङ्कार-विधान में, जैसे 'बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल', लहरों के लिए 'इच्छाओं सी असमान' तथा मानवीकरणप्रधान लाक्षणिक प्रयोगों में परिलक्षित होती है। ये सब प्रयोग भौतिक में अभौतिकता लाने के ही प्रयत्न हैं। जब यह प्रवृत्ति कुछ अधिक वास्तविकता धारण कर अनुभूतिमय निजी सम्बन्ध की ओर अग्रसर होती है तभी छायावाद रहस्यवाद में परिणत हो जाता है। जिस प्रकार प्रकृति की गोचर सीमाओं को पार कर उसमें दृश्यमान इतिवृत्तात्मक भौतिकता की अपेक्षा एक अलौकिक-अगोचर मानवी भावुकता के दर्शन करने की प्रवृत्ति को छादावाद कहते हैं उसी प्रकार दृश्य सम्बन्धों के परे लोकोत्तर सत्ता के साथ एक भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति को रह-

स्यवाद कहते हैं। इसमें गूँगे के गुड़ जैसे मूक आस्वाद की अभिव्यक्ति अन्योक्तियों और रूपकों द्वारा सांकेतिक रूप से होती है। यह रहस्यवाद की प्रवृत्ति इस युग की ही देन नहीं है वरन् कबीर, जायसी आदि में इसका बाहुल्य था। रहस्यवाद शब्द में कुछ शृङ्गारिक रूपक और कुछ नश्वर और अनश्वर के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति-विषयक अस्पष्टता और अनिर्वचनीयता की ओर संकेत रहता है।

श्री जयशङ्करप्रसाद—

जीवन-परिचय—

जन्म—माघ शुक्ला १२ संवत् १९४६,
स्वर्ग-वास—कार्तिक शुक्ला ११ संवत् १९९४,

प्रसादजी का जन्म काशी में 'सुघनी साहु' के प्रसिद्ध घराने में बाबू शिवरत्न के सुपुत्र बाबू देवीप्रसादजी के यहाँ हुआ। पुरातत्व और इतिहास का गम्भीर अध्ययन और अनुसन्धान का शौक आपकी निजी प्रेरणा से ही हुआ। काशी के पाण्डित्य-पूर्ण जीवन का आपने पूरा-पूरा लाभ उठाया। कविता का शौक आपको बाल्यकाल से हो गया था क्योंकि काशिराज की भाँति आपका घर भी कवियों, गुणियों और गायकों का आश्रय-स्थान था। देवीप्रसादजी और उनके पूर्वज सच्चे अर्थ में महादेव (खूब देने वाले) थे। यद्यपि प्रसादजी आनन्दवादी थे तथापि उनके जीवन में करुणा और वेदना के उपकरणों की कमी न थी। उनका प्रभाव उनके जीवन पर अवश्य रहा किन्तु वे उनसे विचलित न हुए। वैसे भी उन पर उपनिषदों के आनन्दवाद और बौद्धधर्म के दुःख वाद के दोनों ही प्रभाव थे। सायर, सिंह और सपूत की भाँति वे अपना नया मार्ग बनाते थे, पीटी हुई लकीर पर चलना उन्हें

पसन्द नहीं था। उनकी प्रतिभा साहित्य के सभी क्षेत्रों में चमकी। जिस विषय में उन्होंने हाथ लगाया उसे अलंकृत कर दिया।

ग्रन्थ—कविता—कानन-कुसुम, चित्राधार (ब्रजभाषा की कविताओं का संग्रह), प्रेम पथिक, लहर, झरना, आँसू, कामायनी।

नाटक—सज्जन करुणालय, विशाख, राज्यश्री, अजातशत्रु, कामना, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, एक घूँट, ध्रुवस्वामिनी।

उपन्यास—कङ्काल, तितली, इरावती, (अपूर्ण)

कहानी-संग्रह—छाया, प्रतिध्वनि, अकाश-दीप, आँधी, इन्द्रजाल

निबन्ध संग्रह—काव्य और कला।

प्रेम और सौन्दर्य—प्रसादजी के काव्य का विषय प्रेम और सौन्दर्य है इस प्रेम के लिए हम यह नहीं कह सकते कि वह किस-किस समय लौकिक से दैवी रूप धारण कर लेता है। एक दूसरे प्रसंग में कही हुई रवीन्द्र बाबू की निम्नाङ्कित पंक्तियाँ प्रसाद जी के प्रेम के सम्बन्ध में पूर्णतया चारितर्थ होती हैं।

मोह मोर मुक्ति-रूपे उठिबे ज्वलिया
प्रेम मोर भक्ति-रूपे रहिबे फलिया।

वास्तव में उनका प्रेम भक्ति में परिणत हो जाता है।

प्रसादजी ने सौन्दर्य के भौतिक आकर्षण की अवहेलना नहीं की है। वह एक वैज्ञानिक सत्य है, उसको स्वीकार करते हुए भी वे उसको नीचे की ओर नहीं ले गये हैं। उसका स्वर्गीय आनन्द चित्रण करते हुए उन्होंने उसको ऐन्द्रिकता के भार से ऐसा ग्रसित नहीं किया है कि उसकी प्रातःसमीरण की सी परिमलमय सुखद, स्वच्छन्द सूक्ष्मता और तरलता में बाधा पड़े। उसका प्रभाव जीवन पर मन्द और मधुर होता है। वह कभी झंझावात

और बवंडर के रूप में नहीं आता। मधुर व्यञ्जना से भी काम लिया जाता है—

बिछल रही है चाँदनी, छवि मतवाली रात
कहती कंपित अधर से बहकाने की बात।

शारीरिक सौन्दर्य के प्रसादजी ने बड़े सुन्दर वर्णन किये हैं।

चपला-सी है ग्रीवा हंसी से बढ़ी
रूप-जलधि में लोल लहरियाँ उठ रहीं।

प्रसादजी के प्रेम में विरह की करुणा पर्याप्त मात्रा में है। उसमें उत्कंठा की तीव्रता के साथ आशावाद का कोमल माधुर्य है।

कभी चहल-कदमी करने को, काँटों का कुछ ध्यान न कर।
अपना पाईं बाग बना लोगे प्रिय इस मन को आकर॥

और देखिए—'क्रोध से, विषाद से, दया से, पूर्व प्रीति से ही किसी भी बहाने से तो याद किया कीजिए।'

प्रेम की निश्चयता एवं दृढ़ता देखिए। प्रेम के आगे कोई बाधाएँ नहीं ठहरतीं—

तुम्हारा शीतल सुख परिरम्भ
मिलेगा और न मुझे कहीं।
विश्व भर का भी हो व्यवधान
आज यह बाल बराबर नहीं।

रहस्यवाद—प्रसादजी का यही ईश्वरोन्मुख, प्रेम प्रकृति के प्रेम के साथ मिल कर रहस्यवाद का रूप धारण कर लेता है। उस परमात्मा की सत्ता उनकी प्रकृति के मनोरम दृश्यों में मिलती है; कहीं तो वह कौतूहल जाग्रत कर एक खोज का विषय मात्र रह जाता है और कहीं उसमें उनके प्रियतम पहचाने से

किन्तु कुछ लुके-छिपे से दिखाई पड़ते हैं। हम दोनों के यहाँ पर एक-एक उदाहरण देंगे।

तृण बीरुध लहलहे हो रहे किसके रस में सिंचे हुए
सिर नीचा कर किसकी सत्ता करते हैं स्वीकार यहाँ
सदा मौन हो प्रवचन करते, जिसका वह अस्तित्व कहाँ ?
हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ? यह मैं कैसे कह सकता ?

उनके प्रियतम की आँखमिचौनी भी देखिए :—

निज अलकों के अन्धकार में तुम कैसे छिप आओगे ?
इतना सजग कौतूहल ! ठहरो, यह न कभी बन पाओगे,
आह चूमलूँ जिन चरणों को, चाप चाप कर उन्हें नहीं—
दुख दो इतना, अरे अरुणिमा ऊषा-सी वह उधर रही।

प्रियतम की झलक मिलने के हर्षोल्लास को भी देखिए :—

इस हमारे और प्रिय के मिलने से
स्वर्ग आ कर मेदिनी से मिल रहा,

❀ ❀ ❀

अन्तरिक्ष विशाल में है मिल रही।
चन्द्रमा पीयूष वर्षा कर रहा
दृष्टि पथ में सृष्टि है आलोकमय
विश्व वैभव से भरा यह धन्य है।

लौकिक प्रेम के लिए भी ऐसा कहा जा सकता है।

मानवता—प्रसादजी मानवता के पूरे उपासक थे। कबीर की भांति ही वे धर्म की संकुचित प्राचीरों से मानव जाति का विभाजन नहीं चाहते हैं। इन झगड़ों के लिए वे अपने प्रियतम को भी उपालम्भ देते हैं, देखिए :—

छिपि कै झगड़ा क्यों फैलायो ?

मन्दिर मसजिद गिरजा सब में खोजत भरमायो।

इसी मानवता के नाते वे युद्ध के भी विरोधी थे, अशोक की चिन्ता में युद्ध-विरोधिनी भावना के पूर्णरूपेण दर्शन होते हैं—'सुख दे प्राणी को तज विजय-पराजय का कुढङ्ग।' वे 'जीओ और जीने दो' के पक्ष में थे। इड़ा भी जन-संहार के सम्बन्ध में क्या सुन्दर उपदेश देती है, देखिए :—

क्यों इतना आतङ्क ठहर जा ओ गर्वीले।
जीने दे सबको फिर तू भी सुख से जी ले॥

इस उपदेश को आजकल के योरोपीय राष्ट्र अपना सकें तो मानव समाज का कितना कल्याण हो।

देश-भक्ति—देश-भक्ति प्रसादजी के हृदय में पर्याप्त मात्रा में थी किन्तु उसकी अभिव्यक्ति बड़ी कलापूर्ण रूप में हुई है। उन्होंने देश-गौरव के बड़े मनोहर गीत लिखे हैं जिनमें देश के मङ्गलमय एवं विश्रामप्रद रूप की अभिव्यञ्जना की गई है। छायावादी शैली के देश सम्बन्धी गीतों में एक विशेष कोमलता रहती है। प्रगतिवादी गीतों में वर्ग-संघर्ष अधिक रहता है। उन्होंने चन्द्रगुप्त नाटक में कर्नीलिया द्वारा बड़े सुन्दर शब्दों में भारत-स्तवन कराया है, देखिए :—

अरुण यह मधुमय देश हमारा,
जहां पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ बिभा पर; नाच रही तरु-शिखा मनोहर,
छिटका जीवन हरियारी पर, मङ्गल कुंकुम सारा।

प्रसादजी ने 'महाराणा का महत्व', 'शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण' आदि अनेकों देश-भक्तिपूर्ण कविताएँ लिखी हैं। शेरसिंह के शस्त्र-सपर्पण में हारे हुए सैनिक के आत्म गौरव और जाति-गौरव का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है, देखिए :—

आज विजयी हो तुम
और हैं पराजित हम
तुम तो कहोगे, इतिहास भी कहेगा यही,
किन्तु यह बिजय प्रशंसा भरी मनकी—
कहेगी शतद्रु शत संगरों की साक्षिणी,
सिक्ख थे सजीव
सत्व रक्षा में प्रबुद्ध थे।

कामायनी का उद्देश्य—कामायनी प्रसादजी का कीर्ति-स्तम्भ है। प्रसादजी प्रचीनकाल के उपासक थे। कमायनी में वे प्राचीनता को उस सीमा तक ले गये हैं जहाँ कल्पना के भी पैर लड़-खड़ाने लगते हैं। इसकी कथा आदिम युग के जल-प्लावन के पश्चत् से आरम्भ होती है। इसके नायक हैं मानव सभ्यता के प्रवर्तक वैवस्वत मनु और इसकी नायिका है श्रद्धा, जो काम की पुत्री होने के कारण कमायनी भी कहलाती थी। 'कामगोत्रजा श्रद्धा-नामर्षिका' मनु और श्रद्धा के योग से ही सृष्टि का विकास हुआ है। मनु और श्रद्धा अपने ऐतिहासिक व्यक्तित्व के अतिरिक्त दो वृत्तियों के, मनन-वृत्ति और श्रद्धा अर्थात् भावना-वृत्ति का प्रतिनिधित्व भी करते हैं। श्रद्धा के ही कारण मनु को शिव अर्थात् कल्याण के दर्शन होते हैं। 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्'। ज्ञान, इच्छा, और क्रिया का का समन्वय ही इस ग्रन्थ का मूल उद्देश्य है।

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।

श्रद्धा के सहारे प्रसादजी ने जीवन की इसी विडम्बना को दूर करने का संकेत दिया है।

स्वप्न स्वाप, जागरण भस्म हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धा युत मनु बस तन्मय थे।

प्रसादजी ने ज्ञान, इच्छा और क्रिया को स्वर्ण, रजत और लौह चक्रों का रूप देकर और उनका पार्थक्य दूर करके त्रिपुर-दाह का रूपक पूरा कर दिया, और साथ ही शैव सिद्धान्त की समरसता का भी प्रतिपादन किया।

समन्वयवाद भारतीय संस्कृति और साहित्य की मुख्य विशेषता है। यही कामायनी का मूल स्वर है। गोस्वामीजी ने भी ज्ञान और भक्ति तथा शैव मत और वैष्णव मत का समन्वय किया है। कामायनी में ज्ञान इच्छा और क्रिया का समन्वय एक दूसरे रूप से भी हुआ है। सारस्वत प्रदेश की रानी इड़ा-बुद्धि और कर्म की प्रतीक है। उसके रूप वर्णन में विचार और कर्म दोनों की ओर संकेत है, देखिए—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल,
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संस्कृति के सब विज्ञान-ज्ञान।
था एक हाथ में कर्म-कलश बसुधा जीवन रस लिये॥
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अवलम्ब दिये।

मनु बुद्धि के साथ बलात्कार द्वारा उसका दुरुपयोग करना चाहते हैं। सारी प्रजा बिगड़ पड़ती है। मनु आहत हो जाते हैं। श्रद्धा उनको अपने साथ लिवा ले जाती है और वह अपने पुत्र मानव को पीछे से इड़ा को सौंपते हुए भावना और ज्ञान के (उसी के साथ कर्म के भी) समन्वय की ओर इशारा करती है।

हे सौम्य! इड़ा का शुचि दुलार,
हर लेगा तेरा व्यथा-भार।

वह तर्क मयी, तू श्रद्धा-मय ।
तू मननशील कर कर्म अभय ॥
इसका तू सब संताप निचय ।
हर ले, हो मानव भाग्य उदय ॥
सब की समरसता कर प्रचार ।
मेरे सुत सुन मा की पुकार ॥

इसी समरसता का प्रचार, जिसके शिव रूप में जीवन का गरल और अमृत तथा ज्ञान, इच्छा और क्रिया का समन्वय हो जाता है कामायनी का मूल उद्देश्य है।

कथा-प्रसङ्ग और रसास्वाद—देवताओं के अबाधित विलास और सुखोपभोग के कारण देव-सृष्टि पर जलप्लावन की आपत्ति आई। मनु अपनी नौका में बच गये थे। धीरे-धीरे जलप्लावन हटा और पृथ्वी बाहर निकल आई। मनु महाराज ने अपना अग्निहोत्र प्रारम्भ किया और वे दूसरे प्राणियों के हितार्थ अग्निहोत्र अवशिष्ट अन्न रख आते थे। श्रद्धा इस अन्न से आकर्षित हो मनु के समक्ष आती है। वह समझ लेती है कि उसकी भाँति और भी लोग जीवित हैं। वह मनु से प्रश्न करती है :—

कौन तुम संसृति जल-निधि तीर ।
तरंगों से फेंकी मणि एक ॥
कर रहे निर्जन का चुप चाप ।
प्रभा की धारा से अभिषेक ॥

इस प्रश्न में श्रद्धा की मुग्धता का भी पता चल जाता है। प्रसाद जी ने श्रद्धा के सौन्दर्य का जो वर्णन किया है वह बड़ा विशद और कल्पना पूर्ण है। श्रद्धा के सौन्दर्य में कृत्रिमता नहीं है। वह अलङ्कारों और साज-सज्जा से विहीन थी। जल-प्लावन के बाद की अवस्था में अलङ्कारों और अङ्गरागादि का वर्णन

अस्वाभाविक भी हो जाता। हिमालय की तराई के वातावरण के अनुकूल ही वह नील रोम वाले मेषों के चर्म से सुसज्जित दिखाई जाती है। नीला रंग प्रेम का रंग है। सूर ने राधा को भी नीले वस्त्रों में दिखाया है। श्रद्धा के सौन्दर्य के उपमान अधिकांश में प्रकृति से लिये गये हैं। उनमें से कुछ परम्परा भुक्त हैं और कुछ प्रसाद जी की कल्पना की सृष्टि हैं। श्रद्धा के सौन्दर्य के उपमानों में हमको प्रसादजी के प्रकृति-प्रेम का परिचय मिलता है, देखिए।

उषा की पहली लेखा कांत।
माधुरी से भीगी भर मोद,
मद भरी जैसे उठे सलज्ज।
भोर की तारक द्युति की गोद,

जिस प्रकार गोस्वामी जी ने जगन्माता सीता के वर्णन में कल्पना से काम लिया है—'जौं छवि-सुधा-पयोनिधि होई, परम-रूप-मय कच्छप सोई' इत्यादि उसी प्रकार प्रसादजी ने श्रद्धा के वर्णन में अपनी उर्वरा कल्पना से काम लिया है।

कुसुम कानन अंचल में मंद।
पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर।
खड़ा हो ले मधु का आधार,

प्रसादजी ने कामायनी को सौरभ का साकार रूप दे दिया है। इसमें उसकी सुकुमारता ही व्यञ्जित नहीं होती है वरन् उसके चित्त को प्रसन्नता देने वाले गुण भी परिलक्षित होते हैं। उसके शरीर के उपादान स्वयं पराग के परमाणु हैं जो मधु-का आधार लेकर एकत्रित हो गये हैं। इसमें उसकी सुकुमारता, सौरभ, माधुर्य और आह्लादकता व्यञ्जित हो जाती है। सौन्दर्य के

लिए दो वस्तुएँ आवश्यक हैं। एक देखने वाले के मन की साध और दूसरे पात्र के मन का आह्लाद। दोनों ही बातें प्रसादजी ने नीचे के छन्द में उपस्थित कर दी हैं।

और पड़ती हो उस पर शुभ्र।
नवल मधु-राका मन की साध,
हँसी का मद विह्वल प्रतिविंब।
मधुरिमा खेला सदृश अबाध,

मन की साध को प्रसादजी ने नवल मधु-राका (बसन्त की पूर्णिमा) कहा है। चाँदनी में जिस प्रकार सौन्दर्य जगमगा उठता है उसी प्रकार द्रष्टा के मन की साध से सौन्दर्य चमक उठता है। स्वयं श्रद्धा के मन का आह्लाद और हँसी की छाया एक प्रकार से उसमें अविरल माधुर्य की क्रीड़ा उत्पन्न कर देती है। यह रीति-काल का सा नख-शिख वर्णन नहीं वरन् पूरे सौन्दर्य का वर्णन है। श्रद्धा और मनु के वार्तालाप में हमको पलायन बाद के प्रति एक स्वस्थ प्रतिक्रिया मिलती है। महाराज मनु जीवन से निराश प्रतीत होते हैं और वे निवृत्ति की ओर जाना चाहते हैं। श्रद्धा उनको जीवन-सागर में प्रवेश करा कर कर्त्तव्य की ओर ले जाती है।

मनु की नराश्यपूर्ण मनोवृत्ति का परिचय हमको नीचे का पंक्तियों में मिलता है:—

कहा मनु ने "नभ धरणी बीच।
बना जीवन रहस्य निरुपाय;
एक उलका सा जलता भ्रांत।
शून्य में फिरता हूँ असहाय।

मनु का जीवन गतिहीन था और वे विस्मृति के पट में अपना दुख छिपाना चाहते थे।

पहेली सा जीवन है व्यस्त ।
उसे सुलझाने का अभिमान,
बताता है विस्मृति का मार्ग ।
चल रहा हूँ बनकर अनजान,

× × × ×

एक विस्मृति का स्तूप अचेत,
ज्योति का धुँधला सा प्रतिबिम्ब;
और जड़ता की जीवन राशि ।
सफलता का संकलित विलम्ब,

मनु अपने को जड़ता की जीवन-राशि और सफलता संकलित विलम्ब अर्थात् सफलता में आने वाली बाधाओं समूह कहते हैं। इसी नैराश्य निरुत्साह और अकर्मण्यता दूर करने के लिए श्रद्धा कहती है।

हृदय में क्या नहीं अधीर,
लालसा जीवन की निःशेष ?
कर रहा वंचित कहीं न त्याग,
तुम्हें, मन में धर सुंदर वेश !

जो त्याग और संन्यास मनुष्य को जीवन से हटा कर मृत्यु की सी शान्ति और नीरवता की ओर ले जाता है वह रता का प्रचारक होता है। अर्जुन को भी ऐसा ही मोह था; उसको भगवान कृष्ण ने गीता के कर्मयोग से दूर किया श्रद्धा मनु की प्रवृत्ति को ओर ले जाना चाहती है। काम का ही रूप है। काम के दो रूप होते हैं—एक शुद्ध रूप जो के आदि में भी वर्त्तमान रहता है और जिसके वश स्वयं भी सृष्टि की कामना करता है 'सोऽकामयत्' 'एकोऽहं बहु स्या

नीचे के पंक्तियों में काम के उसी स्वस्थ रूप की ओर संकेत किया है जो प्रवृत्ति के मूल में है।

दुख के डर से तुम, अज्ञात।
जटिलताओं का कर अनुमान,
काम से झिझक रहे हो आज।
भविष्यत् से बन कर अनजान।
कर रही लीला मय आनन्द,
महाचिति सजग सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम,
इसी से सब होते अनुरक्त।
काम मंगल से मंडित श्रेय,
सर्ग, इच्छा का है परिणाम;
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल।
बनाते हो असफल भवधाम।

श्रद्धा विश्व-चेतना के (महा चिति) जो परमात्मा रूप से विश्व में व्याप्त है आनन्द की ओर संकेत कर रही है। परमात्मा सत्, चित, और आनन्द है। विश्व में भी आनन्द व्याप्त है। आनन्द की थोड़ी सी मात्रा जीवन के सारे कार्यों को संचालित करती रहती है। वही जीवन में आस्था और अनुरक्ति पैदा करती रहती है। जीवन-संग्राम में प्रवेश के लिए जीवन में अनुरक्ति आवश्यक है। काम स्वयं मंगल मंडित श्रेय है, वह प्रेय नहीं है जो त्याज्य हो। मनुष्य में जीवित रहने और कुछ करने की कामना (The will to live) चाहिए, तभी वह कुछ कर सकता है। श्रद्धा मनु में उसी जीवनेच्छा को उत्पन्न करना चाहती है। भारत को भी इसी जीवनेच्छा की आवश्यकता है। श्रद्धा मनु के दुखवाद और निराशावाद को दूर करने के उद्देश्य से कहती है :—

दुःख की पिछली रजनी बीच,
विकसता सुख का नवल प्रभात।
एक परदा यह झीना नील
छिपाये है जिस में सुख गात।
जिसे तुम समझे हो अभिशाप।
जगत की ज्वालाओं का मूल;
ईश का वह रहस्य बरदान।
कभी मत इसको जाओ भूल॥

दुःख की रात्रि में सुख का नवल प्रभात छिपा हुआ है। दुःख परमात्मा का वरदान है। संसार सुख-दुखमय है। इसमें सुधा भी है और गरल भी। भगवान शिव ने दोनों को अपनाया था। उनके मस्तक पर अमृत का स्रोत चन्द्रमा है और कंठ में गरल है। संसार को हमें उसकी पूर्णता में ग्रहण करना चाहिए। पूर्णता को ही 'भूमा' कहा गया है, पूर्णता में ही सुख है, 'भूमा वै सुखम् नाल्पे सुखमस्ति' पूर्णता में ही सुख है, थोड़े में सुख नहीं है। जीवन की आंशिक झाँकी दुखमय हो सकती है किन्तु आगा-पीछा सब मिलाकर देखने में दुख भी सुख मालूम होता है। दुनिया के सुख-दुख को बराबर करके मानना ही सच्ची समरसता है। समरसता शैव दर्शन का शब्द है।

विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पन्दित विश्व महान;
यही दुख सुख विकास का सत्य,
यही भूमा का मधुमय दान।
नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण जलधि समान;
व्यथा से नीली लहरों बीच।
बिखरते सुख मणि गण द्युतिमान

संसार में समरसता व्याप्त है, दुख और सुख का मिलन सब जगह दिखाई देता है। यह उस समुद्र की भाँति है जिस से सृष्टि हुई है। व्यथा की नीली लहरें में भी मणियों का-सा चमकदार श्वेतफेन दिखाई देता है। सर्पों के भी मणियाँ होती हैं। श्रद्धा मनु को आगे की ओर ले जाती है। आगे बढ़ना इस युग की माँग है। प्रकृति में भी नित्य-नूतनता है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। कर्मण्य पुरुष को समय की गति के साथ चलना चाहिए इस का अर्थ अवसर-वादिता नहीं है। जगत में उन्नति का क्रम चलता रहता है। जो उस क्रम को पहचान लेते हैं वे उसमें अपनी गति का बल देते हैं और वे संसार की उन्नति में सहायक होते हैं। इसी लिए श्रद्धा नवीन जीवन-क्रम के लिए मनु को प्रोत्साहित करती है:—

प्रकृति के यौवन का शृङ्गार,
करेंगे कभी न बासी फूल।
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र,
आह उत्सुक है उनकी धूल॥

बासी चीजों के लिए धूल में ही स्थान है। और देखिए:—

पुरातनता का यह निर्मोक,
सहन करती न प्रकृति पल एक।
नित्य नूतनता का आनन्द,
किये हैं परिवर्तन में टेक।

प्रकृति भी प्राचीनता की कैंचुली (निर्मोक) को सहन नहीं करती। पुराने पत्ते झड़ जाते हैं और नये पत्ते आते हैं। जो लोग कहते हैं कि छायावाद में 'ले चल, मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे' की पलायनवादी प्रवृत्ति है उनके लिए श्रद्धा का यह उद्बोधन नेत्रोन्मीलक होगा। श्रद्धा का उपदेश वास्तव में

कान्ता का सा उपदेश था, जैसे कि किरातार्जुनीय में द्रौपदी का था।

श्रद्धा ने मनु को प्रवृत्ति और जीवन में रुचि लेने का उपदेश देकर अपना आत्म-समर्पण कर दिया। उसने एक ही वाक्य में जो नारी की दैन है वह सब कुछ दे दिया।

दया, माया ममता लो आज,
मधुरिमा लो अगाध विश्वास,
हमारा हृदय रत्ननिधि स्वच्छ

काम ने एक दूरागत ध्वनि के रूप में आकर श्रद्धा का पूरा परिचय देते हुए एक प्रकार से कन्या-दान की रीत अदा कर दी। श्रद्धा काम और रति के योग से उत्पन्न हुई है। उसमें कामना के साथ तृप्ति है। काम के पश्चात् वासना आती है। वासना काम का ही व्यक्त रूप है। वासना के सन्तुलन के लिए प्रसादजी लज्जा को भी ले आये हैं—

मैं उसी चपल की धात्री हूँ,
गौरव महिमा हूँ सिखलाती।
ठोकर जो लगने वाली है,
उसको धीरे से समझाती।

मनु काम को उसके शुद्ध रूप में न ग्रहण कर सकें। उनमें वासना का रूप प्रधान हो गया। वासना इतनी बढ़ी कि वे श्रद्धा के पालित पशु से भी ईर्ष्या करने लगे! वे श्रद्धा पर निर्द्वन्द्व अवाधित अधिकार चाहते थे। मनु और श्रद्धा का सम्बन्ध होजाने पर मनुमें प्राचीन संस्कार जागृत हो जाते हैं। वे काम्य कर्म की ओर प्रवृत्त होते हैं। इसमें असुरों के पुरोहित किलात और आकुलि सहायक होते हैं। पशु वलि दी जाती है। श्रद्धा इससे असन्तोष प्रकट करती है। पशु वलि में असुरों के पुरोहित

को लाकर प्रसादजी ने बलिदान को असुरीवृत्ति का द्योतक सिद्ध किया है। काम्य कर्म में श्रद्धा नहीं रहती।

मनुकी वासना इतनी बढ़जाती है कि वे अपने पुत्र से भी ईर्ष्या करने लगते हैं—वे केवल अपनी ही चिन्ता चाहते हैं—'केवल मेरी ही चिन्ता का तब चित्त वहन कर रहे भार।' मनु इसका सन्तोषजनक उत्तर न पाकर चले जाते हैं और सारस्वत प्रदेश में इड़ा के यहाँ रहने लगते हैं। वह बुद्धि और कर्म का प्रतीक है। मनु उससे भी वासना तृप्ति चाहते हैं। यह बुद्धि का दुरुपयोग था। इड़ा की प्रजा विद्रोह करती है। मनु आहत हो जाते है। श्रद्धा यह सब हाल स्वप्न में देख लेती है और अपने पुत्र के साथ मनु को तलाशती हुई पहुँच जाती है और मनु को लिवा जाती है। इड़ा भी आखिर भारतीय नारी थी; वह भी पीछे से पहुँच जाती है। श्रद्धा उसे मानव को सौंप देती है। वे लौट जाते हैं। श्रद्धा मनु को कैलाश तक ले जाती है। वहाँ ज्ञान, इच्छा, क्रिया के अलङ्कारिक त्रिपुर के दहन द्वारा शिव के दर्शन कराती है। श्रद्धा सच्ची भारतीय नारी के आदर्श को सामने रखती है। वह पति के नीतिच्युत होने पर भी उसका साथ नहीं छोड़तीऔर उसको कल्याण का मार्ग दिखाती है।

इसमें एक आक्षेप यह हो सकता है कि मनु महाराज जो हमारी सभ्यता के प्रवर्त्तक थे उनमें इतना निरुत्साह और इतनी अकर्मण्यता क्यों दिखाई गई है। इसके उत्तर में हम यही कह सकते हैं कि हम को यह न भूल जाना चाहिए कि कामायनी रूपक भी है। मनु महाराज मन और साधारण मनुष्य के भी प्रतीक हैं। मनुष्य की कमजोरियाँ उनकी भी कमजोरियाँ हैं। नारी मनुष्य को उन कमजोरियों से ऊँचा उठाती है। स्त्री को महत्ता देना इस युग की प्रवृत्ति है। पहले युग ने भी नारी को उपदेश देने का अधिकारी माना था 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे'

(अर्थात् कान्ता का-सा प्रेम-भरा उपदेश देना) काव्य-प्रकाश में काव्य के उद्देश्य में बतलाया है। कामायनी इस युग की गौरव की वस्तु है। इस में उपदेशात्मकता के साथ कलात्मकता भी है। इसकी भाषा संस्कृत गर्भित होते हुए भी बड़ी परमार्जित, चित्रोपम और प्रवाहमय है। इसमें प्रतीतात्मकता और लाक्षणिकता की भी कमी नहीं है। प्राचीन वातावरण के लिए संस्कृत गर्भित भाषा एक प्रकार से विषयानुकूल बन जाती है। प्रसादजी की विशेषता यही है कि उन्होंने प्राचीन वातावरण में नवीन भावों को आश्रय दिया है।

प्रसादजी की कला—प्रसाद कवि के साथ पण्डित भी थे। उनके काव्य में पाण्डित्य की झलक है। गद्य और पद्य पर उनका समान अधिकार था। वे अपनी भाषा में पर्याप्त चित्रमयता ला सके थे, मूर्त और अमूर्त दोनों ही पदार्थ उनकी कलम के जादू से सजीव हो उठते हैं। मानव-सौन्दर्य का, विशेष कर पौरुषमय सौन्दर्य का ऐसा सुन्दर चित्रण मुश्किल से ही मिलेगा—

अवयव की दृढ़ मांस-पेशियाँ
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार
स्फीत शिरायें स्वस्थ रक्त का
होता था जिसमें सञ्चार
चिन्ता-कातर बदन हो रहा,
पौरुष जिसमें ओत-प्रोत
उधर उपेक्षामय यौवन का,
बहता भीतर मधुमय स्रोत

इसी प्रकार चिन्ता जैसी अमूर्त वस्तु का भी वे चित्रण बड़ी सफलता से कर सके थे। यहाँ पर चित्रकार को कवि से हार माननी पड़ती है, इसमें उपयुक्त विशेषणों की छटा दर्शनीय है—

ओ चिन्ता की पहली रेखा
अरे विश्व वन की व्याली
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण
प्रथम कम्प सी मतवाली,
हे अभाव की चपल बालिके
री ललाट की खल लेखा

× × ×

अरी व्याध की सूत्र धारिणी,

एक-एक शब्द के चित्र भी प्रसादजी ने बड़ी सफलता के साथ उपस्थित किये हैं। 'ओ बिजली की दिवा रात्रि! तेरा नर्तन' बिजली का ऐसा शब्द-चित्र कठिनाई से ही मिल सकता है। उसमें दिन और रात का क्षण-क्षण विकल्प रहता है और नृत्य की सी गति। प्रसादजी की उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं में कल्पना की ऊँची से ऊँची उड़ान मिलती है जिनमें चाहे थोड़ी-सी अतिशयता हो किन्तु उनके द्वारा कवि के हृदय का उत्साह और वस्तु की उत्तमता पूर्णतया व्यक्त हो जाती है। प्रसादजी ने चार छोटी-छोटी पंक्तियों में जितना कह दिया है उतना लोग बड़े लम्बे वर्णनों में भी नहीं कह पाते। देखिए :—

चञ्चला स्नान कर आवे
चन्द्रिका पर्व में जैसी
उस पावन तन की शोभा
आलोक मधुर थी ऐसी

प्रसाद ने बिजली की चाँदनी में स्नान करा शरीर की उज्ज्वलता के साथ चापल्य को मिला दिया है। पर्व शब्द से पवित्रता और बाहुल्य की व्यञ्जना होती है। फिर सौन्दर्य की पवित्रता को उन्होंने पावन शब्द से भी द्योतित कर दिया।

अन्त में आलोक मधुर में तेज और माधुर्य दोनों विरल गुणों को मिला दिया है। क्योंकि प्रकाश भयङ्कर भी हो सकता है।

प्रसादजी ने परम्परागत उपमानों का प्रयोग किया है किन्तु उनको सार्थक बना कर उनमें नया जीवन भर दिया है। कानों की उपमा कमल के पत्तों से तो बहुत से लोग देते हैं किन्तु उस उपमान द्वारा उन्होंने प्रेमी की करुण कथा उन कानों पर न ठहरने की बात को काव्यमय कारण भी दे दिया है।

मुख-कमल समीप सजे थे
दो किसलय से पुरइन के
जल बिन्दु सदृश ठहरे कब
उन कानों में दुख किनके

प्रसाद में असंगति, विभावना आदि आलङ्कारिक चमत्कारों की भी कमी नहीं है। असंगति का एक उदाहरण लीजिए :—

पीली मधु मदिरा किसने, थी बन्द हमारी पलकें

प्रसाद ने अपनी अप्रस्तुत योजना में छायावाद की शैली को पूर्ण रूपेण उदाहृत कर दिया है। उनके उपमानों में नये ढंग का भी पूर्ण चमत्कार है। प्रभाव-साम्य के अधार पर मूर्त वस्तुओं को अमूर्त वस्तुओं से उपमा के उदाहरण लीजिए :—

(१) बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल

एक में दूसरे का उलझा रहना तर्कजाल में व्यञ्जित होता है, साथ ही जाल शब्द में फांसने की व्यञ्जना है जो अलकों और तर्क दोनों पर लागू होती है।

(२) प्रसादजी कामायनी में जल-संघात के लिए कहते हैं :—

बढ़ने लगा विलास वासना-सा
वह नीरव जल-संघात

यहां विलास-वासना की उपमा इसलिए और भी सार्थक हो जाती है कि यह जल-प्लावन विलास का ही फल था।

विशेषण-विपर्यय के उदाहरण भी प्रसाद में पर्याप्त मिलते हैं-

(१) हिंसक हुँकारों से नत मस्तक आज हुआ कलिंग।

(२ जग की सजल कालिमा रजनी में मुख चन्द्र दिखला जाओ।

(३) तुम्हारा आंखों का बचपन खेलता जब अल्हड़ खेल।

(४) यह दुर्बल दीनता रहे उलझी चाहे फिर ठुकराओ॥

पहले में हिंसक वास्तव में हुँकारों का विशेषण नहीं है। वरन् सैनिकों का विशेषण है, हुँकारों से लगा दिया है।

इसी प्रकार नम्बर (२) में सजल कालिमा का विशेषण नहीं वरन् रात्रि या जगत् का विशेषण है; कालिमा में लगा दिया गया है (३) अल्हड़ खेल में अल्हड़ खेल का विशेषण नहीं वरन् बचपन का विशेषण है। (४) दुर्बल दीनता का विशेषण नहीं वरन् उन पुरुषों का जो दीन होते हैं। इन सब प्रयोगों में लक्षण की तो छटा है ही।

मानवीकरण—क—हँस लें भय शोक या रण,
हँस ले काला पट ओढ़ मरण।
ख—मनोवृत्तियाँ खग-कुल-सी थी सो रहीं,
अन्तःकरण नवीन मनोहर नीड़ में,
ग—अम्बर पनघट में डुबो रही,
ताराघट ऊषा नागरी॥

भाषा की लाक्षणिकता—लाक्षणिक प्रयोग तो सदा से होते रहे हैं, हमारे मुहावरों में लाक्षणा का बाहुल्य रहता है और वे भाषा के सौन्दर्य को बढ़ाते रहे हैं किन्तु छायावाद में भाषा की लाक्षणिक वक्रता और बढ़ गई है। प्रकृति का मानवीकरण भी

लाक्षणा के आधार पर होता है। लाक्षणिक प्रयोगों में एक विशेष सजीवता और मूर्तिमत्ता आ जाती है, प्रसादजी की भाषा में लाक्षणिक प्रयोगों का बाहुल्य सा रहता है। 'कलरव से उठ कर भेंटो तो', 'छाती लड़ती हो भरी आग' 'छल में विलीन बल' आदि अच्छे लाक्षणिक प्रयोग हैं। कहीं-कहीं लाक्षणिक अर्थ और मुख्यार्थ को मिलाकर प्रसादजी ने बड़ा चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। देखिए :—

वन विषम ध्वान्त,
सिर चढ़ी रही, पाया न हृदय।

सिर चढ़ी रही इड़ा अर्थात् बुद्धि के लिए कहा गया है। बुद्धि का स्थान मस्तिष्क है, इसलिए यहाँ पर अभिधार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों ही सार्थक हो जाते हैं।

१—प्रसादजी की कुछ विशेषताएँ

१—प्रसादजी मूलतः प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं। उनके लौकिक प्रेम में आध्यात्मिक प्रेम की व्यञ्जना हुई है।

२—आपने प्रकृति के सुन्दर चित्रण किये हैं। कामायनी में उसके सौम्य और रुद्र दोनों ही रूप देखने को मिलते हैं वे प्रकृति में अपने प्रियतम की छाया देखते हैं।

३—प्रसादजी की भाषा संस्कृत गर्भित और एक रस है उसमें बड़े सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग आये हैं। भाषा में चित्रोपमता भी पर्याप्त मात्रा में है। आपने अपने उपमानों को साथक बनाने का प्रयत्न किया है।

४—प्रसादजी के वर्णनों में एक विशेष रहस्यमयता रहती है और व्यञ्जना के सहारे उसमें विशेष कवित्व सरसता है। आपने प्रतीकों का भी अधिक प्रयोग किया है।

५—यद्यपि आप आनन्दवादी थे परन्तु आप पर दुखवाद का भी पर्याप्त प्रभाव था। आप वास्तव में समन्वयवादी थे।

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी, 'निराला'

रहस्यवाद के कवियों में प्रसादजी के अतिरिक्त निराला, पंत तथा महादेवी वर्मा का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का जन्म महिषादल (मेदनीपुर-बङ्गाल) में संवत १९५५ में हुआ था। आपकी प्रतिभा भी प्रसाद की भाँति सर्वतोमुखी है। आपने कविता के अतिरिक्त कहानी और उपन्यास भी लिखे। मुक्त छन्द लिखकर आपने कविता-कामिनी को छन्द के बन्धनों से मुक्ति प्रदान की। आपकी जुही की कली मुक्त छन्द के लिए तो प्रसिद्ध है ही किन्तु कली के लौटे हुए प्रियतम मलयानिल के पुलक स्पर्श से उसका खिलना दिखाकर प्रकृति का सुन्दर मानवी-करण भी किया गया है। उस कविता में निरालाजी के सौन्दर्य-दर्शन का भी परिचय मिलता है, देखिए :—

> विजन-वन-वल्लरी पर,
> सोती थी सुहाग भरी—
> स्नेह-स्वप्न-मग्न—अमल-कोमल-तनु तरुणी
> जुही की कली,
> दृग बन्द किए, शिथिल, पत्राङ्क में।
> वासन्ती निशा थी।

जब मलयानिल को प्रिया की याद आती है तब वह उसके पास पहुँचता है, पहुँचने का ओजमय दृश्य देखिए :—

> फिर क्या? पवन।
> उपवन-सर-सरित् गहन-गिरि-कानन

कुञ्ज-लता-पुञ्जों को पार कर।
पहुँचा जहाँ उसने की केलि,
कली-खिली-साथ।

फिर मलयानिल उसके पास पहुँच जाता है। उसको झकझोरता है, वह जाग उठती है और हँसती और खिलती है।

चौंक पड़ी युवती।
हेर प्यारे को सेज पास,
नम्र मुखी हँसी खिली।
खेल रंग प्यारे संग॥

इस प्रकार की कविता में पढ़ने की कला अपेक्षित है। उसमें निरालाजी निपुण हैं। निरालाजी को सन्ध्या-सुन्दरी में छायावाद की विशेषताएँ पूर्णतया परिलक्षित होती है। उसमें धूमिल अन्तरिक्ष में धीरे-धीरे विलीन होने वाली रेखाओं की अपूर्व कोमलता है और विषय के अनुकूल शान्ति और निस्तब्धता आ जाती है:—

दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी,
धीरे धीरे धीरे।
तिमिराञ्चल में चञ्चलता का नहीं आभास,
मधुर मधुर है दोनों उसके अधर—
किन्तु जरा-गम्भीर—नहीं है उसमें हास-विलास।

× × × × ×

नहीं बिजती उसके हाथों में कोई वीणा,
नहीं होता कोई अनुराग-राग-अलाप।

नूपुरों में भी रुनझुन रुनझुन नहीं,
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा "चुप, चुप, चुप"

इसका संगीत भी ऐसा है मानों धीरे-धीरे उतर रहा हो। निरालाजी ने अपनी कला की व्याख्या में लिखा है कि उन्होंने ब्रजभाषा की स, म ब, वाली प्रकृति को अपनाया है। संस्कृत की ष, ण, व की प्रवृत्ति का कालिदास जैसे कुशल कवि ही निर्वाह कर सके हैं। निरालाजी ने जयदेव का उदाहरण देते हुए कहा है कि वे सकार के प्रयोग से अधिक कोमलता ला सके हैं—

धीर-समीरे यमुना-तीरे बसति बने बनमाली।

निरालाजी में केवल सौन्दर्य दृष्टि ही नहीं है उनका हृदय उपेक्षितों के प्रति भी द्रवित हुआ है। उनकी विधवा (अर्थात् उनकी लिखी हुई) और भिखारी शीर्षक कविताएँ इसका उदाहरण है—विधवा के चित्र में पवित्रता, पूर्ण शान्ति और करुणा है, देखिए—

वह इष्ट-देव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर-काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन
दलित भारत की ही विधवा है।

भिक्षुक के चित्र में दैन्य मूर्तिमान हो उठा है, देखिए—

दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को-भूख मिटाने को,
मुँह फटी-पुरानी झोली का फैलाता—

दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।

निरालाजी ने देश-भक्ति के उद्बोधन गीत भी लिखे हैं। 'जागो फिर एक बार' इसका उदाहरण है। उन्होंने बड़ी ओजमयी भाषा में बादल की अन्योक्ति द्वारा अत्याचार और उत्पीड़ित पर क्रोध प्रकट किया है।

बज्र घोष से ऐ प्रचण्ड !
आतङ्क जमाने वाले ।
कम्पित जङ्गम—नीड़-विहङ्गम,
ऐ न व्यथा पाने वाले ॥
भय के मायामय आँगन पर,
गरजो विप्लव के नव जलधर ।

निरालाजी की भाषा शक्ति पूजा में पर्याप्त रूपेण ओजमयी हो गई है। शक्ति-पूजा में शक्तिमती भाषा ही अपेक्षित थी।

राक्षस-विरुद्ध-प्रत्यूह—क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह,
विच्छुरित-वन्हि-राजीव-नयन—हत-लक्ष्य-वाण,
लोहित-लोचन-रावण-मदमोचन-महीयान,
राघव-लाघव—रावण-वारण—गत-युग्म-प्रहर,
उद्धत-लङ्कापति-मर्दित-कपिदल-बल-विस्तर,
अनिमेष-राम-विश्वजिद्दिव्य-शर-भङ्ग-भाव,—
विद्धाङ्ग-बद्ध-कोदण्ड-मुष्टि—खर-रुधिर-स्राव,
रावण-प्रहार-दुर्वार-विकल-वानर-दल-वल,

निरालाजी का तुलसीदास भी शक्ति-पूजा की भाँति खण्ड-काव्य है। उसमें भारतीय संस्कृति तथा राजपूती शौर्य के ह्रास पर बड़ी करुणा प्रकट की गई है, देखिए—

भारत के उर के राजपूत,
उड़ गये आज वे देवदूत,

जो रहे शेष, नृप वेश सूत बन्दीगण

निरालाजी की करुणा सरोज स्मृति में फूट पड़ी है। हिन्दी में शोक-गीतों (Elegy) का अभाव-सा है। वह शोक-गीत का अच्छा उदाहरण है। उसमें हिन्दी के कवि की विवशता और दीनता दिखाई पड़ती है।

धन्ये, मैं पिता निरर्थक था,
कुछ भी तेरे हित न कर सका!
जाना तो अर्थागमोपाय,
पर रहा सदा संकुचित-काय
लखकर अनर्थ आर्थिक पथ पर
हारता रहा मैं स्वार्थ-समर
शुचिते, पहना कर चीनाँशुक
रख सका न तुझे अतः दधिमुख।

निरालाजी के गीत संगीतमय तो हैं ही किन्तु उनमें संगीत के साथ विषय की सम्पन्नता भी है। उन्होंने प्रेम के, प्रकृति के, राष्ट्रीय चेतना और दार्शनिकता-प्रधान सभी प्रकार के गीत लिखे हैं। वे दार्शनिक कवि हैं; उनकी दार्शनिकता उनके गीतों में भी उतर आई है। यद्यपि कहीं-कहीं सेवा-भाव से प्रेरित उनमें द्वैतभाव भी है—'इसमें सन्देह नहीं, आनन्द बन जाना हेय है, श्रेयस्कर आनन्द पाना है' तथापि वे जगत का एक ही आधार मानते हुए भेद में अभेद देखते हैं।

जग का एक देखा तार

कंठ अगणित, देह सप्तक, मधुर स्वर झंकार।
बहु सुमन, बहु रंग, निर्मित एक सुन्दर हार।
एक ही करसे गुंथा, उर एक शोभा भार।

निरालाजी की 'तुम और मैं' शीर्षक कविता में भी यही भेद में अभेद देखने की भावना है।

निरालाजी के काव्य की विशेषताएँ।

(१) निरालाजी की प्रतिभा बहुमुखी है और उन्होंने कविता में कई नये प्रयोग किये हैं। मुक्त छन्द उनकी विशेष देन है।

(२) उनका काव्य व्यङ्ग्यात्मक अधिक है और उसमें कवित्व और दार्शनिकता का अपूर्व समन्वय है

(३) साधारणतया निरालाजी की भाषा ओजमयी और संस्कृतगर्भित है किन्तु उन्होंने उर्दू के शब्दों के प्रयोग में संकोच नहीं किया है। उनकी भाषा विषयानुकूल बदली है।

(४) निराला शब्द-चित्र उपस्थित करने में बड़े कुशल-हस्त है।

(५) निराला की भाषा ओजमयी होती हुई भी संगीतमय है साहित्य और संगीत का उन्होंने बड़ा सुन्दर समन्वय किया है।

सुमित्रानन्द पंत

पंतजी का जन्म संवत १९५८ में अलमोडा के पर्वतीय प्रदेश में हुआ। इसी लिए आपको प्रकृति से विशेष प्रेम है। यद्यपि आपकी प्रतिभा ने कई दिशाएँ ग्रहण कीं तथापि आपकी कविता में सौन्दर्य और सुकुमार कल्पना का प्राधान्य है। आपकी प्रारम्भिक रचनाओं में प्रकृति प्रेम का प्राधान्य रहा है। वे उससे आदान-प्रदान करते हुए प्रतीत होते हैं, देखिए :—

सिखा दो ना हे मधुप कुमारि, मुझे भी अपने मीठे गान,
कुसुम के चुने कटोरो से कुछ-कुछ मधुपान।

वे प्रकृति को भी अपने से प्रभावित देखते हैं :—

विजन वन में तुमने सुकुमारि, कहाँ पाया यह मेरा गान।
मुझे लौटादो विहग कुमारि, सजल मेरा सोने का गान॥

पंत जी प्रकृति को सजीव देखते हैं। तारागण भी उनके लिए ज्योतिर्पिण्ड मात्र नहीं वरन् वे किसी अज्ञात की खोज में लीन दिखाई देते हैं।

विस्फारित नयनों से निश्चल, कुछ खोजते हैं तारक दल,
ज्योतित कर नभ का अन्तस्तल।

यही छायावाद का प्रकृति में मानवी भावों की छाया का दर्शन है। प्रकृति के सहारे पंतजीने निराकार-साकार की भी समस्या काव्यमय रूप से सुलझाने का प्रयत्न किया है। देखिए—

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि! तूने कैसे पहचाना?
कहाँ, कहाँ हे बाल-विहंगिन! पाया तू ने यह गाना?
निराकार नभ मानो सहसा ज्योति-पुञ्ज में हो साकार,
बदल गया द्रुत जगत जाल में धर कर नाम रूप नाना।

इसमें चिड़ियों की सहज वृत्तियों पर- एक रहस्यमय कौतूहल है जो विश्व के चेतनाधार मानने से शान्त हो जाता है और एक अव्यक्त से नाना नाम रूपों की अभिव्यक्ति की काव्यमय व्याख्या भी है।

'वीणा' और 'पल्लव' में हम प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्र देखते हैं और कुछ रोना और गाना सुनते है। कहीं-कहीं प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवाद की भी झलक मिलती है और उन वर्णनों में छायावाद की शैली का भी परिचय मिलता है। मूर्त के अमूर्त उपमानों के उदाहरण उनके वीचि-विलास में अच्छे पाये जाते हैं।

सजल कल्पना-सी साकार,
पुनः पुनः प्रिय पुनः नवीन ।

× × × ×

तुम इच्छाओं-सी असमान,
छोड़ चिह्न उर में गतिवान ।
हो जाती हो अन्तर्ध्यान ॥

इसको पन्तजी के रहस्यवाद के उदाहरण परिवर्तन तथा मौन निमंत्रण आदि कविताओ में मिलते हैं। मौन निमंत्रण से एक उदाहरण लीजिए :—

देख वसुधा का यौवन-भार गूँज उठता है जब मधुमास,
विधुर-उर के से मृदु उद्गार कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास
न जाने सौरभ के मिस कौन संदेशा मुझे भेजता मौन !

पन्तजी भवभूति की भांति करुणा को ही कविता का मूल मानते हैं। उन पर करुणा और दुखवाद का पर्याप्त प्रभाव है। वे लिखते हैं :—

वियोगी होगा पहिला कवि,
आह से उपजा होगा गान,
उमड़ कर आखों से चुप-चाप,
बही होगी कविता अनजान,

विफल-प्रेम की करुणा ग्रन्थि और पल्लव में मिलती है। जायसी की भाँति पन्तजी भी प्रकृति में सहानुभूति वश दुख व्याप्त देखते हैं 'गगन के उर में घाव' 'दिखाते जड़ भी तो अपनाव अनिल भी भरती ठण्डी आह' लेकिन पन्तजी केवल वियोगी ही नहीं है, उनके काव्य में दार्शनिक अन्तर्धारा बहती है और कहीं-कहीं वह स्पष्ट हो जाती है, जैसे परिवर्तन कविता में

अहे निष्ठुर परिवर्तन !
तुम्हारा ही ताण्डव नर्तन
विश्व का करुण विवर्तन
तुम्हारा ही नयनोन्मीलन,
निखिल उत्थान, पतन !
अहे बासुकि सहस्र फन !

गुञ्जन में सुख-दुख का बटवारा करा कर पंतजी ने एक सुन्दर जीवन मीमांसा उपस्थित की है। वे जीवन की पूर्णता सुख-दुख के समन्वय में मानते हैं, देखिए :—

सुख दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन,
फिर घन में ओझल हो शशि—
फिर शशि में ओझल हो घन।
जग-पीड़ित है अति दुख से
जग-पीड़ित है अति सुख से
मानव जग में बँट जावे
दुख सुख से औ सुख-दुख से।

इन पंक्तियों में शशि और घन सुख और दुख के प्रतीक हैं। पन्तजी जीवन को सुख दुख से ऊपर मानते हैं और वे जीवन की लय में मिल कर उसको मधुमय बनाना चाहते हैं।

सुख-दुख से ऊपर, मन का
जीवन ही रे अवलम्बन !

× × ×

मेरे क्षण क्षण के लघु कण
जीवन लय से हों मधुमय

इसीलिए पंतजी बन्धन को ही मुक्ति समझते हैं, और जगजीवन की ज्वाला में गलने का उपदेश देते हैं—

'तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन, गंधहीन तो गंधयुक्त बन'

यह गीता के निष्काम कर्म की ही छाया है। इसीलिए उनको—

'पीले पत्ते टूटी टहनी, छिलके, कङ्कर, पत्थर,
कूड़ा करकट सब कुछ भूपर लगता सुन्दर।'

पंतजी साम्यवाद की ओर झुके अवश्य हैं किन्तु वे आन्तरिक साम्य के अधिक पक्ष में है—'बाह्य नहीं आन्तरिक साम्य, जीवन में मानव को प्रकाम्य।' पंतजी युगवाणी और ग्राम्या में प्रगतिवाद की ओर गये हैं और ग्रामों की करुण दशा पर आँसू बहाये हैं—

झाड फूँस के विवर यही क्या जीवन शिल्पी के घर,
कीड़े से रेंगते कौन ये ? बुद्धि प्राण नारी नर।

उन्होंने साथ ही ग्रामों के लोक-जीवन का सौन्दर्य भी देखा है। पंतजी की हाल की कृतियां में जो स्वर्ण-किरण और स्वर्ण-धूलि के नाम से प्रकाशित हुई हैं एक स्वर्णमयी आशा और सांस्कृतिकता की झलक है—बीमारी से उठने के पश्चात् उनमें नयी आशा का संचार हुआ है और वे उपनिषदों की संस्कृति की ओर झुके हैं, जो उन्हें गीतोपदिष्ट समदृष्टि की ओर ले जाती है, देखिए:—

उसी सर्वगत पर जो केन्द्रित,
रहे मनुज का अन्तर।
हंस रहें जग में मयूर औ,
वायस रहें परस्पर ॥

सब के साथ अपपापबिद्ध,
स्थित प्रज्ञ रहे जग में नर।

पंतजी की कविताओं में सौन्दर्यानुभूति सरस कल्पना, सुकुमार भावना, दार्शनिक-चिन्तन और कलामय अभिव्यक्ति आदि काव्य के सभी उपकरण हैं। प्राञ्जलता, संगीतमयता लाक्षणिकता, चित्रमयता, ध्वन्यात्मकता और सांकेतिकता उनकी भाषा की विशेषताएँ हैं। उन्होंने अपनी वाणी को नवीन और प्राचीन सभी प्रकार के अलङ्करणों से अलंकृत किया है और भाषा की सभी शक्तियों से पूरा-पूरा लाभ उठाया है—

महादेवी वर्मा

जन्म संवत १९६४

दुखित और पीड़ितों की सेवा को जो प्रगतिवाद की आत्मा है अपनाते हुए भी आप छायावाद और रहस्यवाद की प्रमुख कवयित्री हैं। आप पर बुद्ध धर्म की करुणा का विशेष प्रभाव है। इसीलिए आपने दुखवाद को बड़ी सरस अभिव्यक्ति दी है। उसी के साथ आप छायावाद की प्रवृत्ति के अनुकूल प्रकृति के सौन्दय-दर्शन और उसके साथ भावों के आदान-प्रदान में भी पर्याप्त रूप से सजग हैं। उसमें विराट भावना (Sublimity) के साथ सौन्दर्य का बड़ा सुन्दर समन्वय किया है। वे प्रकृति में असीम परमात्मा का ही रूप देखती हैं :—

आलोक तिमिर सित असित चीर ।
सागर-गर्जन रुन-झुन मँजीर ॥

× × ×

रवि-शशि तेरे अवतंस लोल ।
सीमन्त जटित तारक अमोल ॥

चपला विभ्रम, स्मित इन्द्र धनुष।
हिम कर बन झरते स्वेद-निकर॥
अप्सरि ! तेरा नर्त्तन सुन्दर।

बुद्ध धर्म की मर मिटने की साध के साथ उपनिषदों के एकात्मवाद का भी आप पर पर्याप्त प्रभाव है किन्तु वे अपना व्यक्तित्व भी नहीं खोना चाहती हैं—

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागनी भी हूँ।
दूर तुम से हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ।

इस असीम की व्यापकता को स्वीकार करते हुए भी महा-देवीजी में आधुनिकों की भाँति अपनी ससीमता पर उचित गर्व है—

विश्व में वह कौन सीमा हीन है।
हो न जिसका खोज सीमा में मिला॥
क्या तुम्ही सर्वेश एक महान हो ?

इस ससीम के गर्व के अनुकूल ही वे अमरता नहीं चाहती है। अपने को मिटा देने में ही वे निस्वार्थता की चरम सीमा देखती है। विरह को वे साधन और साध्य दोनों ही मानती हैं—विरह ही उनको आराध्यमय बना देता है।

हो गई आराध्य-मय विरह की आराधना से'

श्रीमती महादेवी वर्मा यद्यपि संस्कृत-गर्भित भाषा लिखती हैं तथापि उसमें एक विशेष सरलता और तरलता है। भाव भाषा से स्वयं ही प्रस्फुटित होते प्रतीत होते हैं। आपकी कविता में छायावाद की सुकुमारता पूर्ण रूपेण उतर आई है।

महादेवी वर्मा के अतिरिक्त डाक्टर रामकुमार वर्मा, तथा भगवतीचरण वर्मा, साहित्य में वर्मात्रय के नाम से विख्यात है। भगवतीचरण वर्मा और नरेन्द्र छायावाद के प्रभाव में रहकर प्रगतिवाद की ओर झुक गये किन्तु डाक्टर रामकुमार वर्मा अपनी धारा पर अटल हैं।

'नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ आज अनश्वर गीत ?'

के असमञ्जस में रहते हुए भी वे मिलने की अभिलाषा को सफल रूप से प्रकट कर सकते हैं—

मेरे जीवन में एक बार तुम देखो तो अनुपम स्वरूप,
मैं तुम में प्रतिबिम्बित होऊँ, तुम मुझ में होना अनूप ॥

प्रगतिवाद

जिस प्रकार छायावाद में स्थूल के प्रति सूक्ष्म की प्रतिक्रिया थी उसी प्रकार प्रगतिवाद में सूक्ष्म के प्रति स्थूल कीप्रतिक्रिया दिखाई देती है। वह जीवन की विषमताओं को भूलकर सौन्दर्य के स्वप्न नहीं देखना चाहता है। वैसे तो जहाँ नवीनता है वहीं प्रगति है (छायावाद भी एक प्रगति के रूप में आया था) किन्तु प्रगतिवाद अब एक पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। वह काव्य को वस्तुवाद की कठोर और कर्कश भूमि पर खड़ा कर देना चाहता है। वह शोषित, पीड़ित मानव को ही अपने काव्य का आलम्बन बनाना चाहता है। सामन्तशाही और पूँजीवाद से उसका विरोध है। जो लोग उनसे सम्बन्ध रखने वाली कविता करते हैं अथवा वे प्रगतिवादी सिद्धान्तों का नहीं मानते वे प्रतिक्रियावादी कहलाते हैं।

प्रगतिवाद वर्गहीन समाज के पक्ष में है। वह एक प्रकार के मार्क्सवाद का साहित्यिक रूप कहा जा सकता है। सौन्दर्य और कला से उसका विरोध नहीं है किन्तु वह पहले उन भौतिक

अभावों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित कर दैन्य और दारिद्र्य को दूर करना चाहता है, जिसके कारण उसकी सौन्दर्यानुभूति में कमी पड़ती है। उनका सिद्धान्त है 'भूखे भजन न होय गुपाला'। वह कला को जनसाधारण के उपभोग का विषय बनाना चाहता है। अभी प्रगतिवाद में वकालत और प्रचार की अपेक्षा कला की कमी है। जिस प्रकार प्राचीन काल का कवि यह भूल जाता था कि निम्न श्रेणी के एवं दलितों में मानवता के दर्शन हो सकते हैं उसी प्रकार प्रगतिवादी यह नहीं मानता कि उच्च वर्ग के लोगों में भी हृदय की उच्च भावनाएँ मिल सकती हैं। उनकी शिक्षा के कारण उनकी अनुभूति भी तीव्र होना सम्भव है। इसके अतिरिक्त दुख में पड़ा हुआ अभिजात वर्ग का मनुष्य केवल मानवता के नाते भी हमारी सहानुभूति का विषय हो सकता है। इससे यह भी मानना पड़ेगा कि संसार में राम-राज्य स्थापन करने के लिए क्रान्ति ही एक मात्र साधन नहीं।

प्रगतिवाद ने अधिकांश में रूस से प्रेरणा ग्रहण की है और वह वहाँ के मार्क्सवादी साहित्य से प्रभावित है। वह वहाँ के ही समाज को आदर्श समझता है। उसका स्तवन प्रगतिवाद का एक सैद्धान्तिक पक्ष सा हो गया है।

जहाँ लहलहाती खेती पर कारिन्दे मँडराते ना
सजी रास की ढेरी पर लालाजी घात लगाते ना
व्याज चुकाते ही न जवानी गई कसील जवानों की
लाल रूस का दुश्मन साथी दुश्मन सब इन्सानों का

सम्भव है रूस में वहाँ के लोगों के प्रति सामाजिक शोषण न हो किन्तु रूस में भी दोष हो सकते हैं। उसमें साम्राज्य लिप्सा आ सकती है।

वैदेही-बनवास—एक संक्षिप्त समीक्षा

राम और कृष्ण काव्य—यद्यपि यह युग बुद्धिवाद-प्रधान है तथापि आज भी राम और कृष्ण-भक्ति की पावन धाराएँ हिन्दी-साहित्य को आप्लावित कर रही हैं। जिस प्रकार भक्ति-काल में कृष्णोपासक सूर ने रामचरित के पद गाये और राम के अनन्य भक्त तुलसीदास जी ने रामगीतावली के साथ कृष्ण गीतावली भी लिखी उसी प्रकार इस युग में साकेत के लेखक ने द्वापर लिखा और प्रिय-प्रवास के लेखक ने वैदेही-बनवास लिख कर अपनी कीर्ति को विस्तारित किया। जो लोग यह कहते हैं कि प्रिय-प्रवास के पश्चात् उपाध्याय जी कोई दूसरा उत्तम ग्रन्थ न दे सके उनको वैदेही बनवास अवश्य पढ़ना चाहिए। प्रिय-प्रवास की विशेष ख्याति के दो कारण हैं—एक तो यह कि जिस समय प्रिय-प्रवास लिखा गया था उस समय खड़ी बोली में महाकाव्य का प्रतिनिधित्व करने वाला कोई ग्रन्थ न था और दूसरा यह कि संस्कृत छन्दों में लिखे होने के कारण उसमें शैली की एक नवीनता थी। उस ग्रन्थ में कृष्ण-चरित को एक बौद्धिक और नैतिक रूप दिया गया था जो उस समय की राष्ट्रीय-भावना के अधिक अनुकूल था। वैदेही-बनवास में भी बुद्धिवाद का प्रभाव पर्याप्त है। रावण को एक शिर का ही माना गया है। 'एक वदन होते भी जो दश बदन था'।

वैदेही बनवास की परम्परा—वैदेही बनवास कवियों का प्रिय विषय रहा है। वाल्मीकीय रामायण में वैदेही-बनवास का

उल्लेख है ही। रामायण की कथा लव-कुश द्वारा गायी गयी थी। सीता-बनवास की कथा कालिदास के रघुवंश और उत्तर राम-चरित में बड़ी विशदता के साथ वर्णित है। भव-भूति ने तो इस प्रसङ्ग में पत्थर को भी रुला दिया और बज्र के हृदय को भी पिघला दिया था। रामचरित मानस में तो गोस्वामी जी ने यह प्रसङ्ग बचा दिया, क्योंकि वे अपने बृहद्ग्रन्थ में जगज्जनिनी सीता के अपवाद की बात का उल्लेख 'शान्तं पापम्' कहकर भी नहीं करना चाहते थे और न वे राम-रावण युद्ध के हनूमान और जामवन्त जैसे योद्धाओं को परास्त होते हुए देखना चाहते थे किन्तु गीतावली में इसका चलता हुआ उल्लेख उन्होंने भी किया है। उन्होंने सीताजी के निर्वासन का एक कारण यह भी दिया है कि लङ्का विजय के पश्चात् रामचन्द्र जी दशरथजी की शेष आयु का उपभोग कर रहे थे। उस अवस्था में सीताजी के साथ रहना अनुचित था।

रघुवंश का प्रभाव—वैदेही बनवास की कथा का कुछ अंश रघुवंश से प्रभावित है। लवणासुर के वध को जाते समय शत्रुघ्नजी के महर्षि बाल्मीकि के आश्रम में रात बिताने और वहाँ लव और कुश के जन्म की बात सुन लेने का उल्लेख रघुवंश में है। (उत्तर राम-चरित में नहीं है।)

सन्तानश्रवणाद्भ्रातुः सौमित्रिः सौमनस्यवान्।
प्राञ्जलिर्मुनिमामन्त्र्य प्रातर्युक्तरथो ययौ ॥
(रघुवंश १५—१४)

रघुवंश में लौटते समय शत्रुघ्नजी आश्रम में इसलिए नहीं ठहरे हैं कि बाल्मीकिजी तपस्या के बल से उनका आतिथ्य करेंगे और उसमें उनका तपक्षीण होगा किन्तु वैदेही-बनवास में लौटती समय भी वे ठहरे हैं और लव-कुश से रामचरित सुना है।

वैदेही बनवास में यह कहा गया है कि शत्रुघ्नजी को केवल अत्याचारी लवणासुर के मारने का आदेश था। युद्ध में कम से कम हिंसा हो ऐसा उनसे कहा गया था। यह गाँधीवाद का प्रभाव है।

केवल उसका ही वध हो,
कुछ ऐसा कौशल करना।
लोहा दानव से लेना,
भू को न लहू से भरना॥

इसका आधार रघुवंश में इतना ही है कि शत्रुघ्नजी की सेना व्यर्थ सी ही रही अर्थात् उसके जीतने के लिए उनका ही पराक्रम पर्याप्त था। शत्रुघ्नजी ने अकेले ही लवणासुर को मारा था। गन्धर्वों की बात जो वैदेही बनवास में आई है उसका भी आधार रघुवंश में प्रतीत होता है। भरत जी ने गन्धर्वों को जीता था। भरतजी ने उनके हाथ में केवल वीणा रहने दी और धनुष छुड़ा दिया था। निशस्त्रीकरण की नीति का अनुकरण किया गया।

भरतस्तत्र गन्धर्वान्युधि निर्जित्य केवलम्।
आतोद्यं ग्राहयामास समत्याजयदायुधम्॥

किन्तु यह कार्य लवणासुर के मारने के पश्चात् हुआ था।

उत्तर राम-चरित से तुलना—

उत्तर रामचरित और वैदेही वनवास के कथानक में सब से पहला अन्तर यह है कि उत्तर रामचरित में वशिष्ठजी तथा माताओं के श्रृङ्गीऋषि के द्वादश वर्ष में समाप्त होने वाले यज्ञ में चले जाने के कारण राम सीता अयोध्या में अकेले रह जाते हैं—

श्री वशिष्ठ सों पूर्व सुरच्छित सब महारानी।
कौसिल्यादिक मातु-प्रेम-पूरित मुदसानी॥

गुर-तिय के सँग गई सुतापति सदन सुहावन।
निरखन हेतु पुनीत जज्ञ-उच्छव मनभावन ॥

सीताजी के निर्वासन का उत्तरदायित्व केवल रामचन्द्रजी पर ही रहता है। गुरुजन इस दोष से मुक्त रहते हैं। उत्तर रामचरित के अनुसार इस कार्य में गुरुजनों की केवल इतनी प्रेरणा रहती है कि माताएँ तो यह कहला देती हैं कि सीताजी की दोहद इच्छाएँ (गर्भ की अभिलाषाएँ) पूर्ण होती रहें और वशिष्ठजी ने यह कहला दिया था कि श्री रामचन्द्रजी नित्य प्रजानुरञ्जन कार्य में लगे रहें। सीता निर्वासन द्वारा वे दोनों आदेश पूरे होगये थे। सीताजी बन देखने जाना चाहती थी और द्वितीय बन-वास द्वारा प्रजा में जो अपवाद फैला हुआ था उसका भी शमन हो गया।

वैदेही-वनवास के अनुकूल राज माताएँ तथा वशिष्ठजी अयोध्या में ही रहे हैं। वैदेही-वनवास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सीताजी को सब कुछ बतला दिया गया है। उनको धोखा नहीं दिया गया है। इसमें रामचन्द्रजी भी धोखा देने के कलङ्क से बचजाते हैं और वर्तमान युग की भावनाओं के अनुकूल नारी के मान और गौरव की रक्षा होती है; उसको विश्वास योग्य समझा जाता है। सीताजी अपने पतिदेव के धर्म पालन और प्रजारञ्जन में सच्ची सहधर्मिणी स्त्री बन जाती है। स्वयं-वशिष्ठजी ही श्रीरामचन्द्रजी को आदेश देते हैं कि सब बातें सीताजी को अवगत करा दी जायँ, देखिए:—

किन्तु आप से यह विशेष अनुरोध है।
सब बातें कान्ता को बतला दीजिये ॥
स्वयं कहेंगी वह पति प्राण आप से।
लोकाराधन में विलम्ब न कीजिये ॥

वैदेही बनवास की वैदेही रानी को यशोधरा की सी शिकायत नहीं हो सकती थी कि 'सखि वे मुझ से कह कर जाते'। यहाँ वशिष्ठ और राम ने सीता को विश्वास योग समझा। वैदेही बनवास की दूसरी विशेषता यह है कि सीताजी को निर्दयता पूर्वक अकेली जंगल में नहीं छोड़ा वरन् उनकी कुल-मर्यादा के अनुकूल बाल्मीकि के आश्रम में रक्खा गया है और एक प्रथा का भी उल्लेख किया गया है जिसके वश राजा लोग अपनी गर्भिणी रानियों को प्रसव-कार्य के लिए कुलपति आश्रम में भेज दिया करते थे।

आर्य-जाति की है चिरकालिक यह प्रथा।
गर्भवता प्रिय-पत्नी को प्रायः नृपति ॥
कुलपति पावन-आश्रम में हैं भेजते।
हो जिस से सब मंगल, शिशु हो शुद्ध मति ॥

उत्तर राम चरित के अनुसार लक्ष्मण जी के चले जाने पर सीताजी प्रसव पीड़ा से व्याकुल गंगा जी में कूद पड़ी थीं। पीछे से माता का स्तन्य छूटने पर बालक बाल्मीकि जी के सुपुर्द किये गये। इस में करुणा की मात्रा बढ़ जाती है किन्तु परिवार की क्रूरता अधिक प्रकट होती है। इस सम्बन्ध में बैदेही बनवास में उत्तर रामचरित की सी चित्रपटों का भी उल्लेख हुआ है किन्तु न तो चित्रों का विशेष विवरण दिया गया है और न उनके द्वारा श्री रामचन्द्रजी के शील का उद्घाटन ही हुआ है। वैदेही-बनवास में एक नवीनता यह है कि सीता के अपवाद के कुछ राजनीतिक कारणों की उद्भावना की गई है, कि वह अपवाद गन्धर्वों का फैलाया हुआ है। उत्तर रामचरित तथा वैदेही बनवास दोनों ही में श्री रामचन्द्रजी शम्बूक-बध के लिए जनस्थान जाते हैं। भवभूति ने कौशल-पूर्वक सीता को अदृश्य रख कर उनको श्री

रामचन्द्रजी की विषम वेदना का परिचय करा दिया है। उत्तर रामचरित में रामचन्द्रजी की विरह-वेदना ही उनके सीता-निर्वासन-जन्य अपराध को क्षम्य बना देती है।

वैदेही-बनवास का अन्त दुखमय है। राम-सीता का मिलन होकर भी सीताजी का स्वर्गारोहण हो जाता है और उत्तर रामचरित में नाटकीय नियमों के अनुसार दुखमय दृश्य बचाया गया है। रघुवंश में सीताजी पृथ्वी में समा जाती हैं, कुल मिला कर यह कहना पड़ेगा कि वैदेही-बनवास की कथा उत्तर रामचरित की अपेक्षा रघुवंश के अधिक अनुकूल है।

रस और भाव—इस काव्य में करुण रस का ही प्राधान्य है। इसका अन्त तो करुणा-जनक है ही किन्तु बीच-बीच में भी करुणा का पर्याप्त पुट है। भवभूति के उत्तर रामचरित में जो करुण रस की प्रधानता मानी जाती है वह उसके व्यापक अर्थ में ही है। शास्त्रीय दृष्टि से उसमें करुण विप्रलम्भ है। वैदेही बनवास में परिणाम दुखमय है, और उसके बाद सीता के मिलन की आशा भी नहीं रहती, इसलिए उसमें करुण रस को ही प्रधान मानना अधिक युक्तिसंगत है। प्रारम्भ में तो करुण रस व्यापक अर्थ में ही है। अन्त में वह शास्त्रीय अर्थ में भी अपने नाम को सार्थक करता है। हमको यह मानना पड़ेगा कि बुद्धिवाद के प्रभाव के कारण वैदेही-बनवास के राम और सीता में उतनी विरह-वेदना नहीं है जितनी कि उत्तर रामचरित के राम और सीता में। उत्तर रामचरित के राम की विरह-वेदना पराकाष्टा को पहुँच जाती है। वैदेही-बनवास में विरह बड़ा संयत रहा है। रतिभावना आती भी है तो बहुत मर्यादित रूप में। एक तो प्रारम्भ में उसका क्षीण अभास मिलता है और बाल्मीकि आश्रम में सीताजी जब बादलों को

दिखाकर अपने पुत्रों से कहती हैं कि तुम्हारे पिता की भी तन-द्युति ऐसी ही थी तो उनके अन्तस्तल में दबी हुई रति-भावना उल्लसित होती हुई दिखाई देती है। वहाँ पर एक साथ पुत्र-प्रेम और प्रकृति-प्रेम तथा दाम्पत्य-प्रेम की त्रिवेणी प्रवाहित होने लगती है, देखिए:—

दिखा दिखाकर श्याम-घटा की प्रिय-छटा,
देखो सुअनों से कहती यह महि-सुता।
ऐसे ही श्यामवदात कमनीय-तन,
प्यारे पुत्रो तुम लोगों के हैं पिता॥

दसवें और ग्यारहवें सर्ग में भी प्रकृति-चित्रण के सहारे सीताजी श्री रामचन्द्रजी की कमनीय कान्ति का स्मरण करती हैं। उनकी यह रति-भावना करुणा को ही पुष्ट करती है।

वैदेही बनवास में शृङ्गार के अन्तर्गत चिन्ता सञ्चारी की भी अच्छी छटा दिखाई देती है। सीताजी जब बन को जाती हैं तब माता कौशल्या से विदा लेते समय कहती हैं—

माता की ममता है मानी।
किस मुँह से क्या सकती हूँ कह॥
पर मेरा मन नहीं मानता।
मेरी विनय इसलिए यह॥
मैं प्रतिदिन अपने हाथों से।
सारे व्यञ्जन रही बनाती॥
पास बैठ कर पंखा झल-झल।
प्यार सहित थी उन्हें खिलाती॥
जरा-जजरित स्वयं आप हैं।
है क्षन्तव्य धृष्टता मेरी॥
इतना कह कर जननि आपकी।
केवल दृष्टि इधर हैं फेरी॥

शृङ्गार की यह कोमल चिन्ता वात्सल्य की चिन्ता से मिल जाती है और बरबस हमको सूर की "संदेसो देवकी सों कहियो, हौं तो धाय तिहारे सुत की मया करत ही रहियो' की बात याद आजाती है। यह चिन्ता भी करुणा पर सान चढ़ा देती है। अयोध्या से विशेषकर बहनों से बिदा लेने का दृश्य बड़ा करुणाजनक है। सीताजी में अयोध्या और भगिनियों के प्रति स्नेह है और उनके हृदय में भावी विरह की वेदना भी है, किन्तु वह वेदना कर्तव्य-परायणता की शालीनता से अनुरंजित है :—

आँसू आयेंगे आवें।
पर सींच सुकृत-तरु-जावें ॥
तो उनमें पर-हित द्युति हो।
जो बूँद बने दिखलावें ॥

× × ×

मत रोना भूल न जाना।
कुल-मंगल सदा मनाना ॥
कर पूत-साधना अनुदिन।
वसुधा पर सुधा बहाना ॥

इस पुस्तक में वात्सल्य का भी यथास्थान समावेश हुआ है। लव और कुश की शिक्षा-दीक्षा उनका बढ़ना, तितलियों के पीछे दौड़ना आदि सब क्रियाएँ वात्सल्य की ही उद्दीपन हैं। किन्तु यह वात्सल्य भी व्यापक करुणा से आच्छादित है।

विचार-धारा—आजकल के महाकाव्य इतने विवर्णन-प्रधान नहीं होते जितने कि विचार प्रधान। यह युग बुद्धिवाद का है, जिस प्रकार पहले नाटक विचारों के प्रसार का माध्यम था वैसे ही आज-कल उपन्यास और महाकाव्य भी विचार के प्रचार के साधन बन गये हैं। इस पुस्तक की पृष्ठभूमि में द्विवेदी युग की

उपदेशात्मकता है जो दाम्पत्य-दिव्यता वाले सर्ग में मुखरित हो उठी है। सच्चरित्रता के साथ इसमें आध्यात्मिकता की पुकार है। इसमें भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता को अधिक महत्व-प्रदान किया गया है। इस काव्य में ओर से छोर तक गाँधीवाद से प्रभावित अहिंसा और शान्ति की भावना ओत-प्रोत है। ब्रिटिश साम्राज्य की दमन-नीति के प्रति इसमें खुली प्रतिक्रिया है और हिंसात्मक युद्ध का विरोध किया गया है। माता सीता लङ्का-दहन के दृश्य से उद्वेजित हैं और उनकी चिन्ता कुछ-कुछ अशोक की सी चिन्ता का रूप धारण कर लेती है।

> क्रन्दन, कोलाहल, बहु, आहों की भरमारें।
> आहत जन की लोक प्रकंपित पुकारें॥
> कहाँ भूल पाईं वे तो हैं भूल न पातीं।
> स्मृति उनकी है आज भी मुझे बहुत सताती॥

सीताजी के अनुरूप ही श्री रामचन्द्रजी भी शान्ति के उपासक हैं। उनको दमन-नीति प्रिय नहीं लगती :—

> दमन है मुझे कदापि न इष्ट।
> क्योंकि वह है भय-मूलक-नीति॥
> चाह है लाभ करूँ, कर त्याग।
> प्रजा की सच्ची प्रीति-प्रतीत॥

इस पुस्तक में स्वतन्त्रता की उच्छृङ्खलता नहीं है वरन् सच्ची स्वतन्त्रता का संयम है।

प्रकृति-चित्रण—वैदेही-बनवास का प्रकृति-चित्रण प्रिय-प्रवास के चित्रण से कुछ भिन्न है। इसमें नाम परिगणन की प्रवृत्ति कम है और यत्र-तत्र संश्लिष्ट वर्णनात्मक बिम्ब ग्रहण भी है, देखिए :—

पहले छोटे-छोटे घन के
खण्ड घूमते दिखलाये ।
फिर छायामय कर क्षिति-तल को
सारे नभ तल में छाये ॥
तारापति छिप गया आवरित हुई
तारकाबलि सारी ।
सिता बनी असिता, छिनती दिखलाई
उसकी छवि न्यारी ॥

मृगों की स्वाभाविक भङ्गिमा का वर्णन लीजिए :—

जहाँ तहाँ मृग खड़े स्वभोले नयन से ।
समय मनोहर दृश्य रहे अवलोकते ॥
अलस-भाव से विलस तोड़ते अंग थे ।
भरते रहे छलाँग जब कभी चौंकते ॥

कहीं कहीं आधुनिक प्रवृत्ति के अनुकूल मानवी-करण की ओर भी झुकाउ है किन्तु अधिकांश स्थलों में मानवी भावों के आरोप की अपेक्षा बाह्य अलङ्करणों का महत्व अधिक है। उपाध्यायजी की प्रकृति भावशून्य तो नहीं है किन्तु अलङ्कार प्रिय अधिक है ।

प्रकृति-सुन्दरी विहँसि रही थी,
चन्द्रानन था दमक रहा ।
परम-दिव्य बन-कान्त-अंक में,
तारक-चय था चमक रहा ॥
पहन श्वेत साटिका सिता की वह,
लसिता दिखलाती थी ।
ले ले सुधा सुधाकर-कर से,
वसुधा पर बरसाती थी ॥

इस वर्णन में भी कर, कर सुधा, सुधा के यमक की छटा है। प्रकृति के और अलङ्करण देखिए:—

'मुक्त-मालिका विटप तृणावलि तक ने पाई'
'बिन्दुनिचय ने रवि के कर से मोती पाया'
प्रकृति का नीलाम्बर उतर श्वेत साड़ी उसने पाई
'कल फुलझड़ी क्रिया उल्कायें दिव को दिव्य
बनाती थी।
'पहन् तारकावलि की मंजुल मुक्ता-माला' ॥

उपाध्यायजी प्रकृति की छटाओं पर मुग्ध होते हैं। वह उनके मनमें प्रफुल्लता उत्पन्न करती है और ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति उनके लिए आलम्बन बनी हुई है। थोड़ी देर को मन उन वर्णनों में रम जाता है किन्तु आगे चलकर वे वर्णन भूमिका मात्र रह जाते हैं। या तो वे मानवी व्यापारों के पृष्ठि-भूमि का रूप धारण कर लेते हैं या वे विचारधारा के लिए एक अर्गला बन जाते हैं। चतुर्दश सर्ग में वसन्त वर्णन बड़े उत्साह के साथ किया गया है। वह एक प्रसाद-पूर्ण वातावरण उपस्थित कर देता है किन्तु वह वातावरण एक भूमिका मात्र ही रहता है। देखिए—

सौरभ में थी ऐसी व्यापक-भूरिता ।
तन वाले निज तन-सुधि जाते भूल थे ॥
मोहकता डाली-हरियाली थी लिये ।
फूले नहीं समाते फूले फूल थे ॥
शान्ति-निकेतन के सुन्दर उद्यान में ।
जनक-नन्दिनी सुतों सहित थी घूमती ॥
उन्हें दिखाती थी कुसमावलि की छटा ।
बार-बार उनके मुख को थी चूमती ॥

ऐसे ही पंचदश सर्ग में प्रकृति पृष्ठ भूमि के रूप में आई है। पंचम सर्ग के आरम्भ में प्रकृति के परिवर्तन भावी परिवर्तन और दुख के द्योतक बन जाते हैं, देखिए:—

दिवि-दिव्यता अदिव्य बनी, अब नहीं दिग्वधू हँसती थी।
निशा-सुन्दरी की सुन्दरता अब न दृगों में बसती थी॥
कभी-घन-पटल के घेरे में झलक कलाधर जाता था।
कभी चन्द्रिका बदन दिखाती कभी तिमिर घिर आता था।
यह परिवर्तन देख अचानक, जनक-नन्दिनी अकुलाई।
चल गयन्द-गति से अपने कमनीयतम अयन में आई॥

प्रथम सर्ग में प्रकृति की सुन्दरता एक विचार-धारा का उत्स बन जाती है। राम और सीता का ध्यान संसार में फैली हुई बुराई की ओर आकर्षित हो जाता है।

जनक सुता ने कहा प्रकृति-महिमा है महती।
पर वह कैसे लोक यातनाएँ है सहती॥
क्या है हृदय विहीन ? तो अखिल-हृदय बना क्यों ?
यदि है सहृदय तो आँखों से आँसू न छना क्यों ?

प्रकृति के क्रूर रूपों से भी परिचय करा कर 'आँधी का उत्पात पतन उपलों का बहुधा। दिल हिल कर जो महानाश करती है, बसुधा' उपाध्यायजी इसी निर्णय पर हमको ले जाते हैं कि प्रकृति की 'सामञ्जस्यरता प्रवृति सद्भाव भरी है।' आगे चलकर वे इसका स्पष्टीकरण देते हैं। ग्रीष्म की ताप ही तो वर्षा की शीतलता लाती है।

यदि उसकी विकराल मूर्ति है कभी दिखाती।
तो होती है निहति सदा उसमें हित थाती॥
तप ऋतु आकर जो होता है ताप बिधाता।
तो लाकर घन बनता है जग-जीवन-दाता॥

यद्यपि उपाध्यायजी ने अधिकांश प्रकृति के वाह्य रूप को ही अपनाया है तथापि कहीं-कहीं उन्होंने उसमें परमात्मा के दर्शन किये हैं। प्रकृति में दिव्य सौन्दर्य की झलक ही उसके साथ रागात्मक सम्बन्ध का कारण बनजाती है, देखिए—

रङ्ग विरङ्गी अनुपम कोमलता मयी।
कुसुमावलि थी लसी पूत-सौरभ बसी॥
किसी लोक-सुन्दर की सुन्दरता दिखा।
जी की कली खिलाती थी उसकी हँसी॥

दशम और एकादश सर्ग में क्रमशः शरद और वर्षा ऋतु का वर्णन आया है। यद्यपि यह क्रम-वैपरीत्य सा लगता है 'वर्षा विगत शरद ऋतु आई' तथापि जब हम यह विचार करते हैं कि दोनों सर्गों की कथा के बीच में काफी अन्तर है तब यह विपरीतता नहीं खटकती है। उपाध्यायजी ने कोई बारह-मासा नहीं लिखा था। दशवें और ग्यारहवें सर्ग में प्रकृति सीताजी के लिए अपने प्रियतम की रूप-माधुरी के स्मरण करने का अवसर उपस्थित करती है और वे प्रकृति के उपमानों को उनकी तुलना में क्षीण पाती है; एक प्रकार से व्यतिरेक की ध्वनि आ जाती है।

पर क्षण-क्षण पर जो उसमें
नवता है देखी जाती
वह नवल-नीर-नीरद में
है मुझे नहीं मिल पाती

इसी प्रकार बादल की एक और हीनता देखिए—

मैं सारे गुण जलधर के,
जीवन धन में पाती हूँ।
उसकी जैसी ही मृदुता,
अवलोके बलि जाती हूँ।

पर निरपराध को प्रियतम,
ने कभी नहीं कलपाया।
उनके हाथों से किसने,
कब कहाँ व्यर्थ दुख पाया।

उपाध्यायजी ने प्रकृति का प्रायः सभी रूपों में चित्रण किया है। कहीं-कहीं जैसे वर्षा और बसन्त के वर्णनों में उनके हृदय का उल्लास भी परिलक्षित होता है किन्तु अधिकांश में प्रकृति मानव व्यापारों में भूमिका ही बनती है। प्रबन्ध-काव्यों में वह स्वतन्त्र आलम्बन बन भी नहीं सकती ह। संस्कृत के काव्यों में भी प्रायः ऐसा ही होता है। बड़े-बड़े विशद वर्णन भी मानव व्यापारों के प्रवेशक बन जाते हैं। कुमार-सम्भव के प्रारम्भ में हिमालय का चित्रण बड़ा संश्लिष्ट और विशद है किन्तु आगे चल कर उसमें भी गुहाओं में बसे हुए शरणागत अंधकार के प्रति ममत्व का उपदेशात्मकतापूर्ण भाव आ जाता है 'चुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसां सतीव' इसके पश्चात् सारा दृश्य पलट जाता है। नगाधिराज हिमालय मानवी रूप धारण कर लेते हैं। यज्ञयोनि होने के कारण अर्थात् यज्ञ की सामग्री उपस्थित करने के कारण प्रजापति उनको शैलाधिपत्य प्रदान करते हैं और मुनियों में भी माननीय मैना के साथ उनके परिणय की बात चल पड़ती है। 'मैनां मुनीनामपि माननीयामात्मानुरूपां विधिनोपयेमे।' किन्तु इस बात से हिमालय के वर्णन का सौन्दर्य घट नहीं जाता है।

जहाँ पर कवि के निजी निरीक्षण के आधार पर संश्लिष्ट वर्णन होते हैं और उन में कवि के हृदय को उल्लास परिलक्षित होता है, वहाँ पर यदि स्वतन्त्र वर्णन हो तो पूरा आलम्बनत्व आ जाता है और यदि प्रबन्ध के आधीन हो तो भी एक गौण आलम्बनत्व सा रहता है, वैसा ही आलम्बनत्व उपाध्यायजी के

प्रकृति-चित्रण में है। उनका दृष्टिकोण नैतिक सौन्दर्य द्रष्टा का सा है, उनमें छायावादियों की सी प्रणय-भावना नहीं जाग्रत पाई गई है।

भाषा—वैदेही बनवास में उपाध्यायजी ने यद्यपि प्रिय-प्रवास के से संस्कृत छंद नहीं लिखे और हिन्दी के ही छंदों से संतोष किया है तथापि उसकी भाषा संस्कृत गर्भित और पर्याप्त मात्रा में समास-बहुला है। कुछ उदाहरण लीजिए—

'गगन-दिव्यता सिता-विलासिता सित अवनी'
'प्रीति-प्रतीति - निकेत - परस्परता - अयन'
'सकल लोक अभिनन्दन-सुख सौरभ-भरित'

उपाध्यायजी को संस्कृत से प्रेम है। किंतु वे अपने समय के उर्दू-फारसी के प्रभावों के, जो सरकारी नौकरी करने वालों पर अधिकांश में रहते थे, ऊपर नहीं जा सके। 'मसल देना', 'लिबास' जैसे शब्द पुराने पाप की भांति सामने आ जाते हैं। मैं स्वयं उर्दू शब्दों का विरोधी नहीं हूँ किन्तु संस्कृत तत्समता प्रधान शैली में वे बेमेल हो जाते हैं। उर्दू के ही शब्द क्या उपाध्याजी साटिका शब्द के साथ अँग्रेजी का लेस शब्द भी ले आये हैं जो प्राचीनता के वातावरण में रेशम में टाट का पैवन्द सा हो जाता है। उपाध्यायजी खड़ी बोली के साथ उपर्युक्त ब्रज अवधी के शब्दों के ले आने के भी पक्ष में है। कहीं-कहीं उर्दू के मुहावरे भी आगये हैं, जैसे लेखक या तसवीर खींचने वाले के हाथ चूमने की बात।

देखते हुए मुग्धकर-चित्र।
सदन में राम रहे थे घूम॥
चाह थी चित्रकार मिल जाय।
हाथ तो उसके लेते चूम॥

हाथ चूमना विदेशी संस्कृति है और राम के लिए तो सीता के सिवाय किसी का हाथ चूमना मर्यादा के विरुद्ध है। शायद घूस की तुक के आग्रह में चूम लाना पड़ा हो और मुहावरे दानी का मोह संवरण न कर सके हों। कहीं-कहीं उपाध्यायजी हिन्दी के मुहावरों को लाकर जन साधारण के धरातल पर आ गये हैं।

मुझे यदि आज्ञा हो तो मैं,
पचा दूँ कुजनों की बाई।
छुड़ा दूँ छील-छाल करके,
कुरुचि डर की कुत्सित काई॥

जन साधारण की भाषा का उदाहरण हमको पुत्र-जन्मोत्सव में गाये हुए बधाई के गीत में भी मिलता है।

गोद आपकी भरी विलोके फूली नहीं समाई हूँ।
लालों का मुख चूम बलायें लेने को चलि आई हूँ॥

भाषा में अनुप्रासादि शब्दालङ्कार तो हैं ही, रूपक उपमा प्रतीप, व्यतिरेकादि अर्थालङ्कारों का यथास्थान प्रयोग हुआ है किन्तु उनकी भरमार नहीं है। कहीं-कहीं सुन्दर शब्द चित्र भी मिलते हैं। महर्षि बाल्मीकि का चित्र देखिए :—

जटा जूट शिर पर था उन्नत-भाल था।
दिव्य-ज्योति उज्ज्वल आँखों में थी वसी॥
दीर्घ विलम्बित श्वेत श्मश्रु मुख-सौम्यता।
थी मानसिक महत्ता की उद्बोधिनी॥

उपाध्यायजी की संस्कृत-गर्भित भाषा की एक और विशेषता है। वह यह कि इन्होंने सहकारिता, हितकारिता दिव्यता, मत्तता, पुञ्जता, अभिरामता जैसी भाव-वाचक संज्ञाओं की झड़ी लगाई है। पुनरुक्ति भी बहुत है। 'साटिका' शब्द से उन्हें बहुँत प्रेम मालूम पड़ता है।

महाकाव्यत्व—महाकाव्य के आकारगत, जैसे—कम से कम आठ सर्गों का होना और विषयगत जैसे सूर्योदय, उपवन, ऋतुओं आदि का वर्णन, सज्जनों की प्रशंसा आदि इस में सभी लक्षण मिलते हैं। इसका सांस्कृतिक पक्ष भी प्रबल है। विचारों में उदात्तता और शालीनता है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि लम्बे प्रकृति-चित्रणों, विचार-सूत्रों, और भाव-तरङ्गों के कारण कथा में पर्याप्त गति नहीं है और जीवन की अनेकरूपता भी उतनी नहीं है जितनी महाकाव्य में चाहिए। किन्तु संस्कृत के महाकाव्यों में भी काव्य सौष्ठव के विस्तार वश कहीं-कहीं कार्य की गति अवरुद्ध हो जाती है और बहुत से महाकाव्य जैसे शिशु-पाल-वध एक ही घटना को लेकर लिखे गये थे। आजकल के महाकाव्यों में विचार की प्रधानता हो गयी है। और उनमें प्रगति तत्व भी पर्याप्त मात्रा में रहता है। वैदेही बनवास में भी सुन्दर गीत आये हैं। हम को प्राचीन मानदण्डों को थोड़ा लचीला बनाना पड़ेगा। विचारों की उदात्तता और सांस्कृतिकता के कारण इस ग्रन्थ का आजकल के महाकाव्यों में विशेष स्थान है। यद्यपि यह कामायनी के समकक्ष नहीं ठहराया जा सकता तथापि इसको महाकाव्य न कहना इसके साथ अन्याय होगा।



रत्नाकरजी का उद्धव शतक

भ्रमरगीत की परम्परा—इसी प्रसङ्ग को सूर और नन्ददास ने अपना कर साहित्य को एक अमूल्य निधि दी है। निजी सम्बन्ध की दृढ़ता, प्रेम की अनन्यता, योग और निर्गुणवाद की हास्य-व्यङ्ग पूर्ण निरर्थकता सिद्ध करने के लिये यह दोनों ग्रन्थ अद्वितीय हैं। कविवर रत्नाकरजी ने उद्धव-शतक लिखकर आजकल के युग में उस परम्परा को कायम रक्खा है किन्तु उन्होंने भक्तिकाल की आत्मा के लिए रीति-काल के शरीर को आवरण रूप से स्वीकार किया है और कहना न होगा कि स्वर्गीय रत्नाकरजी के स्थूल शरीर की भाँति ही इसका शरीर भी कुछ भारी भरकम होगया है।

उद्धव-शतक में सूर और नन्ददास तथा श्रीमद्भागवत् की छाया के अतिरिक्त कुछ अपना भी है।

उभयपक्षी प्रेम—उद्धव शतक की पहिली विशेषता तो यह है कि सूर और नन्ददास के भ्रमरगीतों की अपेक्षा रत्नाकरजी ने भगवान् कृष्ण को कुछ अधिक विरह-विह्वल दिखाया है। जमुना में बहते हुए एक कमल को देख कर कृष्ण को समान वर्ण वाली राधिकाजी की स्मृति इतनी तीव्र हो जाती है कि बेसुध से हो जाते हैं। चेत आने पर कृष्णजी ने अपनी प्रेमदशा का वर्णन किया है, उस सम्बन्ध में रत्नाकरजी बड़े मार्मिक शब्दों में कहते हैं—

गहबर आयो गरौ भभरि अचानक त्यौं,
प्रेम परयौ चपल चुचाइ पुतरीन सौं।
नैक कही बैनन अनेक कही नैननि सों,
रही-सही सोउ कहि दीनी हिचकीन सौं॥

उद्धव का ब्रज को भेजा जाना—जब भावातिरेक होता है शब्द काम नहीं देते। कृष्ण को उद्धव ज्ञानोपदेश देते हैं—

बारनि[1] कितेक तुम्हें बारन[2] कितेक करैं
वारन[3] उबारन ह्वै बारन बना ना॥

❀ ❀ ❀

आप ही सौं आपुकौ मिलाप औ बिछोह कहा,
मोह यह मिथ्या सुख दुख ठायौ है।

पहले उद्धरण में रीतिकालीन आलङ्कारिक प्रवृत्ति है और दूसरे में भक्तिकाल की सरल पद्धति। उद्धव की इसी ज्ञानमयी अहंमन्यता को दूर करने के लिए उन्हें भगवान् गोकुल भेजते हैं।

आबौ एक बार धारि गोकुल गली की धूरि,
तब इहिं नीति की प्रतीत धरि लैहैं हम।

इसमें उनके लिए एक पन्थ दो काज की बात हो जाती है। उद्धवजी को पहुँचाते समय कृष्ण की दशा का वर्णन भी यही सिद्ध करता है कि कृष्ण और गोपियों का प्रेम एकाङ्गी न था—

सीरे तपे विविध संदेसनि की बातन की,
घातनि की झोंक में लगेई चले जात हैं।

उद्धव के वहाँ पहुँचने से पूर्व ही उन पर प्रेम का प्रभाव पड़ जाता है फिर भी अपने ज्ञान और योग का सन्देश कहते हैं। रत्नाकर के वर्णन में इतना ही अन्तर है कि यद्यपि गोपियों ने उन्हें मधुप करके सम्बोधित किया है तथापि श्रीमद्भागवत् या सूर के भ्रमरगीत की भाँति कोई वास्तविक भौंरा वहाँ नहीं आया है।

१—अनेक वार। २—निवारन, रोकना, मना करना। ३—हाथी के उबारने वाले होकर हाथी मत बनो अर्थात् गोपियों के प्रेम के तिनकों से आच्छादित गड्ढे में मत गिरे पड़ो। बारन बच्चे को भी कहते हैं।

(२) व्यक्तित्व का महत्व—सूर की गोपियों की भाँति रत्नाकर की गोपियों की अधिकांश उक्तियाँ तो निजी अनुभव और प्रेम की दृढ़ता पर आश्रित हैं तथापि कुछ उक्तियाँ नई और अनूठी हैं। उनमें से कुछ में हृदय की सीधी आभा है और कुछ में रीतिकालीन परम्परा के प्रभाव की झलक है। रत्नाकर की गोपियाँ भी व्यक्तित्व की रक्षा चाहती हैं। वे ब्रह्म बन जाने की अपेक्षा व्यक्ति बना रहना अधिक पसन्द करती हैं क्योंकि ब्रह्म रूपी समुद्र में बूँद के समा जाने से समुद्र का तो कुछ बनता बिगड़ता नहीं है किन्तु बेचारी बूँद का अस्तित्व ही नष्ट हो जाता है। द्वैतवाद के लिए यह बड़ी जोरदार उक्ति है। इस बात में उद्धवशतक की गोपियाँ नन्ददास की गोपियों से टक्कर लेती हैं।

मान्यौ हम, कान्ह ब्रह्म एक ही, कह्यो जो तुम,
तौहू हमें भावति ना भावना अन्यारी की।
जैहै बनि-बिगरि न बारिधता बारिधि की,
बूँदता विलैहै बूँद बिवस बिचारी की।

गोपियाँ ब्रह्म हो जाने पर अपना नारीत्व नहीं खोना चाहतीं। उन्हें अपने रानीत्व पर गर्व है।

ब्रह्म हूँ भये नारि ऐसियै जौ बनी रहैं,
तौ तौ सहैं सीस सबै बैन जु तिहारे हैं।
यह अभिमान तो गँवैहैं ना गए हूँ प्रान,
हम इनकी हैं वह प्रीतम हमारे हैं॥

इस निजी सम्बन्ध की दृढ़ता पर लाख-लाख दार्शनिक युक्तियाँ न्यौछावर की जा सकती हैं।

(३) दूर की सूझ और वैज्ञानिक ज्ञान—कुछ उक्तियों में दूर की सूझ और कल्पना का विस्तार है, देखिए—

टूक-टूक ह्वै है मन-मुकुर हमारौ हाय,
चूकि हूँ कठोर बैन-पाहन चलावौ ना।
एक मनमोहन तौ बसिकैं उजार्‌यौ मोहिं,
हिय में अनेक मनमोहन बसावौ ना॥

यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि जिसके जितने टुकड़े होजाते हैं उसमें उतने ही प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं। इस छन्द में उसी की ओर संकेत है।

वियोग और योग—गोपियाँ ब्रह्म को शशशृंग (तुम मन-मानौ ससासृंग गहियो करो) कहती हैं; वे तो प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानती हैं और अपने मन और नेत्रों की गवाही के खिलाफ ब्रह्म को किस प्रकार स्वीकार कर सकती हैं। सूर ने गोपियों की विरह-दशा की योग से समानता दिखाई है, रत्नाकरजी नेवियोग दशा को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाया है :—

वे तो बस बसन रँगावैं मन रंगत ये
भसम रमावैं वे, ये आप ही भसम हैं।

× × × ×

आपुही भई हैं मृगछाला ब्रजबाला सखि
तिनपै अपर मृगछाला कहा सोहैंगी॥

हृदय-पक्ष—इस प्रकार की उक्तियों में तो चमत्कार की झलक है किन्तु नीचे के छन्दों में गोपी-सुलभ हृदय की सरलता और करुण पुकार है।

(क) चेरी हैं न ऊधौ! काहू ब्रह्म के बबा की हम
सूधौ कहें देति एक कान्ह की कमेरी हैं
(ख) सहिहैं तिहारे कहैं साँसति सबै पै बस
एती कहि देहु कै कन्हैया मिल जायगौ

(ग) ब्रह्म मिलिवे तैं कहा मिलिहै बतावौ हमैं
ताको फल जबलौं मिलै ना नन्दलाला हू ॥

सीधी सादी गोपियों को निष्कामता का मोह नहीं है।

(घ) मोर-पँखियाँ कौ मोरे बारौ चारु चाहन कौं
ऊधौ अँखियाँ चहैं न मोर पखियाँ चहैं हैं।

(ङ) उधौ ब्रह्म-ज्ञान कौ बखान करते न नैंकुँ
देख लेते कान्ह जौ हमारी अँखियानि तैं।

बिहारी की छाया—चमत्कार प्रदर्शन वाले छन्दों में उतना हृदय का स्पन्दन नहीं सुनाई पड़ता है जितना कि ऊपर के छन्दों में। एक चमत्कारिक छन्द में बिहारी की छाया कुछ विस्तार के साथ दिखाई पड़ती है।

रत्नाकरजी ने 'रस के प्रयोगनि' की बात छोड़ कर संजीवनी शक्ति भर दी है। रस (सोने की भस्म आदि और दूसरे अर्थ में प्रेम की बात) तो मूल्यवान और दुर्लभ है। उसका तो कहना ही क्या जब सुदर्शन जैसी सुलभ काष्ठादि औषधियाँ भी नहीं मिलती। देखिए:—

रस के प्रयोगनि के सुखद सु जोगनि के
जेते उपचार चारु मँजु सुखदाई हैं।
तिनके चलावन की चरचा चलावै कौन
देत ना सुदर्शन हूँ यौं सुधि सिराई हैं॥

× × ×

ह्याँ तौ विषय-ज्वर-वियोग की चढ़ाई यह
पाती कौन रोग की पठावत दवाई हैं।

ऋतुवर्णन में चमत्कार और ज्योतिष ज्ञान—ऋतुओं के वर्णन में भी हमको सेनापति की श्लेषात्मक पद्धति की झलक

मिलती है। सूरदास ने भी 'निसिदिन बरसत नैन हमारे' कह कर पावस को स्थायी बना दिया था। उसमें एक व्यञ्जना यह थी कि जब शरीर में ही पावस ऋतु लगी हुई है तब उससे भाग कर कहाँ जायँ ? रत्नाकरजी ने सभी ऋतुओं को ब्रज में चिरस्थायी कर दिया है, यहाँ पर बसन्त का एक उदाहरण दिया जाता है।

विकसित विपिन वसन्तिकावली कौ रंग
लखियत गोपिन के अंग पियराने मैं।
बौरे वृन्द लसत रसाल-बर बारिनि के
पिक की पुकार है चबाव उमगाने मैं॥
होत पतझार झार तरुनि समूहनि कौ
बैहर बतास लै उसास अधिकाने मैं।
काम विधि बाम की कला मैं मीन-मेष कहा
ऊधौ नित बसत बसन्त बरसाने मैं॥

बसन्त का दूसरा चित्र विरहिणी गोपियों के निवास-स्थान में उतार दिया है। उनके तन का पीलापन बसन्त के पतझड़ के पूर्व का पीलापन ब्रजबालाओं की पत (लज्जा) का जाना ही पतझड़ है। उनका पागल हो जाना रसालों का बौराना है (बौराना ब्रज में पागल होने को भी कहते हैं) अन्तिम दो पंक्तियों में विशेष चमत्कार है। मीन मेष निकालना एक मुहावरा है जिसका अर्थ है शंका करना; लेकिन बसन्त के सम्बन्ध में में यह उक्ति मीन और मेष की राशियों में सार्थक होती है— 'शिशिरे मकरे कुम्भे बसन्ते मीन मेषयोः' बरसाने में बसन्त के लिए मीन और मेष राशियों के लिए ठहरना नहीं पड़ता; इसलिए वहाँ उसकी स्थिति के लिए मीन-मेष करने की गुञ्जायश नहीं है, इसी प्रकार ब्रज के सम्बन्ध में अन्यत्र भी रत्नाकरजी ने अपने ज्योतिष-ज्ञान का परिचय दिया है, देखिए :—

बगर-बगर वृषभान के नगर नित
भीषन प्रभाव ऋतु ग्रीषम बनी रहै।

सूर्य जब वृष राशि में आते हैं तब सबसे अधिक तपते हैं। वृषभान राधिकाजी के पिता का भी नाम है, बिहारी ने इसी पर तो चुटकी ली थी, 'ये वृषभानुजा वे हलधर के बीर।' वृषभानु-नगर में ग्रीष्म की क्या कमी ? ग्रीष्म ऋतु वृष और मिथुन में होती है, 'वृषभे मिथुने ग्रीष्म वर्षा कर्कट सिंहयो:'। सेनापति ने भी वृष के सूर्य की प्रचण्डता का उल्लेख किया है।

'वृष को तरनि तेज सहसौ किरनि कर
ज्वालन के जाल बिकराल बरसतु है।'

ज्योतिष के सम्बन्ध में रत्नाकरजी का ज्ञान बिहारी के ज्ञान से कम नहीं था। उसमें महावरे का प्रयोग ले आना तो मणि-काञ्चन संयोग की बात हो जाती है।

भाव-सुकुमारता

भाव-सुकुमारता में भी रत्नाकरजी रीतिकालीन कवियों से पीछे नहीं हैं। गोपियाँ ऊधौ से यही कहती हैं कि श्याम से उनकी विरह-दशा का वर्णन न करना, वे उदास हो जायँगे। गोपियाँ उनको कल्पना में भी उदास नहीं देखना चाहती हैं, इसमें हृदय की वेदना पूरी तौर से झलक रही है, देखिए:—

आँस भरि ऐहै औ उदास मुख ह्वै है हाय
ब्रज-दुख-त्रास की न तातैं साँस लीजियौ।
नाम को बताइ औ जताइ गाम ऊधौ बस
श्याम सौं हमारी राम-राम कहि दीजियौ।

अतिशयोक्ति

अतिशयोक्तियों में भी रत्नाकरजी रीति-कालीन कवियों के

समकक्ष हैं, नीचे की उक्ति में अतिशयोक्ति ही नहीं हैं, वरन् श्लेष का भी चमत्कार है, देखिए:—

हरि-तन-पानिप के भाजन दृगञ्चल तैं
उमगि तपन तैं तपाक करि धावै ना।
कहै रत्नाकर त्रिलोक-ओक-मण्डल मैं
बेगि ब्रह्मद्रव उपद्रव मचावै ना॥
हर कौं समेत हरि-गिरि के गुमान गारि
पल मैं पतालपुर पैठन पठावै ना।
फैले बरसाने मैं न रावरी कहानी यह
बानी कहूँ राधे आधे कान सुनि पावै ना॥

यहाँ पहिली पंक्ति में पानिप शब्द में श्लेष का चमत्कार है। गंगाजी पहले ब्रह्म-कमण्डल में विष्णु चरणोदक के रूप में रही थी। यहाँ राधाजी के नैनों को ब्रह्म-कमण्डल बनाया है क्योंकि उसमें श्रीकृष्ण रूपी ब्रह्म के तन का पानिप (अर्थात् तेज रहता है)। पानिप पानी को भी कहते हैं। गंगाजी का वेग तो महादेवजी ने सह लिया था किन्तु राधाजी के आँसुओं की गंगा का वेग शिवजी भी न सहन कर पायँगे और हिमालय भी पाताल को चला जायगा। इस छन्द में गंगावतरण और उद्धव-शतक के लेखक मिल जाते हैं। उद्धवशतक के लेखक की इसमें विजय-दुन्दुभी सुनाई पड़ती है।

(१) *हास्य-व्यङ्ग्य*—इस विषय में रत्नाकरजी में भक्तिकालीन सूर और नन्ददासजी की झलक दिखाई पड़ती है। सूर ने कृष्ण के कालेपन पर बड़े सुन्दर व्यंग्य किये हैं। यह हास्य-व्यंग्य रति के ही आश्रित है। रत्नाकर की गोपियाँ अपनी खीज में कृष्ण की सर्प से तुलना करती हैं, साँप तो आँखों से कान का काम लेता है (सूर ने तानसेन की तान के सम्बन्ध में कहा है कि विधि ने

शेषनागजी के कान नहीं दिये नहीं तो प्रसन्नता में उनके सिर हिलने से पृथ्वी चलायमान हो जाती) किन्तु कृष्ण ने उद्धव को दूत बनाकर कानों से आँख का काम लिया है, देखिए—

एते दूरि देसनि सौं सखनि-सँदेसनि सौं
लखन चहैं जो दसा दुसह हमारी है।
× × × ×
रीति नीति निपट भुजङ्गन की न्यारी है
आँखिन तैं एक तौ सुभाव सुनिबै को लियौ
काननि तैं एक देखिबै की टेक धारी है ॥

शाङ्करीमत के मायावाद पर जो कि संसार को स्वप्न मानता है एक सुन्दर व्यंग्य देखिए :—

जग सपनौ सौ सब परत दिखाई तुम्हें,
ता तैं तुम ऊधौ हमैं सोवत लखात हौ।
कहै रतनाकर सुनै को बात सोवत की,
जोई मुँह आवत सो विवस बयात हौ ॥
सोवत मैं जागत लखत अपने को जिमि,
त्यौंही तुम आपहीं सुज्ञानी समुझातु हौ।

रत्नाकर की गोपियों में सजीवता सूरकी गोपियों से कुछ ही कम कही जा सकती है। उनके व्यंग्य कहीं-कहीं बड़े तीखे हैं। किन्तु रत्नाकर की गोपियों के भी काफी चुटीले हैं।

दौनाचल कौ ना यह छटक्यौ कनूका जाहि
छाइ छिगुनी पै छेम-छत्र छिति छायौ है।
कहै रत्नाकर न कूबर बधूबर कौ
जाहि रंच राँचैं पानि परसि गँवायौ है ॥
यह गुरु प्रेमाचल दृढ़-व्रत-धारिन कौ
जाकै भार भाव उन्हूँ कौ सकुचायौ है।

जानै कहा जानि कै अजान ह्वै सुजान कान्ह
ताहि तुम्हैं बात सौं उड़ावन पठायौ है ॥

कहा जाता है कि गिरराज द्रोणाचल पर्वत से टूटा हुआ टुकड़ा है। जब हनूमानजी द्रोणाचल को लिए जाते थे तब यह गिर पड़ा। कूबरी के कूबर को भी कृष्णजी ने केवल इस बात पर खुश होकर, कि जो चन्दन वह कंस के लिए लिये जाती थी उनको अर्पण कर दिया, सीधा कर दिया था। बात शब्द में श्लेष है। कोरी बातों से वे अपने व्रत से नहीं हट सकती, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार हवा से पहाड़ नहीं टल सकता। बात में प्राणायाम के योग का भी संकेत है क्योंकि उसका सम्बन्ध हवा से है। कुब्जा के कूबर पर गहरी चोट नीचे के छन्द में की गयी है। इसमें कल्पना का चमत्कार है।

सोच है यहै कै संग ताके रंग भौन माहिं
कौन धौं अनोखौ ढंग रचत निराटी हैं।
छाँटि देत कूबर कै आँटि देत डाँट कोऊ
काट देत खाट किधौं पाटि देत माटी हैं ॥

इसमें टकार का प्राधान्य है और वैसे भी कुछ वीभत्सता आ जाती है जो शृङ्गार के विरुद्ध है किन्तु असूयाभाव में यह क्षम्य हो जाती है। इसमें चोट काफी गहरी है। तुक तो नहीं मिली किन्तु बोझों मरने की बात आ गयी है।

रत्नाकरजी का यह ग्रन्थ अपनी परम्परा में एक बहुमूल्य रत्न है। इसमें भक्ति-कालीन भावुकता के साथ रीतिकालीन चमत्कार का सुन्दर समन्वय है। भाषा का सहज माधुर्य श्लेष और पाण्डित्य के कारण कहीं-कहीं दब अवश्य गया है किन्तु जहाँ उन्होंने सहज स्वाभाविकता से काम लिया है वहाँ माधुर्य भी पर्याप्त है। रत्नाकर की व्रजभाषा बोल-चाल की चलती

व्रजभाषा नहीं है वरन् पंडितों की व्रजभाषा है जो अध्ययन से सीखी जाती है। कथा-प्रसङ्ग को भी मनोवैज्ञानिक बनाया गया है और दो-एक बातों में जो सूर और नन्ददास में कमी रह गयी है उसको भी पूर्ति की गई है, जैसे उद्धव द्वारा श्रीकृष्णजी को उपहार भेजना। यह बात श्रीमद्भागवत् में आ गई है और यह बात जरूरी भी थी।

यहाँ तुलना की दृष्टि से हम नन्ददासजी के भ्रमर-गीत का भी संक्षिप्त वर्णन देते हैं।

नन्ददासजी का भँवर-गीत

अष्टछाप के कवियों में लोक-प्रियता और ख्याति की दृष्टि से सूर के पश्चात् नन्ददासजी का ही नाम आता है। उनके लिखे हुए पन्द्रह ग्रन्थों का पता चला है किन्तु उनमें जितनी प्रसिद्धि रासपञ्चाध्यायी और भँवरगीत को मिली है उतनी और किसी को नहीं।

भँवरगीत की परम्परा श्रीमद्भागवत् से चली आई है। यह कथा श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध, के ४६ और ४७ अध्याय में मिलती है। उसी का आधार लेकर सूरदासजी ने अपना भ्रमर-गीत रचा। इसके पश्चात् इस प्रसंग को लेकर और भी बहुत से कवियों ने अपनी लेखनी को पवित्र किया है। उनमें प्रमुख हैं नन्ददास, हित वृन्दावनदास, प्रागन कवि, रीवाँ-नरेश रघुराजसिंह। इस युग में सत्यनारायणजी ने नन्ददासजी की शैली में अपना भ्रमरदूत लिखा है। उसमें भ्रमर को दूत बनाकर कृष्ण के पास भेजा गया है। कविवर रत्नाकरजी का उद्धव-शतक

भी इसी परम्परागत प्रसंग को लेकर लिखा गया है। अयोध्या-सिंह उपाध्याय के प्रिय-प्रवास में उद्धव और राधा का संवाद आया है।

तुलना—श्रीमद्भागवत और नन्ददास के भ्रमरगीत में मुख्यतया तीन बातों का अन्तर है—(१) श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के (पूर्वार्ध) ४६ वें अध्याय में उद्धवजी नन्द यशोदा से मिले हैं। ४७ वें में उनका गोपियों से मिलना दिखाया गया है। नन्ददास के भँवर-गीत में नन्द-यशोदा का उल्लेख नहीं, केवल उद्धव-गोपी संवाद है। (२) श्रीमद्भागवत की गोपियाँ उद्धव के समझाने से सन्तुष्ट हो जाती हैं किन्तु नन्ददास की गोपियाँ अपने तर्क से उद्धव को परास्त कर देती हैं। (३) नन्ददासजी की कुछ नई उद्भावनाएँ भी हैं जैसे गोपियों को तन्मयता में श्रीकृष्ण का दिखाई देना, जो श्रीमद्भागवत में नहीं है। इसी प्रकार सूरदासजी के भ्रमरगीत से भी इसमें तीन बातों का अन्तर है। (१) सूर ने भी श्रीमद्भागवत की भाँति नन्द-यशोदा का उल्लेख किया है, नन्ददासजी ने नहीं। सूर ने तीन भ्रमरगीत लिखे हैं नन्ददासजी ने केवल एक ही। (२) सूर की गोपियों में हृदय-पक्ष प्रधान है। उनके संवाद में वैयक्तिक प्रेम की दृढ़ता और निश्चयता का अधिक सहारा लिया गया है। निर्गुण उनकी समझ से बाहर है। "कौन काज या निर्गुण सों चिरजीवहु कान्ह हमारे"। श्रीकृष्ण के निजी सम्बन्ध को वे भूल नहीं सकतीं। नन्ददास की गोपियाँ भी सूर की गोपियों की भाँति उपालम्भ देने और व्यंग्य वचनों में तो बड़ी कुशल हैं ही। किन्तु वे दार्शनिक धरातल तक ऊँचा उठ कर उद्धव के तर्कों का उत्तर तर्क से ही देती हैं। यह बात सूर की गोपियों में नहीं है। नन्ददासजी की गोपियों की दार्शनिक उक्ति देखिए—

जो उनके गुन नाहिं, और गुन भये कहाँ तैं ?
बीज बिना तरु जमें, मोहि तुम कहौ कहाँ तैं ?
वा गुन की परछाँह री, माया-दर्पन बीच ।
गुन तैं गुन न्यारे भये, अमल बारि मिल कीच ।।
सखा सुनि स्याम के ।।

(३) सूरदासजी भ्रमर को उद्धव के आगमन के पहले ही से मौजूद रखते हैं। नन्ददासजी के भँवरगीत में भौंरा वार्तालाप के बीच में आता है। श्रीमद्भागवत में भी ऐसा ही है।

उद्धव-शतक में कथा का आरम्भ कृष्ण के एक कमल देखने से राधा की स्मृति जाग्रत होने से होता है। नन्द-यशोदा तथा गोपियों द्वारा भेजी हुई उपहार की वस्तुओं का भी उल्लेख है। यह बात श्रीमद्भागवत में है किन्तु नन्ददास में नहीं। हरिऔध के प्रिय-प्रयास की राधा स्वयं दार्शनिक है। वे उल्टी ऊधौ को समझाती है।

कुछ विशेषताएँ—

१—इसका कथा-प्रसंग बड़ा मनोवैज्ञानिक है।

(क) उद्धवजी अपनी बात को शुरू करने से पहले गोपियों की प्रशंसा करते हैं ताकि उनकी बात अधिक ग्राह्य हो—

ऊधौ कौ उपदेश, सुनो व्रजनारी ।
रूप सील लावन्य, सबै गुन आगरी ।।

(ख) नन्ददासजी की गोपियों की तन्मयता इतनी बढ़ जाती है कि उनकी स्मृति से कृष्ण उनके सम्मुख दिखाई देने लगते हैं और वे उनके सामने आर्त होकर विनय करने लगती हैं—

ऐसे में नँदलाल रूप, नैनन के आगे ।
आय गये छबि छाय, बनै पियरे उर वागे ।।

२—इसमें बड़े-बड़े सुन्दर उपालम्भ आये हैं और भगवान के सभी अवतारों की खबर ली गई है—

गोकुल में जोरी कोउ, पाई नाहिं मुरारि।
मदन त्रिभंगी आपु है, करी त्रिभंगी नारि॥

× × ×

जग्य करावन जात है, विश्वामित्र समीप।
मग में मारी ताड़का, रघुबंशी कुल दीप॥

× × × ×

सीताजू के कहे तें, सूपनखा पै कोपि।
छेदि अंग बिरूप कै, लोगन लज्जा लोपि॥

× × × ×

माँगत बामन रूप धरि, मापत करि कुदाँव।
सत्य धर्म सत छाँड़ि कै, धरयौ पीठ पै पाँव॥

३—इसमें हृदय-पक्ष और बुद्धि-पक्ष दोनों को ही बराबर स्थान मिला है। जहाँ दार्शनिक युक्तियों का प्रयोग है, वहाँ उसी के साथ विरह की वेदना और रूप-माधुर्य की पिपासा भी है—

जौ हरि के नहिं कर्म कर्मबंधन क्यों आवै।
तौ निर्गुण है वस्तुमात्र परमान बतावै॥
जौ उनकी परमान है, तौ प्रभुता कछु नाहिं।
निर्गुण भये अतीत के, सगुन सकल जग माहिं॥

प्रेम की विह्वलता के हमें अनेक उदाहरण मिलते हैं, किन्तु जहाँ पर गोपियों की तन्मयता के कारण उनके मानस-पटल के कृष्ण उनके नेत्रों के सामने दिखाई पड़ने लगते हैं, तब वह विह्वलता पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है—

अहो नाथ, अहो रमानाथ, जदुनाथ गुसाईं ।
नंद-नंदन बिडराति फिरति, तुम बिन सब गाईं ॥
काहे न फेरि कृपाल ह्वै, गो-ग्वालन सुधि लेहु ।
दुख-जलनिधि हम बूड़हीं, कर अवलंबन देहु ॥
निठुर ह्वै कहँ रहे ॥

४—इसमें रस का विशेषकर वियोग श्रृङ्गार का पूर्ण परिपाक हुआ है और इसमें अलङ्कारों की भी सुन्दर छटाएँ यत्र-तत्र दिखाई पड़ती हैं। इसकी दृष्टि से नीचे का छन्द विशेष रूप से उल्लेखनीय है। श्रृङ्गार के अतिरिक्त शान्त रस का भी अच्छा परिपाक हुआ है।

सुनत श्याम कौ नाम, ग्राम-गृह की सुधि भूली ।
भरि आनँद-रस हृदय, प्रेम-बेली द्रुम फूली ॥
पुलकि रोम सब अँग भये, भरि आए जल नैन ।
कंठ घुटे गद-गद गिरा, बोले जात न बैन ॥
विवस्था प्रेम की ।

इसमें श्याम आलम्बन है और श्याम का उनके सखा द्वारा नाम-श्रवण उद्दीपन है। हर्ष (भरि आनंद रस हृदय प्रेम वेली द्रुम फूली) सञ्चारी हैं; रोमाँच (पुलकि रोम), अश्रु (भरि आए जल नैन), और स्वर-भंग (कंठ घुटे गद गद गिरा) सात्विक भाव हैं जो एक प्रकार के अनुभाव ही है।

भँवर-गीत में श्रृङ्गार से सम्बन्धित आवेग, दीनता आदि और भी सञ्चारियों के उदाहरण मिलते हैं 'दुख जल निधि हम बूड़ही कर अबलम्बन देहू' में दीनता का अच्छा उदाहरण मिलता है। शान्त रस के अन्तर्गत ऊधो की भक्ति-परक अभिलाषा का सञ्चारीभाव देखिए।

कैसे होहु द्रुम लता, बेलि बल्ली बन माहीं ।
आवत-जात सुभाय, परै मोपै परछाँहीं ॥

सोऊ मेरे बस नहीं, जो कछु करौं उपाय।
मोहन होहिं प्रसन्न जो, यह वर माँगौ जाय॥
कृपा करि देहिं जो।

भँवर-गीत में अलङ्कारों की भरमार तो नहीं है किन्तु उनका नितान्त अभाव भी नहीं है। भँवर-गीत का सौन्दर्य उसकी भाव-व्यञ्जना में है। अलङ्कारों में अनुप्रास तो जहाँ-तहाँ स्वाभाविक रूप से आ ही गया है—'सखा सुन श्याम के' 'छवि छाय' 'प्रेम पीयूषहि प्रगट', 'प्रेम प्रवाह' 'कर्म के कूप' आदि इसके उदाहरण हैं। उपमा, रूपक दृष्टान्त आदि समता मूलक अलङ्कार इधर-उधर अपनी बाँकी झाँकी दे जाते हैं। इनके अलङ्कारों में प्रयास की गन्ध नहीं है 'ज्यों करतल आमलक के', 'तरङ्गनि बारि ज्यों' परम्परागत उपमाएँ बड़े मौके से बैठाई गई हैं, 'कर्म के कूप', 'जोग भुवंग' 'मल ग्यान को' 'प्रेम बेली द्रुम फूली', आदि सुन्दर रूपकों के उदाहरण हैं। इनके कारण भाषा में भी लाक्षणिकता आ गई है।

५—इसकी भाषा बड़ी सरल और प्रवाहमय है। शब्द-चयन भी बहुत सुन्दर है जिसके कारण उनको हिन्दी-साहित्य में 'जड़िया' का स्थान मिला है। उसके शब्दों में माधुर्य गुण का प्राधान्य है। कुछ शब्दों में माधुर्य गुण के साथ ध्वन्यात्मकता भी है—'श्याम पीत गुंजार बैन किंकिनि झनकारयौ' भाषा में मुहावरों के भी बड़े सुन्दर प्रयोग हैं। उनके कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं :—

'वर आयो नाग न पूजहीं बाँबी पूजन जाहिं।'
'कहा हिये लौन लगावौ।'
'छुदित ग्रास मुख काढ़ि।'
'जे तुमको अवलम्बहीं तिनको मेलो कूप।'

'जब हीं लौं नहिं लखौ तबहिं लौं बाँधी मूठी।'
'गांठि काटत' 'मेंड़ दीन्हीं' 'ज्यों करतल अमलक।'
'गांठि को खोय कै।'

नन्ददास की भाषा ब्रजभाषा है जो शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी है। 'सूर ने स्वाभाविक चलती भाषा की ही अधिक आश्रय लिया है, अनुप्रास और चुने हुए संस्कृत पद विन्यास की ओर प्रवृत्ति नहीं दिखाई है, पर नन्ददास में ये बातें पूर्ण रूप से पाई जाती हैं' (आचार्य शुक्ल) नन्ददासजी की भाषा में कहीं-कहीं पूर्वी प्रभाव भी आ गया है, जैसे है के स्थान में अवधी का आहि और रावरे (आपके अर्थ में) भोजपुरी का सर्वनाम। नन्ददास की भाषा में विदेशी शब्दों का बहुत कम प्रयोग है। कुछ शब्दों का (जैसे दुराय दूसरे के अर्थ में—'तिनके भूत भविष्य कौं जानत कौन दुराय,' बेकारी व्यर्थ के अर्थ में—'गाँठ काटत बेकारी') प्रचलित अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयोग हुआ है।

६—इनके छन्दों की रचना बड़ी सङ्गीतमयी है जो भँवर-गीत नाम को सार्थक करती है। इसके छन्द के सम्बन्ध में डाक्टर रामकुमार वर्मा इस प्रकार लिखते हैं:—

"भँवर गीत का छन्द रोला और दोहा के मिश्रण से बनाया हुआ एक नवीन छन्द है। इस छन्द के अन्त में दश मात्रा की एक छोटी-सी पंक्ति है जिससे भाव-पूर्ति के साथ छन्द की सङ्गीत पूर्ति भी होती है।"

इस प्रकार से हम देखते हैं कि भाव, शब्द-योजना, अलङ्कार भाषा और छन्द सभी दृष्टियों से भँवर-गीत एक उत्कृष्ट खण्ड-काव्य है।

परिशिष्ट—१

हिन्दी काव्य की वर्तमान स्थिति

यद्यपि वर्तमान युग में साहित्य की कई धाराएँ और उप-धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं तथापि अन्तर्मुखी और वहिर्मुखी प्रवृति प्रधान मानव स्वभाव के दो प्रमुख विभाजनों के अनुकूल दो मूल धाराएँ चल रही हैं—एक है छायावाद-रहस्यवाद की दूसरी प्रगतिवाद की। छाया-वाद-रहस्यवाद में अन्तर्मुखी वृत्ति की कोमलता है और प्रगतिवाद में वहिर्मुखी वृत्ति की कठोरता। दुःखवाद राष्ट्रवाद, प्रेमवाद मानवतावाद दोनों धाराओं में है किन्तु दृष्टिकोण में अन्तर है। छायावाद का दुख वैभक्तिक अधिक है और उनका वही आराध्य बन गया है। यह अन्तर्मुखी वृत्ति का फल है किन्तु अब छायावाद में भी पहले का सा पलायन-वाद नहीं है। छायावाद भी बन्धन में मुक्ति और प्रवृत्ति में निवृत्ति चाहता है, दोनों ही राष्ट्रवादी है किन्तु छायावाद का राष्ट्रवाद गांधीवाद के अहिंसावाद और वर्गसाम्य की भावना से प्रभावित है। प्रगतिवाद में वर्ग संघर्ष का प्राधान्य है। छाया-वाद प्राचीन संस्कृति की ओर जाता है (जैसे पंत की नवीनतम रचनाओं में) प्रगतिवाद रूस से प्रेरणा अधिक ग्रहण करता है। छायावाद में अतीत का गुणगान अधिक है और प्रगतिवाद में दोष-दर्शन की भावना प्रमुख है। छायावाद के प्रेमवाद में विरह-निवेदन, सौन्दर्योपासना, और आत्म-समर्पण

(परिशिष्ट—२ पलट कर देखिए)

परिशिष्ट २—रामचन्द्रिका और कवि-प्रिया में समानरूप से मिलने वाले कुछ छन्द

छन्द	कवि प्रिया	विषय	रामचन्द्रिका	प्रसङ्ग
१—विलोकि सरोरुह सेत समेत	पंचम प्रभाव १३	जरा वर्णन	चौबीसवाँ प्रकाश १२	राम विरक्ति
२—को है दमयन्ती इन्दुमती रति राति दिन	छठा प्रभाव ४२	सरूप वर्णन	छठा प्रकाश ५६	सीताजी का रूप वर्णन
३—पूरण पुराण अरु पुरुष पुराण परिपूरण बतावें	छठा प्रभाव ७२	राम को दान वर्णन	प्रथम प्रकाश ३	राम वन्दना
४—हाथी न साथी न घोरे न चेरे	छठा प्रभाव ५६	सत्य झूठ वर्णन	सोलहवाँ प्रकाश २६	अङ्गद रावण संवाद
५—केशोदास मृगज बछेरू चौषै वाघनीन	सातवाँ प्रभाव १३	आश्रम वर्णन	बीसवाँ प्रकाश ४०	भरद्वाज आश्रम की शान्ति
६—केशोदास है उदास, कमलाकर सो कर	सातवाँ प्रभाव २२	चन्द्रोदय वर्णव	तीसवाँ प्रकाश ४६	चन्द्र वर्णन
७—भूति विभूति पियूषहु को विष ईश शरीर	सातवाँ प्रभाव २६	सागर वर्णन	चौदहवाँ प्रकाश ४१	समुद्र वर्णन
८—भौहें सुर चाप चारु प्रमु· [illegible]	सातवाँ प्रभाव [illegible]	वर्षा वर्णन	तेरहवाँ प्रकाश	सीता [illegible] में
[illegible]दिव का चतुरंग चमू [illegible]	आठवाँ प्रभाव	उद्यान वर्णन	पतीसवाँ प्रकाश	[illegible]

[illegible]	[illegible]वाँ प्रभाव	वर्षा वर्णन	तेरहवाँ प्रकाश	सीता [illegible] में
...विव को चतुरंग चमू नादि पूरि, धूरि पूरि	आठवाँ प्रभाव १७ और २३	उद्यान वर्णन	पतीसवाँ प्रकाश ८ और १०	अश्वमेध यज्ञ
११—शोणित सलिल नर बानर सलिल चर	आठवा प्रभाव ३१	संग्राम वर्णन	उन्तालीसवाँ प्रकाश ६	लवकुश और भरत युद्ध
१२—एक दमयन्ती ऐसी हरैं हँसि हंस वंस	आठवा प्रभाव ३७	जलकेलि वर्णन	बत्तीसवाँ प्रकाश ३७	रामजी की जल-क्रीड़ा
१३—बैरी गाय ब्राह्मण को ग्रन्थन में सुनियत	ग्यारहवाँ प्रभाव ४३	नियम श्लेष	सत्ताईसवाँ प्रकाश ३	इन्द्रकृत राम स्तुति
१४—राम की बाम जो आनी चोराय	ग्यारहवाँ प्रभाव ५८	भयानक रसवत अलङ्कार	पन्द्रहवाँ प्रकाश ६	मन्दोदरी रावण संवाद
१५—बाल बली न बच्यो	ग्यारहवाँ प्रभाव ५६	भयानक रसवत अलङ्कार	पन्द्रहवाँ प्रकाश ७	मन्दोदरी रावण संवाद
१६—सिगरे नरनायक असुर-विनायक	ग्यारहवाँ प्रभाव ६०	वीभत्स रसवत अलङ्कार	पाँचवाँ प्रकाश ३८	सीता स्वयंवर

इसके अतिरिक्त और भी कई उदाहरण हैं किन्तु ये इस बात के प्रामाणित करने के लिए पर्याप्त हैं कि रामचन्द्रिका में कवि प्रिया में उल्लिखित वर्ण्य विषयों को लाकर कवि-कर्तव्य-पालन करना कवि का एकमात्र ध्येय तो नहीं किन्तु एक प्रमुख उद्देश्य अवश्य था जिसने रामचन्द्रिका की प्रबन्धात्मकता पर छाया डालदी थी।

की भावनाओं का प्रधान्य है, प्रगतिवाद में रूढ़ियों के प्रति-विद्रोह और प्रेम के स्वातन्त्र्य का स्वर कुछ अधिक मुखरित हो उठा है। मानवता की भावना से दोनों ही प्रेरित हैं किन्तु एक में करुणा प्रेरित कोमल चिन्ता है तो दूसरे में शोषकों के प्रति विद्रोह है। छायावाद में कला अधिक है और प्रगतिवाद में सबल कुठाराघात की कर्कशता है किन्तु अब प्रगतिवाद भी किसी अंश में छायावाद की कला को अपना रहा है। युग की प्रवृत्ति के अनुकूल दोनों ने गीत-काव्य को अपनाया है। एक के स्वर अपेक्षाकृत कोमल और दूसरे के कुछ कठोर है। ईमानदार दोनों ही हैं—दोनों ही मानव-कल्याण चाहते हैं किन्तु मार्ग भिन्न-भिन्न हैं—'रुचीनां वैचित्र्यादृजु कुटिल नाना पथ जुषाम्'।

इस युग में इतिहास और पुराणों से सम्बन्धित कुछ महाकाव्य भी लिखे गये हैं जैसे साकेत कामायनी, वैदेही-वनवास, कृष्णायन (द्वारिका प्रसाद मिश्र) तथा विक्रमादित्य (गुरु भक्तसिंह) किन्तु उनमें नवीन विचार-धाराओं का समावेश हुआ है। साकेत कामायनी, वैदेही-वनवास और साकेत संत में गांधीवादी अहिंसावाद की प्रधानता है। विक्रमादित्य में युद्धनीति का समर्थन है। कृष्णायन में दोनों का समन्वय सा है। इन महाकाव्यों में प्राचीन और नवीन का अपूर्व समन्वय है। ये इस बात को प्रमाणित करते हैं कि साहित्य चिर नवीन भी है और चिर पुरातन भी।

